

इकाई-1

डॉ० राधाकमल मुकर्जी (Radhakamal Mukerjee)

इकाई की रूपरेखा

- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 प्रस्तावना
- 1.3 राधाकमल मुकर्जी का जीवन परिचय
- 1.4 राधाकमल मुकर्जी की प्रमुख कृतियां
- 1.5 मूल्य
- 1.6 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा
- 1.7 मूल्यों का उद्भव एवं विकास
- 1.8 दुर्खीम का मूल्यों का समाजशास्त्र
- 1.9 सामाजिक मूल्यों के प्रकार
- 1.10 सामाजिक जीवन में मूल्यों का गठन
- 1.11 बाह्यता एवं बाध्यता
- 1.12 चार्ल्स बगल एवं सामाजिक मूल्य
- 1.13 मूल्य का अर्थ एवं उत्पत्ति
- 1.14 मूल्य एवं प्रतीक
- 1.15 व्यक्ति समाज एवं मूल्य
- 1.16 मूल्यों का सोपान व संस्तरण
- 1.17 मूल्यों के नियम
- 1.18 मूल्यों के महत्व
- 1.19 गैर मूल्य क्या हैं?
- 1.20 गैर मूल्य के कारण
- 1.21 मूल्य व गैर मूल्य में अंतर
- 1.22 सारांश
- 1.23 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान
- 1.24 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान की अवधारणा
- 1.25 सामाजिक परिस्थिति की विशेषताएँ
- 1.26 सामाजिक परिस्थिति का महत्व
- 1.27 राधाकमल मुकर्जी के सामाजिक परिस्थितिकी संबंधी विचार
- 1.28 सामाजिक परिस्थितिकी के प्रकार्य
- 1.29 परिस्थितिगत अवधारणाएँ एवं आदिकालीन समाज
- 1.30 परिस्थितिगत अवस्थाओं से अनुकूलन के प्रमुख तीन स्तर
- 1.31 प्रादेशिक समाजशास्त्र
- 1.32 प्रादेशिकता का अर्थ
- 1.33 प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन विषय

- 1.34 प्रादेशिक समाजशास्त्र के आधारभूत तत्व
- 1.35 प्रादेशिकता की वास्तविकता
- 1.36 सारांश
- 1.37 शब्दावली
- 1.38 अभ्यास प्रश्न
- 1.39 संदर्भ सूची
- 1.40 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामाग्री
- 1.41 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 उद्देश्य—

- 1— राधाकमल मुखर्जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से विद्यार्थियों को परिचित कराना।
- 2— उनकी प्रमुख कृतियों का अध्ययन कर विद्यार्थियों को समाज को नवीन दिशा प्रदान करने के लिए प्रेरित करना।
- 3— उनके मूल्यों के सिद्धान्त के आधार पर विद्यार्थियों को अवगत कराने का प्रयास किया जायेगा कि समाज के लिए मूल्यों का क्या महत्व है।
- 4— मूल्यों के समाजशास्त्र में राधाकमल मुखर्जी का अंशदान किस प्रकार पूर्वी तथा पश्चिमी विचारों का समन्वय है। अवगत कराना।
- 5— मूल्यों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में मुखर्जी का क्या सहयोग रहा, से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

1.2 प्रस्तावना

राधाकमल मुखर्जी अपने मूल्य सिद्धान्त के कारण भारत में ही नहीं, अपितु संसार के समाजशास्त्रियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए हैं। यही कारण था कि बोगार्ड्स ने राधाकमल मुखर्जी को पूर्वी देशों का समाजशास्त्री व सामाजिक दार्शनिक कहकर संबोधित किया है। उनके अविस्मरणीय योगदान के लिए उन्हें भारतीय समाजशास्त्र का संस्थापक (founder of Indian sociology) माना जाता है। यूरोप में शिक्षा प्राप्त करने के कारण उनको पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित करने की योग्यता प्राप्त हो गयी थी। समाज के एक सामान्य सिद्धान्त (A General theory of Sociology) के अन्तर्गत उन्होंने सामाजिक विचारधारा के एक समन्वय का परिणाम है। यहाँ सर्वप्रथम राधाकमल मुखर्जी के जीवन परिचय का अध्ययन किया जायेगा।

1.3 राधाकमल मुखर्जी का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Radhakamal Mukerjee)

राधाकमल मुखर्जी का जन्म 7 दिसम्बर 1889 में पश्चिमी बंगाल के बरहमपुर जिले में हुआ था। उनके पिता गोकुल चंद्र मुखर्जी एक प्रख्यात अधिवक्ता (advocate) थे। मुखर्जी का पारिवारिक

परिवेश एक आर्थिक रूप से सम्पन्न तथा पुस्तकों से भरा हुआ था, जहाँ पूरब एवं पश्चिम के साहित्य पर सभी की रुचि थी। सुविधाजनक इस बौद्धिक वातावरण व पालन-पोषण की प्रक्रिया के कारण भारतीय दर्शन के ज्ञानी थे। इस विद्वान को भारतीय दर्शन के संबंध में अपने ज्ञान को बढ़ाने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। इसके साथ ही इतिहास में भी उनका विशेष लगाप होने के कारण उन्होंने इसका भी गहन अध्ययन किया। मुकर्जी का स्वभाव अत्यंत चिन्तनशील था। इतिहास दर्शन में रुचि होने के पश्चात् भी कोलकता की गन्दी बस्तियों का अद्यःपतन दुख-दरिद्रता से परिचय होने के पश्चात् उनकी रुचि अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र की ओर परिवर्तित हो गयी। उन्होंने लिखा है—“कलकत्ता की गन्दी बस्तियों में दुख-दारिद्र्य, गन्दगी और अद्यःपतन के साथ मेरा जो आमने-सामने का परिचय हुआ, उसने मेरी भविष्य रुचि को अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की ओर अग्रसर किया।” इन गन्दी बस्तियों के दूषित व अमानवीय वातावरण के बारे में उन्होंने अपनी पुस्तक ‘the Indian working class’ में लिखा है—“इन असंख्य गन्दी बस्तियों में मनुष्यता का निःसन्देह ही निर्दयता के साथ गला घोंटा जाता है। नारीत्व का अपमान होता है, और शिशुता को आरम्भ से ही जहर पिलाया जाता है।” इसी दूषित माहौल से क्षुब्ध होकर उन्होंने स्वयं को समाज कल्याण कार्यों में लगाया और सन् 1906 ई में प्रौढ शिक्षा केन्द्रों की स्थापना एवं संचालन के अतिरिक्त अनेक सामाजिक कल्याण से संबंधित कार्यों में सक्रिय भागीदारी का निर्वहन किया इस कार्य को करते हुए उन्हें काफी नये-नये अनुभव प्राप्त हुए।

कॉलेज स्तर पर कोलकाता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करते हुए उन्होंने काम्टे, लेस्टरवार्ड, बैगहॉट, गिडिंग्स, हॉबहाउस आदि की कृतियों का गहन अध्ययन किया, तो इतिहास के क्षेत्र में बर्कले, टेन, लीकी ऐक्टन तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रिकार्डो, मिल, मार्शल, वॉकर, कारवर आदि की कृतियों से मुकर्जी अत्यधिक प्रभावित हुए। मुकर्जी के जीवन में प्रो० विनय कुमार सरकार के आदर्शवादी व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है।

सन् 1910 से 1915 तक अपने गृहनगर बरहमपुर के कृष्णनाथ कॉलेज में पांच वर्ष तक अर्थशास्त्र के अध्यापक बनकर अनेक अर्थशास्त्र विषयक मामलों में उन्होंने प्रयोग सिद्ध कार्य कर अनेक सामग्री संग्रह की और 1916 में अपनी प्रथम कृति ‘The foundation of Indian economis’ को प्रकाशित किया। इससे पूर्व 1915 में भी बंगाल सहकारिता आन्दोलन पर उनके सामाजिक सर्वेक्षण व शोध कार्य के लिए उनको प्रसिद्ध ‘प्रेमचन्द-रायचन्द छात्रवृत्ति’ प्रदान की गयी थी।

सन् 1916 में मुकर्जी की नियुक्ति लाहौर (पंजाब) के सनातन धर्म कॉलेज में हुई, जहाँ उनका कार्यकाल मात्र एक वर्ष का ही रहा। 1917 में पंजाब विश्वविद्यालय में ‘भारतीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्त’ विषय पर दस महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये। 1917 से 1921 अर्थात् अर्थात् पांच वर्षों तक कलकत्ता में अध्यापन कार्य के दौरान अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र विषयों को पढ़ाने का कार्य किया, और 1920 में यहीं से ‘भारतीय ग्रामीण समुदाय में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन’ विषयक शोध निबन्ध पर ‘डॉक्टर’ की उपाधि प्राप्त की।

सन् 1945-1947 की अवधि में ग्वालियर सरकार के आर्थिक सलाहाकार के रूप में कार्य किया। इसके अतिरिक्त मुकर्जी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न सरकारी व शैक्षिक संगठनों के चेयरमैन, सदस्य आदि रहे और अपनी योग्यता व बौद्धिक प्रखरता के कारण सारे विश्व में प्रसिद्ध

हुए। सन् 1955-1958 तक लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर रहते हुए अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया और इसके पश्चात् इसी विश्वविद्यालय में 'जे0 के0 इंस्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी एंड ह्यूमन रिलेशन' बने और इसी पद पर अगस्त 1968 में उनकी मृत्यु हो गयी।

देश-विदेश की प्रायः सभी प्रख्यात पत्रिकाओं में असंख्य लेखों व शोध रचनाओं के अतिरिक्त मुकर्जी ने अपने जीवन काल में 53 आधारभूत पुस्तकों की रचना कर शिक्षा जगत को आने वाली पीढ़ी के चिन्तन हेतु अतुलनीय योगदान दिया। अर्थशास्त्र, परिस्थितिशास्त्र, प्रादेशिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति, सभ्यता, मानव-उद्विकास, कला, धर्म, आचार, रहस्यवाद, प्रतीकात्मक समाशास्त्र, मूल्य, मानवता कोई भी क्षेत्र मुकर्जी की बौद्धिक पकड़ से अछूता न था, अर्थात् उनकी प्रत्येक क्षेत्र में बौद्धिक पकड़ जबरदस्त थी। अन्तिम वर्षों में आध्यात्म की ओर झुकाव ने उन्हें 'भगवत् गीता की अपनी एक व्याख्या प्रस्तुत करने (the song of the self superme-1971) का सफल प्रयास किया, जिसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात् हुआ।

1.4 राधाकमल मुकर्जी की प्रमुख कृतियाँ

विद्यार्थियों की जानकारी के लिए राधाकमल मुकर्जी की कुछ प्रमुख कृतियों का वर्णन निम्नवत् किया गया है-

द फाउण्डर ऑफ इण्डियन इकॉनॉमिक्स (The founder of Indian Economics-1916), द प्रिंसिपल ऑफ कम्पैरेटिव इकॉनॉमिक्स (The Principles of comparative Economics-1922), डैमोक्रेसीज ऑफ द ईस्ट (Democracies of the east-1923), बॉर्डरलैंड ऑफ इकॉनॉमिक्स (Borderland of Economics-1952), रिजनल सोसायोलॉजी (Regional Sociology (1926), माइन्ड इन सोसाइटी: इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलॉजी (mind in society Introduction to social Psychology-1928), मैन एण्ड हिज हैबीटेशन (man and his habitation-1940, द सोशियल फंक्शन ऑफ आर्ट (The social function of art-1948) द सोशियल स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज (the social structure of Values (1949), द इंडियन स्कीम ऑफ लाइफ (The Indian scheme of life 1949), द डायनामिक्स ऑफ मोराल (The Dynamics of moral 1951), द हिस्ट्री ऑफ सिविलाईजेसन (the history of civilization 1956), द होरिजन ऑफ मैरिज (The horizon of Marriage 1956), द डाइमेंसन्स ऑफ वैल्यूज (the Dimensions of values 1964), द फिलॉसफी ऑफ मैन (the philosophy of man 1966)] द सॉग ऑफ सैल्फ सुप्रीम (The song of self supreme 1971)

1.5 मूल्य (value)

यह सर्वविदित है कि सामाजिक मूल्यों के अध्ययन में राधाकमल मुकर्जी का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। प्रत्येक समाज के कुछ निश्चित मानदण्ड होते हैं। जो समाज की अच्छाई व बुराई का मूल्यांकन करते हैं, और जिनका आधार 'क्या करना चाहिए अथवा क्या नहीं करना चाहिए? पर केन्द्रित होता है। जब हम विभिन्न विषयों और परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हैं तो अपने पास कुछ निश्चित आधार रखते हैं, जिन्हें मूल्य के नाम से जाना जाता है। ये मूल्य व्यक्ति व समाज दोनों में अपनी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्रत्येक समाज की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण

एक समाज के मूल्य दूसरे समाज से भिन्न होते हैं। सर्वप्रथम मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा की चर्चा की जाएगी।

1.6 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of values)

मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ एवं लक्ष्य हैं। जिनका आन्तरिकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है। और जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान, मान तथा अभिलाषाएँ बन जाते हैं। इनकी उत्पत्ति एवं विकास मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पारस्परिक अन्तःक्रिया के द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में होता है जो ऐसे मान, लक्ष्य या आदर्श बन जाते हैं, जिनके द्वारा विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयों पर मूल्यांकन किया जाता है।

सामाजिक विज्ञानों में मूल्यों की क्रियाशील अवश्यकरणीय या कर्तव्य के रूप में परिभाषित किया जाता है। जो कि मूल्यों की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट नहीं करते। इनकी उत्पत्ति एक सामाजिक संरचना विशेष के सदस्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया के फलस्वरूप धीरे-धीरे होती है, जो मनुष्य को उसके जीवन से, पर्यावरण से, स्वयं से, समाज से, संस्कृति से, मानव अस्तित्व तथा अनुभव से प्राप्त होते हैं। अतः मूल्य आदर्श नियमों से घनिष्ठ रूप से संबंधित होते हैं। जिनका एक संगठन व संकलन होता है और जो व्यवस्था और शांति बनाये रखने के लिए सार्वभौमिक मानवीय इच्छा की अभिव्यक्ति है।

बर्गेस और लॉक के अनुसार मूल्य समाज और व्यक्ति दो के पास होते हैं। जिनमें समाज के मूल्य प्राथमिक प्राथमिक है, क्योंकि व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के संसार में जन्म लेता है। इन्हीं के आधार पर अपनी मनोवृत्ति का विकास करता है। मूल्य सामाजिक जीवन शैली का निर्माण करने के लिए कुछ निश्चित मूल्यों की स्थापना करता है। जिनकी सहायता से पारस्परिक अन्तःसंबंधों को परिभाषित किया जाता है।

परिभाषा (Definition)

विभिन्न विद्वानों द्वारा मूल्यों को निम्नवत् परिभाषित किया गया है—

इलियट एवं मेरिल (Elliott and Merrill)—“सामाजिक मूल्य वे वस्तुएँ हैं, जो हमारे लिए अर्थपूर्ण होती हैं और जिन्हें हम अपनी जीवनचर्या में महत्वपूर्ण मानते हैं।”

जॉनसन (Johnson H.M.)—“मूल्य की एक संकल्पना मानव के रूप में परिभाषित किया जाना है, जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या मात्र व्यक्तिगत और जिसके द्वारा चीजों की एक दूसरे के साथ तुलना की जाती है—स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्राप्त होती है। एक-दूसरे की तुलना में उचित अनुचित, अच्छा-बुरा, सही-गलत माना जाता है।

राधाकमल मुकर्जी (R.K. Mukherji)— “मूल्य समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त वे इच्छाएँ या लक्ष्य हैं। जिनका आन्तरिकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है जो की प्रतीतिक, अधिमान्यताएँ, मानक तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं।”

वारेन एच0सी0 (warren H.C)–“मूल्य वह महत्व है जो हम किसी एक वस्तु को, उसी वर्ग की अन्य वस्तुओं की तुलना में देते हैं।

थामस और जैनीकी (Thomas And Znaniecki)–“मूल्य वे वस्तुएँ हैं जो सामाजिक समूह के सदस्यों के लिए कुछ अर्थ और तथ्य रखते हैं।”

ब्रेनावस्की (Jacob Bronwaski)–“मूल्य वह अवधारणा है जो समाज में व्यवहार के प्रकारों को एक साथ जोड़ती है।”

डोरोथी ली(Dorothy lee)– “मानवीय मूल्यों या मूल्यों अथवा मूल्य व्यवस्था से हमारा तात्पर्य उस आधार को समझना है। जिसके अनुसार एक व्यक्ति एक मार्ग को अन्य मार्ग की अपेक्षा चुनेगा और अच्छे तथा बुरे का निर्णय करेगा।”

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। सामाजिक समूह के सदस्यों के लिए अर्थपूर्ण व महत्वपूर्ण होते हैं तथा शान्ति व्यवस्था व संगठन के लिए आवश्यक माने जाते हैं।

अतः सामाजिक मूल्यों को सामाजिक पैमाने के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जिसके माध्यम से विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों और घटनाओं का मूल्यांकन किया जाता है।

मूल्यों की विशेषताएँ (characteristics of values)- उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर मूल्यों की विशेषताओं की चर्चा निम्नवत् करेंगे-

1. समाज और मूल्यों का घनिष्ठ संबंध है अर्थात् मूल्य और समाज अन्तः संबंधित हैं जिन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मूल्य एक सामाजिक घटना (social phenomena) है।
2. मूल्य अमूर्त होते हैं। इनका न तो कोई भौतिक आकार होता है न ही इनका प्रयोग किया जाता है।
3. मूल्यों का संबंध मानव मस्तिष्क से होता है, क्योंकि समाज में मूल्यों का निर्माता व्यक्ति ही होता है।
4. मूल्य सामाजिक विरासत (social heritage) के अंग होते हैं, जिन्हें परम्परागत रूप से स्वीकार किया जाता है।
5. मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरण होने की एक प्रक्रिया है।
6. व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया में मूल्यों का महत्वपूर्ण योगदान होता है, क्योंकि व्यक्ति के सामाजिकरण में इनकी प्रभावशाली भूमिका होती है।
7. मूल्य संस्कृति निर्धारण हेतु आवश्यक व महत्वपूर्ण है।
8. मूल्यों पर समरूपता निर्भर करती है। प्रत्येक व्यक्ति को परस्पर के मूल्यों का ध्यान रखना पड़ता है। समस्त सामाजिक संबंध व व्यवहार मूल्यों के सहयोग एवं संघर्षों पर आधारित हैं।

9. मूल्य आदर्श भी होते हैं। प्रत्येक समाज के मूल्यों में भिन्नता होने के पश्चात भी कुछ ऐसे सार्वभौमिक मूल्य होते हैं जो मानव समाज में समान रूप से लागू होते हैं और सभी के द्वारा स्वीकार्य भी। अतः सामाजिक प्रगति के निर्धारण में मूल्यों का विशेष स्थान है।
10. समय के अनुसार परिवर्तन मूल्यों की विशेषता है। अतः मूल्यों की प्रकृति गतिशील है।

1.7 मूल्यों का उद्भव एवं विकास (Emergence and development of values)

मूल्यों का विकास निम्नलिखित परिस्थितियों में होता है—

1. सर्वप्रथम लक्ष्य निर्मित होते हैं।
2. तत्पश्चात आदर्शों का निर्माण होता है।
3. आदर्शों की प्राथमिकता के अनुरूप सामाजिक मान्यता मिलती है।
4. यही मान्यताएँ शनै-शनैः सामाजिक मूल्य बन जाती हैं।

इसको निम्नवत् रेखांकित किया जा रहा है—

मूल्यों का उद्भव

लक्ष्य—आदर्श—सामाजिक मान्यता— सामाजिक मूल्य

जैसा कि सर्वविदित है कि मूल्यों के क्षेत्र में अन्य समकालीन विचारकों की तुलना में राधाकमल मुकर्जी का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। अतः इसकी विस्तृत चर्चा करने से पूर्व अन्य विचारकों के द्वारा दिये गये योगदान को संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा—

1.8 दुर्खीम का मूल्यों का समाजशास्त्र (Durkheim sociology of values)

दुर्खीम ने मूल्यों के समाजशास्त्र के सिद्धान्त की विवेचना प्रत्यक्षवादी पद्धति के आधार पर की है। उनके अनुसार—समाज प्रत्येक प्रकार के मूल्यों के स्रोत होते हैं। यही कारण है कि उसमें सामाजिक संदर्भ में मूल्यों के अध्ययन पर जोर दिया गया है। व्यक्ति के कुछ विचार होते हैं। ये विचार व्यक्ति की आदत और क्रिया के रूप में विकसित होकर सामाजिक मान्यता प्राप्त करके मूल्य बन जाते हैं।

दुर्खीम ने मूल्यों की विवेचना समूहवाद (Aghelicism) के आधार पर की है। समूहवाद को परिभाषित करते हुए बोनाल्ड और मेस्ट्री ने लिखा है—“सामाजिक समूह व्यक्ति को अनुभव प्रदान करता है तथा उसे गठित करता है और संस्कृति तथा समस्त उच्चतर मूल्यों का स्रोत है।” इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्तित्व के गुणों का विकास सामाजिक समूह के द्वारा ही होता है। समूहवाद की भावना ही संस्कृति और उच्चतर मूल्यों को जन्म देती है। दुर्खीम ने 1911 में मूल्यों के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए लिखा है—“सामाजिक अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप मूल्यों का जन्म होता है।” व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के नाते स्वयं को अन्य सामाजिक प्राणियों से पृथक नहीं रह सकता। दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने के कारण ही व मानसिक अन्तःक्रिया करता है जो मूल्यों को जन्म देती है। विभिन्न सामूहिक उत्सव या सामान्य सभाओं पर ये मानसिक क्रियाएँ अत्यन्त तीव्र हो जाती हैं। या सामान्य सभाओं पर ये मानसिक क्रियाएँ अत्यन्त तीव्र हो जा जाती

हैं और व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खो देता है। तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में वैयक्तिक व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व में परिवर्तित हो जाता है। यही वह स्थिति है जो उच्चतर आदर्शों और मूल्यों को जन्म देती है।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य (social facts) सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट किया है कि सामाजिक मूल्य ही सामाजिक तथ्य है। जिनका वैषयिक रूप से निरीक्षण किया जा सकता है। इन सामाजिक तथ्यों को दो विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया गया है।

1.9 सामाजिक मूल्यों के प्रकार (Types of social values)

सामाजिक मूल्यों का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों द्वारा अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से अलग-अलग ढंग से किया है जिसकी चर्चा निम्नवत् है—

1. इलियट एवं मैरिल— इन दोनों विद्वानों ने सामाजिक मूल्यों का वर्गीकरण अमेरिकन समाज को दृष्टि में रखकर किया तथा उसको तीन प्रकारों में विभाजित किया है—

अ—देशप्रेम या राष्ट्रवाद की भावना।

ब—मानव का मानव के प्रति प्रेम।

स—आर्थिक सफलता।

2. कैण्टन— इनके द्वारा मूल्यों के छः प्रकारों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार हैं—

अ—मानव जीवन— जो स्वयं में एक सामाजिक मूल्य है।

ब—मानव कला और मानव संबंधों की दृष्टि से उत्पादक उपलब्धि।

स—सहयोग— जो सुखी जीवन के लिए अनिवार्य है।

द—शक्तिपूजा— जो सम्पूर्ण मानव समाज से अधिक शक्तिशाली है

फ—नैतिक चरित्र का सर्वोत्तम विकास

ह—मानव बुद्धि एवं उसकी योग्यता का सर्वोच्च विकास

3. प्रो० सी० एस० केस— इन्होंने सामाजिक मूल्यों को चार भागों में विभाजित किया है—

अ— सामाजिक मूल्य (Social value)— ये मूल्य सामाजिक जीवन से संबंधित होते हैं। जैसे—सत्य ही जीवन की सबसे बड़ी शक्ति और कर्मफल अनिवार्य है।

ब— सांस्कृतिक मूल्य (cultural values)— मूल्य संस्कृति से संबंधित है। जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं और इनके अन्तर्गत प्रथा, परम्पराएँ, धर्म, संगीत आदि को सम्मिलित किया जाता है।

स— विशेष मूल्य (special values)— मूल्यों का संबंध विशेष परिस्थितियों से होता है, जो विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होते हैं। अतः उद्देश्य परिवर्तन के साथ मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

द— शारीरिक मूल्य (organic value)— इनका सीधा संबंध शारीरिक रक्षा से होता है जैसे—‘शरीर का विकास’ और ‘शरीर की रक्षा’ से संबंधित मूल्य।

स्पैंगर— इन्होंने छः आधारभूत मूल्यों का वर्णन किया है—

अ— सैद्धान्तिक या बौद्धिक मूल्य।

- ब—आर्थिक या व्यवहारिक मूल्य।
 स—सौन्दर्यबोधी मूल्य।
 द—सामाजिक या परार्थवादी मूल्य।
 फ—राजनीति या सत्ता संबंधी मूल्य।
 ह—धार्मिक या रहस्यात्मक मूल्य।

राधाकमल मुकर्जी द्वारा मूल्यों का दो प्रकार से वर्गीकरण किया गया है—

अ—साध्य मूल्य—जो वे लक्ष्य या सन्तोष हैं। जिन्हें व्यक्ति समाज जीवन तथा मस्तिष्क विकास व विस्तार की प्रक्रिया में अपने लिए स्वीकार कर लेते हैं।

ब—साधन मूल्य— वे मूल्य हैं जिन्हें मनुष्य व समाज प्रथम प्रकार के मूल्यों की सेवा हेतु उन्नत करने के साधन के रूप में मानते हैं।

सामाजिक मूल्यों का विभिन्न विद्वानों द्वारा किस प्रकार वर्गीकरण किया गया है। इसके पश्चात सामाजिक मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डालेंगे—

1.10 सामाजिक जीवन में मूल्यों का गठन (Importance of values of social life)

जैसा कि पूर्व में चर्चा की जा चुकी है कि मूल्य की धारणा सार्वभौमिकता व निरपेक्षता के गुणों पर आधारित है। किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति, व्यक्ति व समाज की प्रगति मूल्यों के बिना संभव नहीं है। सामाजिक जीवन को समझने के लिए मूल्य आवश्यक होते हैं। अतः समाज में मूल्यों के महत्व का विवेचन निम्नवत् किया जा रहा है—

1. **मूल्य व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं पर आधारित होते हैं—** मूल्य सामाजिक जीवन को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं, क्योंकि मूल्यों का संबंध व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं पर आधारित होता है। मूल्यों के कारण ही व्यक्ति के सामाजिक सम्पर्क में वृद्धि होती है और सामाजिक व्यवस्था व संगठन मजबूत होता है।
2. **सामाजिक जीवन में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने में मूल्यों की अहम् भूमिका होती है—** समाज में रहते हुए व्यक्ति का सम्पर्क अनेक सामाजिक घटनाओं व समस्याओं से होता है। इनमें कुछ समाज को संगठित करती हैं तो कुछ विघटन की ओर ले जाती हैं। ऐसी स्थिति में मूल्य इन समस्याओं व घटनाओं का मूल्यांकन कर व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में शान्ति व्यवस्था बनी रहती है।
3. **एकरूपता का विकास करने में सहायक—** मूल्यों पर समरूपता निर्भर होती है। अतः सामाजिक एकरूपता स्थापित करने के लिए मूल्य व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण करते हैं और समाज के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि उनके द्वारा किये गये कार्य सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमानों के अनुकूल हो, ताकि समाज में शांति के साथ-साथ स्वस्थ संगठन का निर्माण हो सके।
4. **मूल्य जो होना चाहिए से संबंधित है—** मूल्य व्यक्तियों को सही-गलत, उचित-अनुचित का बोध कराते हुए समाज में सही आचरण के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि मूल्य व्यक्तिगत न

होकर सामाजिक होते हैं। अतः समाज के लिए क्या उपयुक्त है, का पालन ही व्यक्ति की अनिवार्यता है। पर मूल्य बल देती है और समाज में एकरूपता को विकसित करता है। मूल्य व्यक्ति की सामाजिकरण की प्रक्रिया को भी सुदृढ़ करता है।

5. **मूल्य सामाजिक विरासत के पोषक हैं**— मूल्य व्यक्ति की प्रवृत्तियों को विकसित कर व्यक्तित्व विकास में सहायक होते हैं। अतः व्यक्तित्व निर्माण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मूल्य सामाजिक विरासत के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होकर उनमें मूल्यों के प्रति लगाव उत्पन्न करते हैं।
6. **सामाजिक गतिविधियाँ मूल्यों से जुड़ी हुई हैं**— मूल्य जीवन के उद्देश्य और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को स्पष्ट करते हैं। हमारी तमाम सामाजिक गतिविधियाँ मूल्यों से जुड़ी हुई हैं। जो हमें बतलाता है कि समाज के लिए कौन सा आचरण सबसे अधिक अपेक्षित है। अर्थात् मूल्य के साथ हमेशा समाज के लिए सबसे जरूरी क्या है? का भाव जुड़ा रहता है जो उसी प्रकार की गतिविधियों के लिए व्यक्ति को प्रेरित करता है।
7. **मूल्य संस्कृति निर्धारण की प्रक्रिया है**— मूल्यों के आधार पर किसी समाज की संस्कृति का निर्धारण होता है। इसमें प्रथा, परम्परा, विश्वास, संगीत आदि को सम्मिलित किया जाता है।

उपरोक्त मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डालने से स्पष्ट होता है कि मूल्य स्थिर नहीं होते हैं। समय-परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन निश्चित हैं, लेकिन मूल्यों के बिना समाज की शान्ति, संगठन, समरूपता, आदर्श की कल्पना नहीं की जा सकती। परिवर्तित होते रहने के पश्चात भी मूल्यों की अपनी महत्ता अतुलनीय है।

1.11 बाह्यता (Exteriority) एवं बाध्यता (Constraint)

दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्यों के समान ही मूल्यों की भी दो विशेषताएँ होती हैं—

1—**बाह्यता**— सामाजिक मूल्यों में बाह्यता इस रूप में पायी जाती है कि इनका स्वतंत्रता व वास्तविकता के साथ अनुभव किया जा सकता है। मूल्य की ये विशेषताएँ व्यक्ति विशेष से संबंधित न होकर समस्त समाज से संबंधित होती हैं जिनका विकास मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग के परिणामस्वरूप होता है। यही कारण है कि व्यक्ति से परे इन मूल्यों का पृथक अस्तित्व होता है।

2—**बाध्यता**— ये वे मूल्य होते हैं जो व्यक्ति कते उपर अनिवार्यता का आरोपण करते हैं। जिससे सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति होती है। इस चेतना के परिणामस्वरूप व्यक्ति बाध्य होकर सामूहिक बाध्य होकर सामूहिक मूल्यों के अनुसार कार्य करते हैं।

1.12 चार्ल्स बगल एवं सामाजिक मूल्य (Charles bougle and social values)

अपनी प्रमुख कृति 'मूल्यों का उद्विकास (evolution of values) में चार्ल्स बर्गल ने मूल्यों के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। बगल दुर्खीम के विचारों के अनुयायी थे। उन्होंने ऐसी मानवीय प्रक्रियाओं की व्याख्या की है। जिनमें सामाजिक मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं। उनके अनुसार—व्यक्ति जब व्यवहार करता है तो उसके मन में सामूहिक जीवन से

संबंधित ऐसे विचारों का जन्म होता है। जो सामूहिक कल्याण से संबंधित होते हैं, जिन्हें समूह अपनी स्वीकृति प्रदान करता है और वे मूल्य के रूप में बदल जाते हैं।

सामाजिक मूल्य सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होते हैं। जिसका आधार उनकी यथार्थ प्रकृति है। यद्यपि अनेक मूल्य असात्य भी होते हैं और मूल्य लोगों की रुचि के अनुरूप भी होते हैं। जिनके कारण लोग इन्हें स्वीकार करते हैं और इनमें आस्था रखते हैं। बगल के अनुसार—“मूल्य निरंतर परिवर्तित होने वाली अवधारणा है। मूल्य से संबंधित विचार समूह के किसी सदस्य के मस्तिष्क में पैदा होते हैं। जो अन्तः क्रियाओं के परिणामस्वरूप समूह के विचारों में परिवर्तित हो जाते हैं और मूल्य का रूप धारण कर लेते हैं। ये व्यक्तिगत विचार सामूहिक विचार का रूप तब धारण करते हैं। जब लोगों में सामूहिक क्रिया संबंध चेतना का विकास हो।”

बगल के अनुसार मूल्य एकपक्षीय (one sided) होते हैं, क्योंकि इसका संबंध जीवन के किसी एक पक्ष से होता है। नैतिक नियमों को इसका अपवाद कहा जा सकता है, क्योंकि ये सम्पूर्ण जीवन से संबंधित हैं। जबकि मूल्यों में विवेक सर्वश्रेष्ठ होता है, जिसकी सहायता से हम विभिन्न प्रकार के व्यवहारों का सम्पादन करते हैं।

बगल का मानना है कि प्रत्येक समाज में प्राचीन व नवीन दोनों प्रकार के मूल्यों की एक व्यवस्था बनायी जाती है, जहां पुराने मूल्यों का कार्य समाज की परम्परागत व्यवस्था को बनाये रखना है। वहीं नवीन मूल्य इस व्यवस्था को परिवर्तित करने के पक्ष में होते हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन व नवीन मूल्यों के बीच संघर्ष संभव हो जाता है, लेकिन बगल मानते हैं कि संघर्ष की स्थिति बहुत कम आती है। इसका कारण सामाजिक संगठन में दोनों प्रकार के मूल्यों का संबंध पाया जाता है। और सामाजिक जीवन में संतुलन का विकास होता है। जैसे-जैसे श्रम विभाजन (Division of labour) विकसित होता है।

सामाजिक मूल्यों (con-comitant diherentation) का विकास होता जाता है। श्रम विभाजन के आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिनिधित्व मूल्य करते हैं। समाज में लक्ष्य विकसित होकर व्यक्ति को व्यवहारों के माध्यम से मूल्य को जन्म देने के लिए विवश करते हैं।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक मूल्यों के क्षेत्र में डॉ० राधाकमल मुकर्जी का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जितनी विस्तृत व व्यापक चर्चा मूल्यों के संबंध में मुकर्जी द्वारा की गयी है, उतनी किसी अन्य विद्वानों द्वारा नहीं की गयी है। वे मानते थे कि सम्पूर्ण सामाजिक संगठन व व्यवस्था का आधार सामाजिक मूल्य ही है। अतः मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित सामाजिक मूल्यों की चर्चा का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करना आवश्यक होगा।

1. मूल्यों की सामाजिक संरचना (the social structure of values). प्रत्येक विज्ञान मूल्य केन्द्रित है, क्योंकि सभी विज्ञानों का उद्देश्य यह ज्ञान प्रेषित करना है कि व्यक्ति, समाज, प्रकृति एक सूत्र में बंधे हुए स्तर हैं। मुकर्जी ने सामाजिक मूल्य संबंधी विचार प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि मूल्य सामाजिक मान, लक्ष्य या आदर्श हैं। जो हमारे जीवन के लिए महत्वपूर्ण तथा समाज के लिए आवश्यक होते हैं। मूल्यों की एक सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि होती है। जिसके कारण प्रत्येक समाज के मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है। उदाहरणार्थ हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार होने के

कारण यहाँ विवाह-विच्छेद की भावना पनप नहीं पाती है, क्योंकि मूल्यों का सामाजिक प्रभाव प्रति-पत्नी को एक-दूसरे के प्रति आजीवन वफादार बने रहने पर आधारित होता है। जबकि अमेरिकन समाजों में इस प्रकार के मूल्यों को नितान्त अभाव है। सामाजिक मूल्य सामाजिक मान हैं, जो कि सामाजिक जीवन के अन्तः संबंधों को परिभाषित करने में सहायक होते हैं।

मूल्यों के द्वारा सभी प्रकार की चीजों, भावनाएँ, विचार, क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधन आदि का मूल्यांकन किया जा सकता है। मूल्यों को एक उद्देगात्मक आधार होता है। जो समाज के सदस्यों के उद्देगों की अपील करता है और उन्हीं के भरोसे जीवित रहता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत कर मुकर्जी ने लिखा है— “हिन्दुओं में विवाह से संबंधित अन्तः विवाही नियम एक दृढ़ मूल्य है। जिसमें सामाजिक नियम का पालन कर एक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति में विवाह करने की अनिवार्यता होती है। और यदि किसी ने इसके विपरित अन्तर्जातीय विवाह कर लिया तो सभी जगह उसकी चर्चा इसके विपरित अन्तर्जातीय विवाह कर लिया तो सभी जगह उसकी चर्चा उद्देगपूर्ण शब्दों में की जाती है। अतः स्वीकृत मूल्यों की सामाजिक मान्यता अत्यधिक दृढ़ है। मुकर्जी के अनुसार सामाजिक जीवन विभिन्न पक्षों, कार्य-कलापों से संबंधित विभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं। जैसे परिवार में पिता से संबंधित, राष्ट्र के शासन से संबंधित, विवाह के संबंध में, सामाजिक सहवास, धार्मिक आचरण, राजीनतिक, आर्थिक जीवन आदि के संबंध में एकाधिकार मूल्य होते हैं। इसके अतिरिक्त मूल्यों में निहित बोधात्मक तत्व क्या उचित हैं की धारणा उसके ‘क्या है’ या ‘क्या संभव है’ की धारणा पर निर्भर करती है।

अतः राधाकमल मुकर्जी के मूल्यों की सामाजिक संरचना को विद्यार्थियों की सुविधा के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं के द्वारा संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

मुकर्जी के अनुसार—

- मूल्य सामाजिक मान, लक्ष्य, या आदर्श हैं।
- प्राकृतिक रूप से समस्त मानव संबंध तथा व्यवहार मूल्य ही हैं।
- प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि होने के कारण “मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है।
- मूल्यों के द्वारा-भावनाएँ, विचार, क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधन सभी का मूल्यांकन करता है।
- मूल्यों का एक उद्देगात्मक आधार होता है।
- सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों, विभिन्न कार्य-कलापों से संबंधित विभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं।

1.13 मूल्य का अर्थ एवं उत्पत्ति (Meaning and origin of values)

डॉ० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार—“मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएं तथा लक्ष्य हैं। जिनका आंतरिकरण सीखने अथवा सामाजिकरण के माध्यम से किया जाता है तथा जो कि प्रातीतिक अधिमान्यताएँ तथा अभिलाषाएँ बन जाती है।” मुकर्जी के अनुसार सभी मूल्य सामाजिक

होते हैं। इसलिए उन्होंने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक जीवन में ढूँढ़ने का प्रयास किया। उन्होंने मूल्यों को रहस्यवादी आधार देते हुए स्पष्ट किया कि यह एक ऐसी शक्ति है। जिसके द्वारा एक तटस्थ नैतिक दृष्टि का विकास होता है। इसके साथ साथ ही आत्म विश्लेषण एवं आत्मानुशासन के लिए मूल्य अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। मूल्य व्यक्ति को लघु मानव से विश्व मानव में परिवर्तित होने की शक्ति प्रदान करता है। इन मूल्यों के विकसित होने से व्यक्ति व समाज को एकाकार कर देता है। व्यक्ति समझने लगता है कि प्रकृति व मुझमें कोई अंतर नहीं है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व समस्याओं के समाधान के संदर्भ में उसे अनेक सामाजिक अनुभव होते हैं। सामाजिक विकास और प्रगति के लिए समाज में व्यवस्था निर्मित की जाती है और इस प्रकार समाज में मूल्यों का जन्म होता है।

मानव जीवन के वास्तविक (actual) और आदर्श (Ideal) पहलू एक-दूसरे से अन्तः संबंधित हैं। जो एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करते हैं। और मूल्यों को जनम देते हैं। मूल्य ऐसी मानवीय शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा मानवीय प्रवृत्तियों व उनकी इच्छाओं को नियंत्रित किया जाता है। व्यक्ति के ये सामाजिक व्यवहार उनके आदर्शों को नियंत्रित करते हैं। व्यक्ति के ये सामाजिक व्यवहार उनके आदर्शों को नियंत्रित करते हैं। क्रियाओं को प्रतिपादित करते हैं, तो मूल्यों का जन्म होता है। मुकर्जी के अनुसार—“मनुष्य को मूल्य अपने जीवन, पर्यावरण, स्वयं से, समाज से संस्कृति से, तथा मानव अस्तित्व व अनुभव से प्राप्त होते हैं। संक्षेप में—मूल्यों को उद्भव समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है।

- ✓ मूल्यों का उद्भव मानव के जीवन, पर्यावरण, अपने आप से समाज, संस्कृति, मानव अस्तित्व तथा अनुभव से होता है। मानव जीवन की वास्तविकता व आदर्शों का अन्तः संबंध मूल्यों का जन्म देता है।
- ✓ मूल्यों की उत्पत्ति सामाजिक संरचना विशेष के सदस्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप धीरे-धीरे होती है।

3— मूल्यों का क्षेत्रीय आधार (Regional Basis of values)-एक परिस्थितिशास्त्री (ecologists) होने के कारण प्रो० मुकर्जी प्रत्येक सामाजिक घटना को एक विशेष परिस्थिति के संदर्भ में देखते हैं। उन्होंने मूल्यों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण परिस्थितिशास्त्रीय (ecological) विशेषताओं को माना है। अर्थात् उनके अनुसार मूल्यों में सार्वभौमिकता होने के पश्चात् भी इनकी प्रकृति सार्वभौमिक नहीं होती है। उदाहरणार्थ—विवाह एक सामाजिक मूल्य है, जो सार्वभौमिक होते हुए भी इससे संबंधित मूल्य में सार्वभौमिकता नहीं रखता। हिन्दु विवाह को भारत में धार्मिक संस्कार माना जाता है। पाश्चात्य देशों में ऐसा नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि मूल्यों का संबंध क्षेत्र विशेष से होता है। इसी कारण मूल्यों के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाते हैं। मुकर्जी स्वीकार करते हैं कि प्रकृति स्वयं बुद्धिमान हैं। जिसके कारण प्राकृति साधन, जनसंख्या तथा संस्थाओं में संतुलन स्थापित करते हैं। इसलिए व्यक्ति की प्रकृति द्वारा स्थापित संतुलन को भंग नहीं करना चाहिए। इन्हीं विचारों के कारण मुकर्जी के सिद्धान्त को रहस्यवाद पर आधारित माना जाता है।

4-सामाजिक संगठन व मूल्य के स्तर (social organization and levels of values)- मुकर्जी मानते हैं कि मूल्य सामाजिक संगठन के स्तर पर आधारित हैं। जिनके माध्यम से सामाजिक संरचना व प्रतिमान का निर्धारण होता है। प्रत्येक समाज में पायी जाने वाली सामाजिकता के विभिन्न स्तर होते हैं। जो सामाजिक संगठन के अनुसार मूल्यों को विकसित करते हैं मुकर्जी ने सामाजिक संगठन को चार स्तरों में विभाजित कर स्पष्ट किया है कि इन प्रत्येक स्तर की नैतिकता भिन्न होती है। अतः आपने नैतिकता के अभाव में उत्कृष्ट नैतिकता पर पहुंचने के स्तरों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया है।

(i) भीड़ (crowd)- भीड़ सामाजिक व्यवस्था या संगठन की प्रथम अवस्था है, जिसका मनोविज्ञान कुछ अलग होता है। भीड़ में उत्तेजना तत्व प्रभावी होता है जिसका कारण क्रूर या अमानवीय अभिव्यक्ति हो जाती है। मुकर्जी के अनुसार—व्यक्ति एक क्रियाशील प्राणी है। इसी क्रियाशीलता के कारण व समाज में रचनात्मक कार्यों का सम्पादन करता है और स्वयं में सामाजिक मूल्यों से प्रभावित होता है। जिसमें सम्मिलित व्यक्ति एक-दूसरे से अपरिचित होते हैं, लेकिन भीड़ में इन व्यक्तियों के व्यवहारों, क्रियाओं और बुद्धि में गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। इसमें मूल्यों का अभाव पाया जाता है। भीड़ अनुकरण के परिणाम स्वरूप एकत्रित हो जाती है।

स्वार्थ समूह (interest group)- व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिए कुछ लोगों द्वारा सहकारी समितियाँ, क्लबों, श्रम संगठनों, और राजनीतिक दलों में भी भागीदारी प्रारम्भ हो जाती है। जिससे पारस्परिक आदान-प्रदान, सहयोग, सदाचार, बंधुत्व, प्रतिशोध इत्यादि भावनाओं का विकास होता है। कभी-कभी व्यक्ति का सम्पूर्ण स्व व्यवसाय पर केन्द्रित हो जाता है और उसमें अहंकारी भावना पनपने लगती है, जो अवैयक्तिक संघर्षों का जन्म देता है।

3) समाज (society)- स्वार्थ समूहों में वैयक्तिक अन्तः संबंधों का विकास होता है और सामान्य उद्देश्यों के कारण संगठन का निर्माण होता है, जिसे समाज के नाम से जाना जाता है। समाज में व्यक्ति अन्य के हितों को ध्यान में रखकर सहयोगी व्यवहार करते हैं। समाज समूहों का ही विस्तृत रूप है। यदि देखा जाए तो भीड़ एवं स्वार्थ समूहों की तुलना में समाज में मानव नैतिकता का स्तर व्यापक हो जाता है। जहां सामूहिक हित सामाजिक हित में रूपान्तरित हो जाते हैं, जिसमें समाज में रहने वाले लोग समानता (equality) एवं न्याय (justice) को सामाजिक मूल्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। अतः स्पष्ट है कि समाज सामाजिक संगठन की विस्तृत अवस्था है। जिसमें पारस्परिक सहयोग के माध्यम से समाज का विकास होता है और वह आगे बढ़ता है।

4) सामूहिकता (collectiveness)- सामूहिकता के लिए मुकर्जी द्वारा जनता शब्द का प्रयोग किया गया है। आपके अनुसार नैतिक दृष्टि से सामूहिकता मानवता का सर्वोच्च संगठन है। सामूहिकता सामाजिक संगठन का अत्यधिक सुदृढ़ व सार्वभौमिक मूल्य है, जिसके अन्तर्गत प्रेम, समानता, बन्धुत्व जैसे नैतिक मूल्यों को स्वीकार किया जाता है। इन मूल्यों को स्वीकार करने के लिए व्यक्ति चेतनात्मक रूप से बुद्धि एवं तर्क का प्रयोग करता है। आदर्श सामूहिकता व्यक्ति को स्वार्थ व क्षेत्रीयता की भावनाओं से ऊपर उठाते हुए समस्त विश्व के साथ भाईचारे का संबंध स्थापित कर विश्व बन्धुत्व की भावना को विकसित करती है।

डॉ० मुकर्जी ने लिखा है जिस प्रकार सामाजिक व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में मूल्य पाये जाते हैं, वहीं मूल्यहीन (Disvalues) भी पाये जाते हैं। अर्थात् व्यक्ति मूल्यों का अतिक्रमण कर अपनी आत्मा का सम्मान की भावना को समाप्त करते हुए उसके विरुद्ध कार्य करता है। जिससे मूल्यहीन संगठनों की स्थापना के साथ आपराधिक प्रवृत्ति में वृद्धि होती है और समाज में शोषण, असमानता, समाज विरोधी कार्य मूल्यहीन अवस्था को जन्म देते हैं। ये मूल्यहीन व्यवहार कानून एवं सामाजिक संहिताओं की उपेक्षा करते हैं। जिससे समाज में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं तथा व्यक्ति की प्राणीशास्त्रीय विशेषताएं और सामाजिक परिस्थितियां भी मूल्यहीन व्यवहारों को उत्पन्न करती हैं। अतः इनकी समाप्ति हेतु डॉ० मुकर्जी ने लिखा है—“ मूल्यहीन व्यवहार को समाज में न पनपने दिया जाए, जो व्यक्ति, समूह, मूल्यहीन व्यवहार करता है। समाज के साथ उसका सामंजस्य स्थापित किया जाय।”

5) व्यक्तित्व एवं मूल्य (Personality and values)-डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने व्यक्तित्व के निर्माण में मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख करते हुए लिखा है—“मनुष्य मूल्यों की रचना करने वाला, उस पर अमल करने वाला तथा उन मूल्यों का निर्णायक भी है।” मानवीय संरचना को परिभाषित व संचालित करने में मूल्यों का अत्यधिक महत्व है। व्यक्ति, अपने व्यवहार की सहायता से इन मूल्यों का परिमार्जन तथा उन को संशोधित कर उस स्तर तक पहुँचा देता है। जहाँ व्यक्ति मूल्य के बिना स्वयं से और समाज से एकरूपता स्थापित करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि व्यक्ति व मूल्य एक-दूसरे से अन्तः संबंधित है, जिसके कारण ही मूल्यों में निरंतर परिवर्तित व उसमें वृद्धि होती है।

डॉ० मुकर्जी के अनुसार—“व्यक्ति अपने जीवन में विभिन्न स्तरों से गुजरता है और अपने सामाजिक संबंधों का सुधार करता है। वह अपने नैतिक जीवन का सुधार करता है। इसी प्रकार वह मूल्यों की वृद्धि में भी योगदान देता है।” मुकर्जी द्वारा मानव व्यवहार के तीन स्तरों की चर्चा निम्नवत् करेंगे—

1)–जैविक सामाजिक स्तर (bio social level)–जैविक स्तर व्यक्ति को सामाजिक नियमों का पालन करके प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मूल्यों द्वारा निर्देशित व्यवहार करने को प्रेरित करता है। यही कारण है मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति जहाँ संबंधित मूल्यों के अनुसार करता है। वहीं पशुओं में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के समय इस प्रकार की जागरूकता नहीं पायी जाती है। इन्हीं निर्देशित मूल्यों के कारण मनुष्य और पशु में भौतिक अन्तर स्पष्ट होता है। अर्थात् ये सामाजिक मूल्य आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित व्यक्ति की प्रेरणाओं को निर्धारित परिवर्तित और निर्देशित करते हैं।

2–मानसिक एकता का स्तर (level of psychic intergration)- जब मनुष्य का मस्तिष्क इतना विकसित हो जाता है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य सदस्यों के सहयोग से करें, तब इसे मानसिक एकता का स्तर कहा जाता है। इस स्तर में मिल-जुलकर रहने की भावना का विकास होता है। सामाजिक क्रियाओं में व्यक्ति की भागीदारी अन्य सदस्यों के साथ संबंधों की स्थापना कर व्यक्ति समाज में एकता के मूल्य को ग्रहण करता है।

3-आध्यात्मिक स्तर (spiritual level)- डॉ० मुकर्जी के अनुसार भारतीय दर्शन में जिसे हम 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की अवस्था कहते हैं। वहीं मानव अस्तित्व के विकास के अन्तिम स्तर है, जिसमें अपनाये जाने वाले मूल्य विश्व एकता की स्थापना में सहायक होते हैं।

डॉ० मुकर्जी के अनुसार—मूल्य स्तर व व्यक्तित्व स्तर परस्पर अन्तःसंबंधित हैं। जिस प्रकार मूल्यों के स्तर होंगे, उसी प्रकार व्यक्तित्व के स्तर भी होंगे। ये दोनों स्तर साथ-साथ रहते हैं। अतः व्यक्ति के अस्तित्व कतो बनाये रखने के लिए समाज में सर्वोच्च मूल्यों का विकास जरूरी है। अच्छाई, प्रेम, शान्ति, सौहार्द सभी ऐसे आध्यात्मिक मूल्य हैं। जिनके द्वारा सामाजिक संस्थाओं का विकास होता है और जो मानवीय एकता सौहार्द, बंधुत्व, सच्चाई व प्रेम आदि के संरक्षण के लिए आवश्यक है।

6- मूल्य और सामाजिक समस्याएं (values and social problems)- समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं का मूल व्यक्ति के व्यवहार है। ये व्यवहार मूल्यों से प्रभावित व संचालित होते हैं सामाजिक संस्थाओं का उद्देश्य मूल्यों के अनुसार कार्य करना है, ताकि समाज में सुदृढ़ व्यवस्था निर्मित हो सके, लेकिन कुछ ऐसे व्यक्ति समाज में होते हैं, जिनमें न तो इन सामाजिक मूल्यों के प्रति जागरूकता रहती है, न ही वे इनके निर्देशों को स्वीकार करते हैं। अतः मूल्यों के प्रति उनका यह उपेक्षित दृष्टि कोण उनमें स्वार्थवादी प्रवृत्ति को जन्म देता है और सामुदायिक भावना विघटित होकर अनेक समस्याओं को जन्म देती है।

7-मूल्य एवं मानव अभियान्त्रिकी (Values and human Engineering)- जीवन में पाये जाने वाले सत्य व असत्य मूल्य मानव विश्वास व नैतिकता को जन्म देती हैं। इसी संसार में समस्त सामाजिक क्रियाएँ अन्तर्निहित हैं। इन मूल्यों का जनम मानव के पर्यावरण के साथ सामन्जस्य स्थापित करने के परिणामस्वरूप होता है। समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जिसमें हम योजनाओं के द्वारा मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार नियोजन के अन्तर्गत सामाजिक यांत्रिकता समय-समय पर मानवीय मान्यताओं और अन्तःसंबंधों को निर्देशित करती है। जिनकी सहायता से हम सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं। इसके साथ ही सामाजिक उद्देश्य, सामाजिक मापन का कार्य भी करते हैं। अतः सामाजिक प्रगति के मापक पैमाने के निर्माण में सामाजिक मूल्य आदर्श और नैतिकता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सामाजिक यांत्रिकता मूल्यों को परिवर्तित कर समाज में नयी विधियों, प्रतीकों और नियंत्रण के साधनों को जन्म देती है। मुकर्जी के अनुसार—“वर्तमान औद्योगीकरण, नगरीकरण के परिणामस्वरूप प्राचीन संस्थाएँ समाप्त होती जा रही हैं। ऐसी अवस्था में हम सामाजिक यांत्रिकता पर आधारित नहीं रहेंगे, तो हमारे लिए समाज प्रगति की दिशा का निर्धारण करना कठिन हो जायेगा। इस प्रकार डॉ० मुकर्जी द्वारा मानव अभियान्त्रिकी सिद्धान्त को तीन आधारों पर प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

i)—व्यक्ति व समूह के बीच बौद्धिक व नैतिक दृष्टि से संबंधों का एक स्तर पाया जाता है। मानवीय संबंधों के गुण एवं आकार उसके नैतिक एवं बौद्धिक गुणों को सिद्ध करते हैं।

ii) डॉ० मुकर्जी के अनुसार कोई समूह या संस्था केवल सामाजिक और औद्योगिक नीति को ग्रहण करके व्यक्तियों का निर्माण कर सकती है और सामाजिक ढाँचे के निर्माण में सफल हो

सकती है। मूल्य विभिन्न समूहों को प्रमुखता प्रदान करने व संस्थागत प्रतिमानों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए नीति निर्धारित करती है।

iii)–संस्कृति गतिशील है। जिसके कारण व्यक्ति व समुदाय के द्वारा की जाने वाली भूमिकाएँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। मूल्यों के द्वारा ही समाज में नव निर्माण की प्रेरणा से व्यक्ति सामाजिक पुनर्निर्माण की ओर अग्रसर होता है।

अतः डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अपने मूल्यों के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए जिन बातों का उल्लेख किया है। विद्यार्थी उसको निम्नवत् संक्षेप में समझेंगे—

- ✓ मूल्यों की सामाजिक संरचना— जिसमें मान, लक्ष्य, आदर्श को मूल्य मानते हुए मानवीय व्यवहारों को मूल्य से संबंधित माना है। संक्षेप में भी इसकी चर्चा पूर्व में की गयी है।
- ✓ मूल्यों की उत्पत्ति अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप होती है।
- ✓ परिस्थितिशास्त्रीय विशेषताओं के कारण मूल्यों का जन्म होता है और इनका एक क्षेत्रीय आधार होता है।
- ✓ मूल्यों के साथ मूल्यहीन भी होते हैं, लेकिन एक व्यवस्था व संगठन के लिए सामाजिक मूल्य सर्वोच्च व उपयोगी होते हैं।
- ✓ व्यक्तित्व निर्माण में
मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिनका जैवकीय, मानसिक व आध्यात्मिक स्तर के आधार पर अध्ययन किया गया है।
- ✓ मूल्यों का अनुपालन
न करने से कई सामाजिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। जो स्वयं व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की प्रगति में बाधक होती हैं।
- ✓ संस्कृति की
गतिशीलता के कारण नवीन परिस्थितियों से सामानजस्य सामाजिक पुर्ननिर्माण के लिए आवश्यक है।

1.14 मूल्य एवं प्रतीक (values and symbol)

वातावरण का वैविध्य मानव मस्तिष्क को और अधिक विकसित करता है। जिसके कारण उसकी गृहणशीलता बढ़ती है और उसके मन में जीवन के प्रति मूल्य प्रतीक का प्रादुर्भाव होता है, जिसके कारण व्यक्ति एक-दूसरे के क्रिया-कलाप में सक्रिय रुचि लेते हैं। जीवन के मूल्यों को समाज के धरातल की इच्छाओं और उद्देश्यों को सामाजीकरण, ज्ञान, महत्वकांक्षा तथा स्तर की कसौटी पर कस कर परिभाषित किया जाता है, क्योंकि समाज अपने आप में जीवन मूल्यों का एक एकीकरण तथा संगठन है।

जीवन मूल्य हमेशा एकता से अनेकता, साधारण पार्थिक से उदानत एवं सर्वाभौम आदर्श की ओर होती है। डॉ० मुकर्जी मानते हैं कि मूल्यों की प्रवृत्ति प्रतीकात्मक है। समाज में संबंधों की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से की जाती है। मानव को विभिन्न सामाजिक, आर्थिक चीजों की

जानकारी विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से ही प्राप्त होती है। प्रतीक मानवीय मूल्यों को समझने के महत्वपूर्ण माध्यम हैं।

सुखी, सम्पन्न तथा सुसंगठित सामाजिक जीवन के लिए जीवन में मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों की महत्वपूर्ण भूमिका है और इनका जन्म व्यक्तिपरक, समाजपरक दृष्टिकोण तथा उत्तरदायित्वों के परिणामस्वरूप होता है तथा इन्हीं से समाजों का जन्म, सामाजिक संबंधों को संबल व संस्कृति को मजबूती प्रदान होती है। संगठित एवं सम्पन्न सामाजिक जीवन के लिए मूल्यों और आदर्शों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है

अतः आदर्शों तथा मत मूल्यों सूक्ष्मीकृति अभिव्यक्ति ही दूसरे शब्दों में प्रतीक (symbol) होती या कही जाती हैं। सुसंस्कृत व्यवहार की अभिव्यक्ति एवं मानवीय संबंधों का उचित निर्वहन को प्रतीक नाम दिया जाता है। जो इस सत्य को स्पष्ट करते हैं कि मानव व्यवहार हमेशा प्रतीकात्मक होते हैं मूल्यों की अपेक्षा प्रतीक अनुभव के धरातल पर मनुष्य को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं—

सामाजिक संगठन में मूल्यों के दर्शन की चर्चा चार रूपों में की जा सकती है—

अ—भीड़ में आतंकवादी जंगली व्यवहार के रूप में।

ब—बाजार में आर्थिक व्यवहार के रूप में।

स—किसी जातीय संगठन या समाज समानता तथा न्याय के रूप में।

द— सर्वमान्य लोगों में प्रेम, स्नेह, सामाजिक दायित्व एवं सहकारिता के रूप में।

उपरोक्त दर्शन से स्पष्ट होता है कि ये समस्त मूल्य मानव जीवन की बुनियाद में नैतिक आदर्शों की पूर्ति करते हैं। जिसके कारण समाज में रहना सुखकर तथा संभव हो सका है और व्यक्ति (individual), समष्टि (society) की ओर अग्रसर होती है। व्यक्ति के व्यवहार की परिधि में ही मूल्य के साथ अवमूल्य भी मिलते हैं। व्यक्तित्व की सीमा में जकड़े हुए मनुष्य के जीवन में स्वीकृति, अस्वीकृति, कुंठा, अपराध और अपमान का होना स्वाभाविक है, लेकिन जो व्यक्ति अपने को समाज मानता है। उसके जीवन में शोषणकारी सामाजिक संबंध, दुर्व्यवहार तथा समाज विरोधी गुटों का निर्माण होता है। जैविक असमानता तथा सामाजिक असन्तोष या आदर्शों के अभाव से ही मूल्यहीनता (Disvalues) का जन्म होता है। डॉ० मुकर्जी के अनुसार—“मूल्यहीनता को मधुर व्यवहार द्वारा दूर कर समाज में एक संगठन स्थापित किया जाता सकता है।

संक्षेप में मूल्य व प्रतीक को निम्नवत् समझें—

- मानव मस्तिष्क के विकास के साथ उसकी गृहणशीलता में वृद्धि होती है, जिससे मानव मन में जीवन के प्रति मूल्यों का प्रादुर्भाव होता है।
- आदर्श एवं मूल्यों की सूक्ष्मीकृत अभिव्यक्ति को ही प्रतीक कहा जाता है।
- मूल्यों की प्रवृत्ति प्रतीकात्मक होती है।
- सामाजिक संबंधों की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से ही होती है।

- व्यक्ति को विभिन्न सामाजिक आर्थिक चीजों की जानकारी प्रतीकों के द्वारा ही होती है।
- मानवीय मूल्यों को समझने के लिए मूल्य महत्वपूर्ण हैं।
- जीवन में मूल्यों की वृद्धि का क्रम एकता से अनेकता, पार्थिव एवं सार्वभौम आदर्शों की ओर होता है।
- प्रतीक सुसंस्कृत मानवीय व्यवहार की अभिव्यक्ति एवं उचित मानव संबंधों के निर्वहन को परिभाषित करती है।
- मूल्यों की अपेक्षा प्रतीक हमें अनुभव के धरातल पर बड़े वैज्ञानिक ढंग से लाते हैं।

1.15 व्यक्ति समाज एवं मूल्य (Person Society and values)

जीवन के मूल्य प्रणाली से व्यक्ति की रचना को परिभाषित व शासित किया जाता है। डॉ० मुकर्जी के अनुसार—“मनुष्य मूल्यों की रचना करने वाला तथा मूल्यों पर अमल करने वाला प्राणी है। वह मूल्यों का स्रोत ही नहीं, बल्कि उनका निर्णायक भी है।” मूल्य समूहों एवं संस्थाओं के कार्यों को सही ढंग से चलाने के लिए तमाम अंतवैयक्तिक लक्ष्यों, संबंधों और व्यवहारों में बिखरे पड़े होते हैं, जो कभी-कभी वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों के बीच अंतर करते हैं। जबकि सत्यता यह है कि व्यक्ति द्वारा जिन मूल्यों को वैयक्तिक समझा जाता है। वे वास्तविक रूप में उसी समाज से ग्राह्य होते हैं। जिसका वह सदस्य है जन्म के समय व्यक्ति मात्र प्राणी होता है धीरे-धीरे सामाजिकरण की प्रक्रिया के कारण वह सामाजिक प्राणी बनता है और समूह के मूल्यों को स्वयं आत्मसात् करता है। अर्थात् व्यक्ति अपने सामाजिक संबंधों, मूल्यों एवं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति निम्न त्रिपक्षीय परिधि के अन्तर्गत प्राप्त करता है, यथा—

- (i) जीव समाज (bio social)- जिसमें मनुष्य स्वयं को रहने लायक बनाता है।
- (ii) मनोवैज्ञानिक एकता (psychic intergration)- इसमें व्यक्ति का आन्तरिक विकास होता है।
- (iii) आध्यात्मिक (spiritual)- इसमें व्यक्ति प्रज्ञ की स्थिति प्राप्त करता है।

व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों को समान महत्व नहीं देता। वह उन मूल्यों को अधिक वरीयता देता है जो जीवन के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ—जैसे एक होनहार विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् अपना समय अगली परीक्षा की तैयारी में लगाये न कि बेकार के मनोरंजन में। कई बार मूल्यों के बीच में द्वन्द की स्थिति का मुकाबला भी व्यक्ति को करना पड़ता है, जिसमें वह मूल्यों के अनुक्रम से संघर्ष को समाप्त करने या कम करने का प्रयत्न करता है। और ऐसा न होने पर व्यक्ति की गतिविधियां अस्त-व्यस्त हो सकती हैं और व्यक्ति के व्यक्तित्व का गंभीर क्षति पहुंच सकती है। इस संबंध में मुकर्जी ने लिखा है—“विभिन्न स्तरों या विभिन्न आयामों वाले आर्थिक, नैतिक या धार्मिक जीवन मूल्य एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। तमाम समूह और संस्थान, चाहे वे आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक इत्यादि कुछ भी हों। एक दूसरे को प्रभावित करते हैं या टकराते हैं।”

व्यक्ति प्रत्यक्ष—अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न समूहों व संस्थाओं की सदस्यता के कारण विभिन्न मूल्यों का अनुसरण कर अपने कार्यों में संतुलन बनाये रखने का प्रयास करता है और जब भी यह संतुलन डगमगाता है, तो परिणाम गंभीर होते हैं मूल्य संस्कृति के केन्द्र बिन्दु व उसकी प्रवृत्ति है। बहुत से मूल्यों से व्यक्ति अपरिचित होता है। कारण ये व्यक्तित्व का अंग बन चुके होते हैं। मूल्य व्यक्ति को समाज में समायोजित करने में सहायता प्रदान कर व्यक्तियों को वैध ढंग से गतिशील भी रखते हैं।

समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के मूल्यों में टकराव के कारण समाज में सामाजिक—सांस्कृतिक परिवर्तन संभव होता है। टकराव की यह प्रक्रिया हमेशा एक समाज के बीच ही न होकर अधिक समाजों के बीच भी पायी जाती है, लेकिन यह टकराव हमेशा दुष्प्रकार्यात्मक (dysfunctional) नहीं होता, बल्कि प्रकार्यात्मक (functional) भी होता है। इन संघर्षों से विश्व समाज में कई परिवर्तन और उनसे मानव समाज को होने वाले फायदे को अस्वी कर नहीं किया जा सकता। जैसे—‘अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता’, धर्मनिरपेक्षता, युवा मताधिकार, शिक्षा के समान अवसर, महिला स्वतंत्रता इत्यादि संघर्षों के परिणाम वर्तमान प्रजातांत्रिक मूल्यों के उदहारण हैं।

संक्षेप में चर्चा इस प्रकार है—

- व्यक्ति, समाज व मूल्यों का घनिष्ठ संबंध है।
- शिशु से सामाजिक प्राणी बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति द्वारा सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान प्रचलित मूल्यों को आत्मसात् किया जाता है।
- यद्यपि सभी प्रचलित मूल्य समान महत्व नहीं रखते, फिर भी मानव समाज में प्रचलित उन मूल्यों को वरियता देता है, जो जीवनपयोगी व महत्वपूर्ण होते हैं।
- समाज में व्यक्ति जाने—अनजाने कई प्रकार के मूल्यों को अपनाकर संतुलन स्थापित करता है, लेकिन इसके गड़बड़ाने पर गंभीर परिणाम भी हो सकते हैं।
- मूल्यों के बीच टकराहट संघर्ष को जन्म देती है।
- मूल्यों का संघर्ष हमेशा बुरा ही नहीं, बल्कि अच्छा भी होता है।
- वर्तमान में हम प्रजातांत्रिक व्यवस्था को समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता, तार्किकता, युवा मताधिकार, शिक्षा के समान अवसर एवं महिला स्वतंत्रता के रूप में देख रहे हैं इन्हें संघर्ष का ही परिणाम कहा जा सकता है।

1.16 मूल्यों का सोपान व संस्तरण (the scale and hieracrchy of values)

डॉ० मुकर्जी के अनुसार मूल्यों में संस्तरण पाया जाता है, जो मूल्यों के आयामों से ससंबंधित होता है। ये जैविक, सामाजिक व आध्यात्मिक तीन आयाम होते हैं। जैविक मूल्य, स्वास्थ्य, जीवन निर्वाह, कुशलता, सुरक्षा, सामाजिक मूल्य सम्पत्ति, प्रस्थिति, प्रेम, न्याय तथा आध्यात्मिक मूल्य सत्य, सुन्दरता, पवित्रता तथा सुसंगति विषयक होते हैं। इन तीनों में आध्यात्मिक मूल्य का स्तर को सर्वोच्च माना जाता है, जिसमें आत्म लोकातीतत्व की विशेषता पायी जाती है। जो साध्य या अन्तर्निष्ठ अथवा लोकातीत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। इसके बाद सामाजिक मूल्य हैं,

जिनका उद्देश्य सामाजिक संगठन व सुव्यवस्था को बनाये रखना होता है। इसीलिए इन्हें साधन, बाध्य या क्रियात्मक मूल्य की संज्ञा दी जाती है। अन्त में जैविक मूल्य होते हैं जो जीवन को बनाये रखने तथा आगे बढ़ाने के लिए होते हैं।

मानव जीवन का प्रारम्भ व निरन्तरता जैविक आधार पर ही निर्भर है। जब शरीर स्वस्थ व उपयुक्त होगा, तभी जीवन निर्वाह एवं उसकी अग्रगति संभव होगी। इसी कारण मूल्यों के सोपान क्रम में सर्वप्रथम जैविक मूल्यों को स्थान दिया गया है। इसकी सार्थकता समाज की सहायता के बिना संभव नहीं है और इसी प्रकार जैविक व सामाजिक जीवन की वास्तविक, सार्थकता 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की प्राप्ति में निहित है। इसलिए आध्यात्मिक मूल्य को अन्तिम लक्ष्य के रूप में रखा गया है—

डॉ० मुकर्जी ने सामाजिक संगठन के चार आधारभूत प्रारूपों को भीड़, यथार्थ समूह, समाज तथा समुदाय एवं सामूहिकता के संदर्भ में प्रस्तुत किया है जिनकी चर्चा निम्नवत् करेंगे—

भीड़ (crowd)—यह एक ऐसा अस्थायी समूह है जो आदिम संबंधों व व्यवहारों को दर्शाता है। इसका उपयोग प्रायः आर्थिक, राजनीतिक सत्ता हथियाने के उद्देश्य से क्रान्ति उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इसमें व्यक्ति सीधी व त्वरित कार्यवाही द्वारा गलतियों, अपराधों तथा बुराईयों को तत्काल व अनायास दूर करने का प्रयास करता है। अतः यहाँ आदर्श मूल्य या नियम शून्य होते हैं।

ब-स्वार्थ समूह (interest group) डॉ० मुकर्जी के अनुसार इस प्रकार के समूह या समिति एक-दूसरे के स्वार्थपूर्ति हेतु संगठित होते हैं। उनका कहना है कि इनका संबंध अधिकांशतः ऐसे आंशिक, भाज्य तथा साधन मूल्यों से होता है जिसमें एक समुदाय के सभी लोगों की भागीदारी आवश्यक नहीं होती। उदाहरणार्थ एक श्रमिक संघ, पारस्परिक सहयोग, निष्पक्षता आदि मूल्यों पर आधारित हो सकता है, लेकिन ये मूल्य संघ के सदस्यों व उनके निजी उद्देश्यों की पूर्ति तक ही सीमित होते हैं।”

स- समाज तथा समुदाय (society and community)- समाज या समुदाय स्वार्थ समूहों की अपेक्षा सामाजिक संगठन के तार्किक नैतिक एवं विस्तृत प्रस्तुतीकरण को महत्वपूर्ण ढंग से स्पष्ट करते हैं। यही कारण है कि समाज या समुदाय में इच्छाओं, संवेगों तथा स्वार्थों का अधिक एकीकरण व्यक्ति के साथ व्यक्ति एवं स्वार्थ के साथ स्वार्थ का अधिक समायोजन दिखायी पड़ता है। समाज या समुदाय न्याय एवं समानता के मूल्यों की अभिव्यक्ति करते हैं।

द-सामूहिकता (collectiveness)- इसको मुकर्जी ने सामाजिक संगठन का एक ऐसा श्रेष्ठतम स्वरूप माना है। जो कि सचेत अनुशासन, उच्च स्तरीय बुद्धि तथा विवेक का परिणाम है। इसमें सार्वभौम सद्भाव, अपने कर्तव्यों के प्रति आन्तरिक निष्ठा, स्वार्थवाद पर परार्थवाद की विजय परिलक्षित होती है तथा प्रेम, सामाजिक उत्तरदायित्व, समानता, सहयोग तथा सामूहिकता के मूल्य निहित हैं।

उपरोक्त भीड़, स्वार्थ समूह, समाज तथा समुदाय एवं समुदाय से संबंधित तत्वों की चर्चा डॉ० मुकर्जी के इन पर की गयी चर्चा से पूर्व भी स्पष्ट की गयी है।

1.17 मूल्यों के नियम (law of value)

डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी कृति *the social structure of values* 1949 में कुछ नियमों का उल्लेख किया। जिनको निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है—

1. सामाजिक नियंत्रण एवं समर्थन के कारण मानवीय प्रेरणाएं (human motivation) मूल्यों में परिवर्तित हो जाती है।
2. मौलिक मूल्यों की संतुष्टि हो जाने पर मानव में इन मूल्यों के प्रति उदासीनता पैदा हो जाती है और समाज व संस्कृति में नवीन इच्छाएं साधन या लक्ष्य ढूंढे जाते हैं, जिनसे नवीन मूल्यों का जन्म होता है। इस प्रकार मूल्यों को चक्र नियम (cycle of values) का नियम पनपता है।
3. मूल्यों के पारस्परिक अन्तःक्रिया के कारण वे आपस में घुल मिल जाते हैं व अनेक प्रकार के सम्मिलित (combination) को उत्पन्न करते हैं
4. विभिन्न मूल्यों में प्रतिस्पर्द्धा के कारण संस्तरण पाया जाता है।
5. मूल्यों से उत्पन्न संघर्ष के कारण व्यक्ति अपनी शिक्षा, अनुभव व आदर्श नियमों के आधार पर उपयुक्त मूल्यों का चुनाव करता है।
6. समाज या संस्कृति मानवीय मूल्यों को मौलिक प्रतिमान प्रदान करते हैं।
7. मूल्यों में वैयक्तिकता, विभिन्नता और अनूठापन पाया जाता है, जिनका चयन व्यक्ति बुद्धि, आवश्यकता, आदत, क्षमता इत्यादि के आधार पर करता है।
8. सामाजिक पर्यावरण, समूह, संस्था आदि में परिवर्तन के साथ-साथ मानवीय मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं।

1.18 मूल्यों के महत्व (Importance of values)

डॉ० राधाकमल मुकर्जी की सम्पूर्ण विचारधारा में समाज तथा व्यक्ति के जीवन में मूल्यों के अत्यधिक महत्व को दर्शाने का एक सफल प्रयास है। उनका मानना था कि समाज मूल्यों का एक संगठन एवं संकलन है। 'आपके मतानुसार मूल्य सामाजिक क्रिया में सामूहिक अनुभव होते हैं जिनका निर्माण वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के प्रत्युत्तरों तथा मनोवृत्तियों द्वारा होता है। यही मूल्य समाजों के निर्माण के साथ सामाजिक संबंधों को संगठित करते हैं।

मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए मुकर्जी ने कहा है कि "सामाजिक विज्ञानों के लिए मूल्यों का वही महत्व है जो भौतिकशास्त्र के लिए गुरुत्वाकर्षण का, शरीर विज्ञान के लिए पाचन क्रिया तथा रक्त संचार का।" गति, गुरुत्वाकर्षण एवं संचार को प्राकृतिक घटनाओं से पृथक करके माप कर एक निश्चित सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, लेकिन मूल्यों को जीवन, बुद्धि एवं समाज से अलग नहीं किया जा सकता। समाज के अस्तित्व को बनाये रखने, आधारभूत

इच्छाओं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सामाजिक मूल्य सामाजिक एकता, संगठन, नियंत्रण, अनुशासन बनाए रखने के लिए आवश्यक है। सर्वोच्च स्तर के मूल्यों को अपनाकर ही व्यक्ति स्वयं को आदिकालीन बर्बर स्तर से पृथककर सुसंस्कृत व सभ्य स्तर तक पहुंचा सकता है। अतः सामाजिक मूल्यों के अभाव व्यक्ति के जीवन का अस्तित्व ही नहीं है। मुकर्जी के सामाजिक मूल्यों की विस्तृत व्याख्या करने के पश्चात यहां इन मूल्यों के महत्व व उपयोगिता पर चर्चा की जा रही है जो निम्नवत् है—

1—समाज में एकरूपता— सामाजिक मूल्य सभी समाज में रहने वाले व्यक्तियों को समान व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं, क्योंकि सभी सामाजिक प्राणी इन प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही व्यवहार व आचरण करते हैं, जिससे समाज में व्यवहारों व सामाजिक संबंधों में समानता व एकरूपता पायी जाती है। अर्थात् समाज में एकरूपता स्थापित करने के लिए मूल्य अत्यधिक उपयोगी हैं।

2— व्यक्ति के लिए महत्व— जैसा कि पूर्व में चर्चा की गयी है कि व्यक्ति व मूल्य घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। सामाजिक मूल्य समाज व समूह की देन होते हैं और सामाजिकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को इन मूल्यों को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में सहायता प्रदान कर उनके व्यवहार व आचरण को समाज के अनुकूल बनाती है। मूल्य व्यक्ति का सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन, उनके व्यवहार प्रतिमानों में एकता, सामूहिक एकीकरण कर व्यक्तित्व संरचना को परिभाषित व नियंत्रित करते हैं।

3— सामाजिक संगठन एवं एकीकरण— सामाजिक मूल्यों द्वारा समाज में ऐसे स्वीकृत एवं प्रतिमानों का जनम होता है जिनका सभी द्वारा अधिकांश रूप से अनुसरण किया जाता है। समान आदर्श, समान व्यवहार एवं मूल्यों को स्वीकार करने के पश्चात ही आत्मीयता व सामुदायिक भावना विकसित होती है। समान मूल्यों का विश्वास व्यक्तियों में समीपता लाता है और परस्पर एक सहयोग प्रक्रिया में वृद्धि होती है। जॉनसन के अनुसार—“मूल्य व्यक्ति को या सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रणाली को एकीकृत करने में सहायक होते हैं।”

4—सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन— सामाजिक मूल्यों द्वारा ही व्यक्ति समाज में स्वयं का मूल्यांकन करने में समर्थ होते हैं तथा संस्तरण में वे कहां स्थित हैं इसकी भी जानकारी प्राप्त करते हैं। अर्थात् समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन करने में मूल्य महत्वपूर्ण व उपयोगी हैं।

5—भौतिक संस्कृति के महत्व को बढ़ाने में मूल्य महत्वपूर्ण हैं—भौतिक संस्कृति के कुछ तत्व महत्वपूर्ण न होने के पश्चात् भी उन्हें सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत शामिल किया जाता है, क्योंकि लोगों की रुचि उन वस्तुओं को रखने में होती है जैसे—टेलीविजन, टेलीफोन या अन्य आधुनिक सुविधा संबंधी उपकरण जो व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण नहीं भी हो सकते हैं। लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि के लिए वे इनमें रखना चाहते हैं। अतः सामाजिक मूल्यों की मान्यता के अनुसार ये वस्तुएँ उपयोगी व प्रतिष्ठासूचक हैं।

6— मूल्य सामाजिक आदर्श, विचार एवं व्यवहारों प्रतीक रूप में— सामाजिक मूल्यों में निहित आदर्श, क्योंकि समाज द्वारा स्वीकृत व मान्यता प्राप्त होते हैं। अतः मूल्यों को उस समाज के आदर्श, विचारों एवं व्यवहारों का प्रतीक माना जाता है। ये लोगों के विचारों व व्यवहारों को निश्चित व निर्धारित करते हैं।

7— सामाजिक भूमिकाओं के निर्देशन में सहायक— सामाजिक मूल्य विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण भी करते हैं समाज में पाये जाने वाले मूल्यों में पृथकता होती है व जिससे सामाजिक भूमिकाओं में भी अंतर परिलक्षित होता है। जैसे—भारत में पति—पत्नी की भूमिका विदेशों

के पति-पत्नी से इसलिए भिन्न होती है, क्योंकि दोनों जगहों की मूल्य व्यवस्था में अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि मूल्य कही भूमिका निर्वाह का निदर्शन करते हैं।

8-सामाजिक नियंत्रण में सहायक-सामाजिक नियंत्रण के सशक्त साधन के रूप में मूल्यों का विशेष महत्व है। ये समाज व व्यक्ति दोनों को सामाजिक सामंजस्यता के लिए समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों का अनुसरण करने के लिए दबाव डालते हैं। ऐसा करने पर पुरस्कार व न करने पर दण्ड की व्यवस्था का प्रावधान सुनिश्चित है। जिससे मानव व समाज द्वारा उन्हीं कार्यों को करने पर बल दिया जाता है जो सामाजिक मूल्यों के अनुकूल होते हैं।

9-सामाजिक मूल्यों के अनुसार ही सामाजिक व्यवहार को अनुरूपता (conformity) तथा विपथगमन (deviance) में वर्गीकृत किया जा सकता है। जो समाज के अनुरूप होते हैं। उन्हें अनुरूपता तथा विपरित होने पर उन्हें विपथगमन कहा जाता है। सामाजिक मूल्य सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। कोई समाज इनके उल्लंघन की आज्ञा नहीं देता। ऐसा करने पर दण्ड सुनिश्चित होता है। अतः सामाजिक मूल्य सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामाजिक विघटन को रोकने के लिए महत्वपूर्ण है।

उपरोक्त उपयोगिताओं के होते हुए भी कभी-कभी मूल्यों से सामाजिक विघटन भी होता है। यदि ये समय व परिस्थिति के साथ परिवर्तित नहीं होते हैं या समाज के लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होते हैं तो लोग विद्रोही होकर ऐसे मूल्यों को तोड़ते हैं। जैसे भारतीय समाज के प्राचीन प्रचलित मूल्य जिनमें रूढ़िवादिता संकीर्णता, व्याप्त थी, जो पिछड़ेपन व विघटन का सूचक थी, जिनमें बाल विवाह, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, जागीर प्रथा, देवदासी प्रथा, कुली बेगार प्रथा प्रचलित थी। इन मूल्यों का त्याग कर लोगों ने नवीन मूल्यों को ग्रहण किया जो आवश्यक है।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। जिसे विद्यार्थियों की सुविधा के लिए संक्षेप में निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है-

- मूल्य समाज की एकरूपता, समानता स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण हैं।
- व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से मूल्यों को आत्मसात् कर सामाजिक प्राणी बनता है। इसलिए इसकी बहुत उपयोगिता है।
- मूल्यों द्वारा व्यक्ति की भूमिकाओं का निर्धारण होता है।
- सामाजिक मूल्यों के अनुकूल कार्यों के लिए पुरस्कार व विपरित कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था सुनिश्चित कर समाज विरोधी कार्यों पर अंकुश लगाया जाता है।
- मूल्य सामाजिक आदर्शों, विचारों एवं व्यवहार प्रतीकों के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।
- कौन किन परिस्थितियों में किस प्रकार की भूमिका का निर्वहन करेगा। इसकी व्यवस्था में मूल्य महत्वपूर्ण निर्देशन करने में सहायक होते हैं।
- मूल्य समानता, सामुदायिकता, एकीकरण, सामाजिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए उपयोगी हैं।
- मूल्य प्राचीन रूढ़िवादी, संकीर्ण मूल्यों का त्याग कर नवीन व वर्तमान मूल्यों को अपनाने के लिए विद्रोह भी करते हैं।

1.19 गैरमूल्य क्या हैं? (what is disvalues)

डॉ० मुकर्जी ने मूल्यों की विस्तृत व्याख्या के साथ-साथ गैरमूल्य या अपमूल्यों की भी चर्चा की है। वे नकारात्मक मूल्यों को ही गैर मूल्य मानते हैं। व्यक्ति संबंधी असमान्यताओं की बात करते हुए उन्होंने लिखा है—“सामाजिक व्यवहार के सभी आयामों के विपरित व्यक्ति तथाकथित कुछ लोकप्रिय गैर मूल्यों द्वारा प्रभावित होकर सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन करता है या उन्हें अस्वीकार कर उनके विरुद्ध आचरण करता है। यही अपमूल्य है। जब उदासीनता, शोषण, भ्रष्टाचार, उपेक्षा, द्वेष इत्यादि भावनाओं से ग्रसित व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के विपरित कार्य करना प्रारम्भ करता है तो उसे अपमूल्यों के रूप में देखा जा सकता है। गैर मूल्यों की प्रकृति को निम्नवत् समझा जा सकता है—

1—समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श व मानदण्डों की उपेक्षा करना— मूल्यों का आदर्श व मानदण्डों से गहरा रिश्ता है, क्योंकि मूल्यों के द्वारा ही इनके आधारों का निर्धारण सुनिश्चित होता है। मूल्यों में समाज कल्याण की भावना निहित होती है। इसलिए समाज द्वारा उन मूल्यों के अनुकूल चलने की व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है। जो समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। लेकिन जब वैयक्तिक स्तर पर इन स्वीकृत मूल्यों के स्थान तथाकथित कुछ लोकप्रिय गैर मूल्यों का प्रयोग किया जाता है। तब इन्हें अपमूल्य कहते हैं।

2— स्थापित मानकों के विपरित आचरण करना— समाज को संगठित व सुव्यवस्थित रखने के लिए समाज द्वारा स्थापित मानक जैसे—विश्वास, मान्यताएं, नैतिकता इत्यादि का अनुकूलन करने के लिए मूल्यों की स्थापना होती है। लेकिन इसका अनुपालन या अनुसरण न कर व्यक्ति शोषण, भ्रष्टाचार, उपेक्षा, द्वेष इत्यादि भावनाओं से ग्रसित व्यवहार करता है, तब इसे अपमूल्य के रूप में देखा जा सकता है।

3—नकारात्मक सामाजीकरण की प्रक्रिया को अपनाना— एक शिशु को एक सामाजिक प्राणी बनाने में सामाजीकरण की प्रक्रिया अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। व्यक्ति समाज में स्वीकृत सकारात्मक मूल्यों को आत्मसात् कर सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है। लेकिन कभी-कभी व्यक्ति की नकारात्मक सोच उसके व्यक्तित्व को नकारात्मक दिशा की ओर ले जाती है। और वह इसी दिशा में समाजीकृत होने लगता है। फलतः मूल्यों की विपरित कर्तव्य करने की प्रेरणा को उसके द्वारा दैनिक व्यवहार में अपनाया जाने लगता है, जिन्हें गैर मूल्य कहा जाता है।

4—विकृत भावों का प्रतिनिधित्व—जब हम गैर मूल्यों की चर्चा करते हैं,तो स्पष्ट हो जाता है कि वह व्यक्ति विकृत प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है, जो स्वयं व्यक्ति व समाज को विघटन की ओर ले जाता है। इन विकृत प्रवृत्तियों को राग-द्वेष, घृणा, शोषण, बेईमानी, भ्रष्टाचार, दुराचार, उदासीनता, उपेक्षा आदि के रूप में देखा जा सकता है, जो कि गैरमूल्यों की श्रेणी में आते हैं।

5—समाज विरोधी कार्य करना— समाज विरोधी कार्यों को भी गैर मूल्यों के अन्तर्गत शामिल किया जाता है, क्योंकि सांस्कृतिक लक्ष्य व संस्थागत साधनों में असामंजस्य स्थापित करना, आदर्श नियमों के प्रतिकूल चलना, स्थापित मानकों को अस्वीकार करना तथा नकारात्मक प्रवृत्तियों को अपनाकर समाज विरोधी आचरण करना सभी गैर मूल्य हैं।

उपरोक्त प्रकृति के आधार पर स्पष्ट होता है कि जब व्यक्ति द्वारा समाज में स्वीकृत नियमों का उल्लंघन, स्थापित मानकों को अस्वीकार, नकारात्मक दिशा की ओर अग्रसर होना, समाज विरोधी कार्य करना, जैसी प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं तो उन्हें गैर मूल्य या अपमूल्य के रूप में देखा जा सकता है।

1.20 गैरमूल्य के कारण (factors of disvalues)

डॉ० मुकर्जी मानते थे कि व्यक्ति में नकारात्मक सोच या और मूल्यों की उत्पत्ति के तीन कारण या अवस्थाएँ मुख्य हैं—

1—शारीरिक कष्ट—डॉ० मुकर्जी मानते थे कि व्यक्ति को उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित रखने कुपोषण का शिकार होने व जीवनचर्या में असुविधा होने के कारण गैर मूल्यों का जन्म होता है। इसके कारण मानव में परिपक्वता की कमी हो जाती है। उसका मानसिक विकास नहीं हो पाता है। अर्थात् रोटी, कपड़ा, मकान का अभाव, सर्दी—गर्मी में सुरक्षा का अभाव बीमारी, शारीरिक कष्ट इत्यादि गैर मूल्यों की उत्पत्ति के शारीरिक कारण हैं।

2—मानसिक तनाव व संघर्षों का शिकार— ये स्थिति तब गैर मूल्यों को जन्म देती है, जबकि व्यक्ति प्रचण्ड मानसिक तनावों व संघर्षों का शिकार बन जाता है। ये स्थितियाँ तब उत्पन्न होती हैं। जब भोजन, प्रेम—प्रतिष्ठा, प्रस्थिति तथा सुरक्षा विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति में गम्भीर बाधा व निराशा होती है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य व आत्मसंतोष के लिए मानसिक सुरक्षा आवश्यक है। इसके अभाव में व्यक्ति विकृत मूल्यों के एक समूह को प्राप्त कर लेता है और इसके प्राप्त करने के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। अतः ये विकृत मूल्य और इन्हें पाने के लिए किया गया संघर्ष दोनों ही अपमूल्य को विकसित करते हैं।

3— उपेक्षा, तिरस्कार व असमायोजन के कारण— डॉ० मुकर्जी के अनुसार मानव मस्तिष्क इतना जटिल व लचीला होता है कि संघर्षात्मक परिस्थितियों में व्यक्ति खाने—पीने तथा नशा करने की अतिक्रिया व अतिपरितुष्टि में लग जाता है। अपने दुःख—दर्द व मानसिक तनाव को दूर करने के लिए वह शराब में दिन—रात डूबकर अपने स्वास्थ्य व शरीर का हानि पहुँचाता है। ये सब मूल्यों के विकृतिकरण व गैर मूल्य को जन्म देते हैं, जो समाज में उपेक्षा, तिरस्कार व असमायोजन के कारण उत्पन्न होते हैं।

1.21 मूल्य व गैर मूल्य में अंतर (Difference between values and disvalues)

पूर्व में हमने मूल्यों व गैरमूल्यों पर चर्चा की है, जिससे स्पष्ट होता है दोनों में अन्तर है। अतः इस अन्तर को विद्यार्थियों को समझाना आवश्यक है। इसे निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है—

1. सामाजिक मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श, मानदण्ड पर आधारित होते हैं, जिनका पालन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श मानदण्डों को अस्वीकार करना या उनका पालन न करना गैर मूल्य हैं।

2. सामाजिक मूल्य में व्यक्तियों से स्थापित, मानकों, तरीकों, विश्वासों मान्यताओं पर चलने की अपेक्षा की जाती है। गैरमूल्यों का अनुसरण करने वाले हमेशा इन स्थापित मान्यताओं के विपरित आचरण करते हैं।
3. समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों को स्वीकार करने पर व्यक्ति का सकारात्मक सामाजीकरण होता है, जबकि गैर मूल्य नकारात्मक सामाजीकरण के द्योतक हैं।
4. समाज हमेशा सामाजिक कल्याण के लिए सामाजिक हित में कार्य करने की प्रेरणा देते हैं, जबकि गैर मूल्य समाज विरोधी कार्यों के रूप में जाने जाते हैं।
5. मूल्यों में सत्यता, ईमानदारी, प्रेम, दादर्श जैसे तत्वों की प्रधानता रहती है, जबकि घृणा, द्वेष, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, गैर मूल्यों के तत्वों के रूप में स्थापित होते हैं।
6. मूल्य व्यक्ति व समाज को संगठित करते हैं, जबकि अपमूल्य व्यक्ति, समाज दोनों के विघटन के रूप में देखे जा सकते हैं।
7. मूल्य जहाँ संस्कृति के संरक्षक होते हैं, वहीं अपमूल्य साँस्कृतिक विघटन के रूप में देखे जा सकते हैं।
8. मूल्य कानून तथा सामाजिक संहिताओं का पालन तथा गैर मूल्य इनकी अवहेलना, अवमानना तथा उल्लंघन करने पर आधारित हैं।
9. अन्त में मूल्यों पर व्यक्ति, समाज, देश, राष्ट्र सभी के विकास एवं प्रगति में सहायक हैं, तो गैर मूल्य इसमें अवरोध उत्पन्न करने के प्रतीक।

गैर मूल्यों को रोकने के लिए डॉ० मुकर्जी मानते थे कि इसके लिए सुधारात्मक व रचनात्मक उपायों का प्रयोग आवश्यक है। नकारात्मक सामाजीकृत व्यक्ति का पुर्नसामाजीकरण किया जाना चाहिए। सामूहिक अनुकूलन अपमूल्यों का सर्वोत्तम निदान है।" मूल्य व गैर मूल्यों को कुछ उदाहरण द्वारा विद्यार्थियों की सुविधा के लिए निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है—

मूल्य	अपमूल्य
सत्य की सदा विजय होती है।	प्रेम और राजनीति में कुछ भी अनुचित नहीं होता।
क्षमादान सर्वोत्तम दान है।	खून का बदला खून।
निर्बल के बल राम।	जिस की लाठी उसका भैंस।
परिश्रम का फल मीठा होता है।	जो भाग्य में होगा मिलेगा।
जियो और जीने दो।	मारो और मरो।
स्वास्थ्य ही सम्पदा है।	खाओ पिओ मौज उड़ाओ।

उपरोक्त मूल्य—गैर मूल्य के अन्तर को जानने के पश्चात यह जानना भी आवश्यक है कि इन मूल्यों की उत्पत्ति कैसे होती है? डॉ० मुकर्जी ने इस पर अपने क्या विचार रखे हैं। इसकी चर्चा करेंगे—

1.22 सारांश

अब तक डॉ० राधाकमल मुकर्जी के जीवन परिचय उनकी कृतियों, उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्यों के सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा की गयी। इसमें मूल्यों का अर्थ, परिभाषा, मूल्यों का उद्देश्य, मूल्य, मूल्यों का उद्भव एवं विकास, सामाजिक मूल्यों के प्रकार, सामाजिक जीवन में मूल्यों का गठन, बाह्यता एवं बाध्यता, मूल्य का अर्थ एवं उत्पत्ति, मूल्य एवं प्रतीक, व्यक्ति समाज एवं मूल्य, मूल्यों का सोपान एवं संस्तरण, मूल्यों के नियम, मूल्यों का महत्व, गैर मूल्य क्या हैं?, गैर मूल्यों के कारण, मूल्य एवं गैर मूल्य में अंतर पर प्रकाश डाला गया। इसके साथ ही गैर मूल्य या अपमूल्यों की विवेचना कर, गैर मूल्यों की अवधारणा अर्थात् गैर मूल्य क्या हैं? उनकी प्रकृति, मूल्य/गैरमूल्यों में अन्तर व गैरमूल्यों की उत्पत्ति या कारणों की विवेचना की गयी है। साथ ही विद्यार्थियों की सुविधा के लिए कुछ उदाहरणों के माध्यम से इन दोनों के बीच पाए जाने वाले अन्तर पर प्रकाश डाला गया है।

1.23 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान (Social Ecology)

यद्यपि राधाकमल मुकर्जी की पहचान विशेष रूप से मूल्यों का प्रतिपादन करने के कारण है, लेकिन सामाजिक परिस्थिति विज्ञान के क्षेत्र में किये गये उनके कार्यों का अध्ययन करना भी विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र के बीच सीमा रेखाओं को मिटाने की दिशा में जो प्रयास डॉ० मुकर्जी द्वारा किया गया, उसकी स्पष्ट छाप उनके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक परिस्थिति विज्ञान संबंधी विचारों में दृष्टिगत होता है।

1.24 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान की अवधारणा (concept of social Ecology)

परिस्थितिशास्त्र अथवा परिस्थितिकी शब्द की रचना व प्रयोग सर्वप्रथम जर्मन जीवशास्त्री विद्वान अर्नस्ट हैकल ने 1980 में किया। अंग्रेजी भाषा के Ecology, यूनानी शब्द का oikas से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ घर, निवास स्थान, आवास से है। अर्थात् परिस्थितिशास्त्र मनुष्य एवं अन्य जीवों के निवास का अध्ययन है। यह दो शब्द eco और logy से मिलकर बना है, जिसमें Eco का तात्पर्य पर्यावरण से संबंधित तथा logy का तात्पर्य ज्ञान की शाखा या विज्ञान से है। अतः परिस्थितिशास्त्र पर्यावरण का अध्ययन करने वाली ज्ञान की एक शाखा है।

परिस्थिति की जीवन प्राणियों, उनके पर्यावरण व संबंधों का अध्ययन वर्तमान में पौधों का जीवों का और मनुष्यों का परिस्थिति विज्ञान तीन शाखाएँ विकसित हो चुकी हैं परिस्थिति विज्ञान में समस्त पृथ्वी व उसका परिवेश सम्मिलित है। यह शब्द वनस्पतिशास्त्र में पौधों व उनके भौतिक पर्यावरण के बीच पाये जाने वाले संबंधों को स्पष्ट करता है? जीव विज्ञान में पशुओं-जीवधारियों की भौतिक परिस्थितियों का अध्ययन करता है। पौधों और जानवरों की परिस्थितिकी उनके व उनके पर्यावरण का अध्ययन है। पौधे और पशु अपने चारों तरफ की भौतिक दशाओं से प्रभावित होते हैं व अपने पर्यावरण से सामन्जस्य स्थापित करते हैं।

जहाँ तक मानव का प्रश्न है। उसके चारों ओर की भौतिक और सामाजिक दशाएँ उसे प्रभावित करती हैं और एक सामाजिक प्राणी होने के नाते वह स्वयं को पर्यावरण के अनुकूल ढालता है। इस प्रकार वह पर्यावरण निर्माण की क्षमता भी रखता है। मनुष्य पर्यावरण से केवल प्रभावित ही नहीं होता, बल्कि स्वयं भी पर्यावरण को प्रभावित करता है। अतः स्पष्ट है कि परिस्थिति विज्ञान

मानव व उसके पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पार्क एवं बर्गस (R.D.Park and E.W.Burgess) ने 1925 में किया था।

सामाजिक परिस्थिति शास्त्र की परिभाषा (definition of Social Ecology)—कुछ विद्वानों द्वारा सामाजिक परिस्थिति शास्त्र को अपनी परिभाषा के माध्यम से निम्नवत् स्पष्ट किया गया है— फेयरचाइल्ड समाजशास्त्र शब्दकोश के अनुसार—सामाजिक परिस्थिति ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें मानव निवास वितरण और उन घटनाओं का विवेचन व अध्ययन होता है, जो सामाजिक और परिस्थिति शास्त्रीय दोनों की परस्पर क्रिया (Interaction) की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

कंसाइज ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्कोश के अनुसार— इसमें दो परिभाषाओं का उल्लेख हुआ है—

1. यह जीव विज्ञान की वह शाखा है। जो जीवों तथा उनके पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों की जानकारी देती है।
2. सभी आपसी संबंध सामूहिक तौर पर परिस्थितिकी कहे जाते हैं। पर्यावरण और जीवों के आपसी संबंध द्विपक्षीय और बहुत संवेदनशील हैं इससे जीवों एवं उनके परिवेश के बीच सन्तुलन रहता है।

डॉ० आर० के मुकर्जी के अनुसार—“परिस्थितिज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसमें एक प्रदेश विशेष की परिस्थितिगत अवस्थाओं, मानवीय संबंधों, व्यवहारों, सामाजिक संस्थाओं एवं मानवीय अनुकूलन की प्रक्रियाओं के बीच पाए जाने वाले अन्तर्संबंधों का विवेचन व विश्लेषण किया जाता है।”

थियोडरसन एवं थियोडरसन के अनुसार—“परिस्थितिशास्त्र मानव और उसके पर्यावरण का अध्ययन है।”

पार्क के अनुसार—“परिस्थितिशास्त्र मानव संगठन के उप सामाजिक (sub-social) जैविक स्तर अर्थात् एक स्तर के संगठन का जो कि अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा अवैयक्तिक और अनियोजित प्रतिस्पर्द्धात्मक सहयोग पर आधारित है का अध्ययन है।”

क्यूबर (J.E.CUBER) सामाजिक परिस्थितिकी किसी समुदाय में मनुष्य और मानव संस्थाओं के संबंध और उनसे सम्बद्ध क्षेत्रीय प्रतिमानों का अध्ययन है।”

मैकाइवर एवं पेज (Maclver and Page)—“परिवार के संगठन से लेकर मानसिक घटनाओं जैसी सभी विशेषताओं को ये दशाएँ प्रभावित करती हैं। व्यक्ति इन परिस्थितियों के अनुसार अपने सामूहिक जीवन से समायोजन करने के अवसर प्राप्त करता है।”

आर्गबर्न व निमकॉफ (Orgburn and Nimkoff)—मानव परिस्थितिकी सामान्य परिस्थितिकी ही एक शाखा है, लेकिन स्पष्ट रूप से यह मानव प्राणियों और उनके पर्यावरण के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करती है। यद्यपि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है, लेकिन मानव परिस्थितिकी व्याख्या करने वाले विद्वान विशेष रूप से मनुष्य की क्षेत्रीय व्यवस्थाओं तथा उसके द्वारा सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों से संबंधित है।”

उपरोक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिस्थितिकी ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें पर्यावरण, पारस्परिक संबंधों और अन्तःक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। सम्पूर्ण पर्यावरण में मानव निर्मित और भौगोलिक (प्राकृतिक व्यवस्था) समाविष्ट है। मनुष्य के जीवन पर सम्पूर्ण पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।

1.25 सामाजिक परिस्थिति की विशेषताएँ (Characteristics of Social Ecology)

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर परिस्थितिकी विशेषताओं पर चर्चा होगी जो निम्नवत् हैं—

- इसके अन्तर्गत मानव व उसके पर्यावरण का अध्ययन होता है।
- निश्चित क्षेत्र में निवासित जनसंख्या के संगठन का अध्ययन इसकी विशेषता है।
- इसमें मानव पर भौगोलिक एवं सामाजिक—सांस्कृतिक कारकों के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।
- परिस्थितिकी प्रक्रियाएँ—प्रतिस्पर्धा, सहयोग, जनसंख्या का केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण से संबंधित अध्ययन शामिल होता है।
- समुदाय की संरचना, गतिशीलता का अध्ययन करना भी इसकी विशेषता में शामिल है।
- इसमें पर्यावरण एवं सांस्कृतिक कारकों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

1.26 सामाजिक परिस्थिति का महत्व (Importance of Social Ecology)

आधुनिक समय में औद्योगिकीकरण, नगरीकरण की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक परिस्थिति के अध्ययन का महत्व बढ़ता जा रहा है। किसी भी समुदाय के जीवन का अध्ययन उस समुदाय की परिस्थितिकी को समझे बिना संभव नहीं है। अतः इसकी महत्ता पर निम्नवत् प्रकाश डालेंगे—

1. किसी भी सामुदायिक जीवन के लिए परिस्थितिकी का अध्ययन आवश्यक— टामस ने परिस्थिति के महत्व को स्वीकारते हुए व्यक्ति को अपनी परिस्थितिकी का प्रतिरूप कहकर संबोधित किया है तथा स्ट्रनर का विचार है कि समुदायों का उदय व विकास उनकी परिस्थिति पर निर्भर करता है। दोनों ही विचार स्पष्ट करते हैं कि किसी भी समुदाय के अध्ययन में वहाँ की परिस्थितिकी का विशेष महत्व है।
2. व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता को सुदृढ़ करती है—वास्तव में किसी विशेष क्षेत्र की परिस्थिति की जैसी होती है, वहाँ पारस्परिक संबंध मनोवृत्तियाँ, व्यवहार के ढंग तथा रहन-सहन का स्तर भी उसी प्रकार का बन जाता है। परिस्थितिशाली तो मानव व्यवहारों व मानसिक प्रक्रियाओं जैसे—आत्महत्या, अपराध आदि को भी परिस्थितिकी की देन मानते हैं अतः इन मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करने के लिए इसे महत्वपूर्ण माना जाता है।
3. परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण—समुदाय में बहुधा देखने को मिलता है कि क्षेत्रीय परिवर्तन के साथ ही व्यक्ति की आदतों और विचारों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं। पीढ़ियों से गाँवों में रहने वाला व्यक्ति नगर में रहकर जाने से स्वतंत्र विचारों का हो जाता है। और नगर का व्यक्ति

- गाँव की ओर जाने पर अपने विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन महसूस करता है। व्यक्ति में होने वाले इन परिवर्तनों के अध्ययन के लिए परिस्थितिकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।
4. **नियोजन के लिए महत्वपूर्ण**—परिस्थितिशास्त्र का ज्ञान गन्दी बस्तियों पर रोक, नगर नियोजन एवं समुचित सामुदायिक जीवन के विकास में हमारे मार्गदर्शक के रूप में कार्य कर सकता है। इससे वातावरण की स्वस्थता एक स्वस्थ नियोजन को जन्म देती है।
 5. **परिस्थितिकी एवं मानव में एकीकरण के लिए महत्वपूर्ण**—एक स्वस्थ सामुदायिक जीवन के लिए आवश्यक है कि परिस्थितियाँ एवं मानव के कार्य—कलापों के बीच एकीकरण एवं सन्तुलन हो, लिप्ले ने अच्छे समुदाय के निर्माण में प्राकृतिक वनस्पति, भूमि, पशु, जगत, जलवायु आदि स्थानीय कारकों से समायोजन के महत्व का उल्लेख किया है।
 6. **औद्योगीकरण/ नगरीकरण की वृद्धि में सामाजिक परिस्थितिकी का महत्व**—वर्तमान समय में जब औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की बढ़ती क्रान्तिकारी प्रक्रिया में यातायात व संचार साधनों के विकास ने नगरों के विकास एवं विनाश में योग दिया है। स्थानीयता, कूपमण्डूपता समाप्त हुई है। विश्व छोटा होता जा रहा है, एक क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक विशेषताओं को तय करने में वहाँ की परिस्थितिकी का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में योगदान रहा है।

उपरोक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि परिस्थितिकी समुदाय, पारस्परिक संबंधों, मनोवृत्तियों, व्यवहारों, एकीकरण, समायोजन आदि के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

सामाजिक परिस्थितिकी की अवधारणा, विभिन्न विचारकों की परिभाषा, इसकी विशेषताओं व महत्व को जान लेने के पश्चात राधाकमल मुकर्जी के सामाजिक परिस्थितिकी संबंधी विचारों पर चर्चा की जायेगी—

1.27 राधाकमल मुकर्जी के सामाजिक परिस्थितिकी संबंधी विचार (view R.K.Mukerjee about Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी के अनुसार—“सामाजिक परिस्थिति विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें एक प्रदेश विशेष की परिस्थितिगत अवस्थाओं, मानवीय संबंधों, व्यवहारों, सामाजिक संस्थाओं एवं मानवीय अनुकूलन की प्रक्रियाओं के बीच पाए जाने वाले अन्तर्संबंधों का विवेचन एवं विश्लेषण आता है। मानवीय सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संस्थाओं तथा अनुकूलन की मानवीय समस्याओं, प्रादेशिक संकुल के अन्तर्गत समझा जा सकता है।”

डॉ० मुकर्जी द्वारा सामाजिक परिस्थिति विज्ञान में व्यवहारिक व समुदाय परिस्थितिकी का उल्लेख किया है। व्यवहारिक परिस्थिति में जनसंख्या, प्राकृतिक साधनों, वनस्पति एवं पशु संसार के परिस्थितिगत संतुलन के साथ सामनजस्य करते हुए मानव के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन तथा समुदाय परिस्थितिकी में मानव भूगोल, मानव जीवशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज मनोविज्ञान तथा तकनीकी के साथ परिस्थिति विज्ञान की अन्तः क्रिया के कारण प्राप्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण आता है। डॉ० मुकर्जी के अनुसार परिस्थितिगत अवस्थाओं में प्राकृतिक अवस्थाओं का बहुत महत्व है, जिनके साथ मनुष्य को आज भी अनुकूलन करना पड़ता है। प्रकृति के असन्तुलन से प्राकृतिक आपदाताएँ अवश्यमेव क्रियान्वित होती हैं। अतः प्राकृतिक अवस्थाओं और उसके लिए एक सीमा तक प्रकृति

के साथ तालमेल या सामंजस्यता बनाए रखना कितना अनिवार्य होता है। इत्यादि की चर्चा निम्नवत् करेंगे—

1. **जनसंख्या का प्रभाव—** प्राकृतिक अवस्थाएँ अधिकांशतः जनसंख्या से प्रभावित होती हैं। जहाँ की भौगोलिक दशाएँ मानवीय प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से कर पाती हैं। वहाँ की जनसंख्या बहुत घनी होती है। यही कारण है कि गंगा, यमुना व सिन्धु नदी के मैदानों में आबादी का घनत्व सर्वाधिक है। जहाँ अनाज अधिक मात्रा में होता है और आधारभूत आवश्यकताओं में सरलता आ जाती है। इसके विपरित भोजन की दृष्टि से अनुपयुक्त स्थानों में जनसंख्या काफी कम होती है। हिमालय प्रदेश अंडमान, निकोबार, द्वीप व रेगिस्तान में इसी कारण जनसंख्या काफी कम होती है।
2. **मानव के मकान पर प्रभाव—** प्राकृतिक अवस्थाओं का प्रभाव मानव के मकान के स्वरूप व निर्माण सामग्री पर घनिष्ठ रूप से पड़ता है। अर्थात् अत्यधिक ठण्डे प्रदेशों में बन्द मकान या खिड़कियों का न होना पाया जाता है तो गर्म प्रदेशों में मकान खुले व हवादार बनाये जाते हैं। इसी कारण निर्माण सामग्री भी पर्यावरण द्वारा प्रभावित होती है।
3. **वेशभूषा पर प्रभाव—**प्राकृतिक अवस्थाएँ वेशभूषा को भी प्रभावित करती हैं, अर्थात् जहाँ सर्दी अधिक होती है, वहाँ की वेशभूषा ऊनी गरम, चुस्त होगी, तो गरम प्रदेशों में काटन, ढीले व हवादार कपड़ों का चलन है।
4. **खानपान का प्रभाव—**जहाँ पर जिस प्रकार के खाने-पीने की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उत्पादित होती हैं या पायी जाती हैं। वहाँ अधिकतर लोग इन्हीं चीजों का सर्वाधिक प्रयोग करते हैं, जैसे—बंगाल में चावल का, उत्तर प्रदेश और पंजाब में गेहूँ का प्रयोग सबसे अधिक होता है। इसी प्रकार शराब अधिक मात्रा में बनने से इटली—स्पेन, फ्रांस आदि में शराब का बहुतायत से प्रयोग किया जाता है।
5. **आर्थिक जीवन व संस्थाओं का प्रभाव—**रॉस के अनुसार—“प्रकृति समाज के सामान्य, आर्थिक लक्ष्यों को निश्चित करती है।” अर्थात् आर्थिक जीवन का भौगोलिक पर्यावरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ—एक विशेष प्रकार का उद्योग धन्धा उसी स्थान पर पनप सकता है, जहाँ कि उस उद्योग के लिए कच्चा माल तथा अन्य अनुकूल पर्यावरण उपलब्ध है। बिहार में लोहे की खाने होने के कारण लोहे के कारखाने तो महाराष्ट्र में कपास की खेती व नम जलवायु के कारण सूती कपड़ा मिलों का उद्योग पनप रहा है।
6. **धन सम्पत्ति पर प्रभाव—**धन सम्पत्ति पर भी प्राकृतिक अवस्थाओं के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। किसी देश की अनुकूल जलवायु, उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थों का अधिक मात्रा में पाया जाना एक विकसित व धनी देशी की ओर इशारा करता है। अमेरिका इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके साथ ही यह व्यवसायों को भी प्रभावित करती है। नदी—समुद्र के किनारे रहने वाले मछली व्यवसाय अधिक अपनाते हैं। उपजाऊ व अनुकूल भूमि वाले कृति तो जंगल में रहने वालों की आजीविका शिकार द्वारा संचालित होती है।
7. **सामाजिक संगठन व संस्थाओं पर प्रभाव—**सामाजिक संगठन व संस्थाएँ भी प्राकृतिक अवस्थाओं से इस प्रकार प्रभावित होती हैं कि जहाँ भौगोलिक पर्यावरण प्रतिकूल होता है। वहाँ पालन—पोषण की प्रक्रिया कठिन व जटिल हो जाती है। यही कारण है कि वहाँ बहुपति विवाह (polyandry) प्रथा पायी जाती है और कृषि प्रधान देशों में बहु पत्नी विवाह (polygyny) का प्रचलन रहा है।

8. **धर्मकला और साहित्य पर प्रभाव**— मैक्समूलर आदि विद्वानों का मानना है कि व्यक्ति जिस प्राकृतिक पर्यावरण में रहता है। उसके प्रति प्रम श्रद्धा उसको जीविका पालन में मदद करती है। व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं को देवता मानकर उन पर आस्था रखता है व उनका पूजन करने लगता है। अतः भौगोलिक पर्यावरण का धर्म पर प्रभाव पड़ता है। साथ ही कला, साहित्य के सृष्टिकर्ताओं के मस्तिष्क पर भी भौगोलिक पर्यावरण का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। उपरोक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि परिस्थितिगत अवस्थाओं में प्राकृतिक अवस्थाओं का अत्यधिक महत्व है।

1.28 सामाजिक परिस्थितिकी के प्रकार्य (functions of social ecology)

इसके पश्चात् डॉ० मुकर्जी द्वारा उल्लेखित सामाजिक परिस्थिति विज्ञान के प्रकार्यों पर प्रकाश डालेंगे, जो निम्नवत् तीन आधारों पर स्पष्ट किये गये हैं—

1. अन्तः प्रक्रिया में लगे मनुष्यों एवं अन्तःसंबंधित मानवीय संस्थाओं का एक प्रदेश विशेष के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया को स्पष्ट करना, जिसमें उस प्रदेश की मिट्टी, जलवायु, भूमि, प्रकृति आदि के साथ—साथ पेड़, पौधे व पशु समुदायों से भी अनुकूलन है।
2. उन स्थानिक (spatial) भोजन संबंधी संबंधों को खोज निकालना जिसमें कि परिस्थितिगत शक्तियों के संदर्भ में एक प्राकृतिक क्षेत्र में मनुष्य तथा मानवयी क्रिया—कलाप संगठित हैं।
3. एक प्रदेश विशेष में मनुष्यों तथा अनय जीवित निर्जीव समुदायों के संतुलनों एवं पारस्परिक दबावों को नापना और यह खोजना कि वे संतुलन व दबाव मानव के प्रभुत्व और स्थायित्व के लिए अनुकूल तथा प्रतिकूल सिद्ध होंगे।

1.29 परिस्थितिगत अवस्थाएँ एवं आदिकालीन समाज (primitive societies and ecological condition)

आदिकालीन समाज आज भी ज्ञान—विज्ञान व औद्योगिकीय दुनिया से काफी दूर है। जिसके कारण परिस्थितिगत, विशेषकर प्राकृतिक अवस्थाओं पर उनकी निर्भरता, उन अवस्थाओं के साथ उनका घनिष्ठ संबंध होता है। डॉ० मुकर्जी के अनुसार आदिकालीन समाज पर प्रस्तुत विचारों को विद्यार्थी निम्न बिन्दुओं के माध्यम से आसानी से समझ पायेंगे—

आदिकालीन समाजों में न केवल सामाजिक संगठन अपितु धर्म, जादू, परम्पराएँ, प्रथाएँ व विश्वास परिस्थितिगत मूल्यों द्वारा प्रभावित थे।

आदिकालीन समाजों में व्याप्त टोटमवाद का प्रचलन इसी सत्य को प्रमाणित करता है, क्योंकि टोटमवाद के अन्तर्गत विशिष्ट पशु, पेड़ पौधे आदि (जिससे टोटम माना जाता था) को मारना या नष्ट करना वर्जित था। यह प्रकृति से सामंजस्य का उदाहरण है।

डॉ० मुकर्जी के अनुसार टोटम की अनिवार्यता से सन्तुलन बनाये रखने का आदिकालीन समाज का यह महत्वपूर्ण प्रयास था, क्योंकि जिन जनजातियों के लिए ये पेड़—पौधे, पशु आदि महत्व रखते थे, उनकी संख्या उस प्रदेश में अल्प या सीमित थी। इसी प्रकार इन समाजों में व्याप्त जादू का उद्देश्य भी परिस्थितिगत पर्यावरण पर मनुष्य द्वारा प्रभुत्व जमाना था— जैसे मनुष्य ने पानी

बरसाने संबंधी प्रयास को वर्षा न होने पर लागू किया, इसी प्रकार नीलगिरी की टोड़ा जनजाति में भैंस शालाओं (जहां भैंसे रहती हैं) को इसलिए पवित्र मन्दिर मानते हैं, क्योंकि दूध से उनकी आजीविका का संचालन होता है। इसी आधार पर इनके समाजों में भैंस पालन व देखरेख संबंधी अनेक प्रथाओं व धार्मिक कर्मकाण्ड सन्तुलन की अनुकूलता के लिए स्थापित हो गये और आजीविका के साधन के संबंध में कोई खतरा भी नहीं रहा।

इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, वरुण, अग्नि, गंगा-यमुना इत्यादि को देवता के रूप स्वीकार करना भी प्रकृति के साथ मनुष्य द्वारा अनुकूलन की इच्छा को प्रकट करता है।

उपरोक्त आदिम कालीन सामाजिक व्यवस्था इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि इन समाजों में परिस्थितिगत शक्तियाँ (ecological forces) के विविध स्वरूपों के साथ संतुलन स्थापित करने का उपयोगी व सार्थक प्रयास किया जाता था। इन अवस्थाओं को डॉ० मुकर्जी द्वारा आदिकाल से आधुनिक तक तीन प्रमुख स्तरों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है—

1.30 परिस्थितिगत अवस्थाओं से अनुकूलन के प्रमुख तीन स्तर (three main stages of adjustment with ecological condition)

अ—प्रथम स्तर (first stage)-इसमें आदिम कालीन समुदायों की प्रकृति पर अत्यधिक निर्भरता के कारण उन पर परिस्थितिगत अनुकूलन का दबाव होता था, क्योंकि उनके पास इसका कोई विकल्प ही नहीं था। विज्ञान तर्क शक्ति का अभाव के कारण समस्त कार्य संयोग या अपरिचितता पर आधारित थे।

ब—द्वितीय स्तर (second stage)-इस स्तर पर मनुष्य की परिस्थितिगत संबंध की विशेषता तार्किक व क्रमबद्ध थी। संरक्षण भोजन, आवास तथा पूजा से संबंधित पर्यावरण के साज्जि उनका तार्किक व क्रमबद्ध अनुकूलन देखने को मिलता है।

स—तृतीय अवस्था (third stage)- आधुनिक व्यवहारिक परिस्थिति विज्ञान (modern applied ecology) से संबंधित है, जो कि जैविक परिस्थिति (bio ecologic ecology) के सहयोग से व्यक्ति का भविष्य में उत्तरोत्तर अग्रगति की आशा करता है। इसमें इस बात को स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति प्रकृति का दास नहीं, बल्कि सहयोगी है, जिसके माध्यम से वह समाज कल्याण व प्रगति के लिए कार्य कर सकता है।

मनुष्य की वैज्ञानिक तरक्की व सोच मनुष्य और उसकी परिस्थिति के बीच पारस्परिक संबंध को और भी अधिक घनिष्ठ व गहन करता है। परन्तु आधुनिक समय में ज्ञान-विज्ञान, औद्योगिकी की निरन्तर वृद्धि एवं प्रगति ने प्रकृति या प्राकृतिक चीजों से छेड़छाड़ कर ग्लोबल वार्मिंग जैसी परिस्थितियों को जन्म देकर प्रकृति व मानव की निर्भरता को कम किया है। इसके लिए अनुकूलन बनाये रखने की नितान्त आवश्यकता है। अतः डॉ० मुकर्जी द्वारा वनों के संरक्षण का आग्रह, फसलों के हेर-फेर का आग्रह व समन्वित विकास पर जोर देने की बात कही गयी है।

इसी के साथ विद्यार्थियों के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि मुकर्जी ने प्रादेशिक समाजशास्त्र का भी वर्णन किया है, जिससे संक्षिप्त रूप में जानने का प्रयास किया जायेगा।

1.31 प्रादेशिक समाजशास्त्र (Regional sociology)

डॉ० राधाकमल मुकर्जी द्वारा प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र का प्रारम्भ अपनी पुस्तक 'बाडरलैण्डस ऑफ इकॉनोमिक्स (Borderland of economics) में किया जो 1924 में लिखी गयी थी, लेकिन पुनः 1926 में अपनी कृति 'रिजनल सोसायोलॉजी' (Regional sociology) में इसे पूर्ण रूप से विकसित किया गया है।

1.32 प्रादेशिकता का अर्थ (Meaning of Regionalism)

डॉ० मुकर्जी के अनुसार—प्रादेशिक समाजशास्त्र एक ऐसा समाजशास्त्र है, जो एक भौगोलिक क्षेत्र में मानव जीवन के बीच संबंधों का अध्ययन है, जिसमें एक भौगोलिक क्षेत्र के विभिन्न अंगों व विभिन्न प्रदेशों के लोगों के सामाजिक जीवन एवं व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन होता है। मानव आचरण और समाज का प्रादेशिक आधार पर विश्लेषण एवं व्याख्या प्रादेशिकता का मुख्य विषय है। एक क्षेत्र में मौजूद परिस्थितियां मानव जीवन को प्रभावित एवं निर्देशित करती हैं अतः प्रादेशिक समाजशास्त्र विज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जो मानव जीवन कती एक विशेष अभिव्यक्ति है। जिसके द्वारा व्यक्ति अपने क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों द्वारा न केवल प्रभावित होता है, बल्कि ये उसे निर्देशित भी करती हैं।

उपरोक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि डॉ० मुकर्जी प्रादेशिकता की विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखते हैं—“प्रादेशिकता राष्ट्रीयता के अधीन है।” अर्थात् यह एक प्रदेश विशेष में निवास करने वाले लोगों अपने क्षेत्र के प्रति वह विशेष लगाव व अपनेपन की भावना है जिसे कुछ सामान्य, आदर्श, व्यवहार, विचार तथा विश्वास के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

1.33 प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन विषय (subject matter of regionalism or regional sociology)

डॉ० मुकर्जी ने प्रादेशिक समाजशास्त्र को विकसित कर उसके अन्तर्गत अध्ययन की जाने वाली सामाग्री का उल्लेख निम्नवत् किया है—

1. प्रादेशिक जीवन के ताने-बाने का अध्ययन।
2. प्रदेश तथा प्रादेशिक समूहों के संदर्भ में मानव परिस्थितिकी का अध्ययन।
3. सामाजिक प्रारूपों के प्रादेशिक आधार का अध्ययन।
4. सामाजिक एवं आर्थिक प्रारूपों के मध्य अनुकूलन का अध्ययन।
5. राजनीतिक संबंधों पर आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन।
6. प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन।

डॉ० मुकर्जी अपने सम्पूर्ण अध्ययन को इस सरल व सामान्य मान्यता के आधार पर स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक प्रदेश वहाँ के निवासियों के लिए समान व स्थिर विशिष्ट परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है। जो उसकी संस्कृति द्वारा किसी हद तक प्रभावित होती हैं। साथ ही डॉ० मुकर्जी ने प्रादेशिक समाजशास्त्र को जनता के एक सांचे के रूप में मान्यता दी है, जिसमें प्रदेश एक विशिष्ट

सामाजिक प्रारूप अथवा सामाजिक ढाँचे को जन्म देता है, जिन्हें स्पष्ट रूप में पहचाना जा सकता है।

1.34 प्रादेशिक समाजशास्त्र के आधारभूत तत्व (Postulates of regional sociology)

डॉ० मुकर्जी द्वारा प्रादेशिक समाजशास्त्र के तीन आधारभूत तत्वों की व्याख्या निम्नवत् की है—

1. प्रादेशिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाएँ आपस में जुड़ी हुई होती हैं। और ऐसा इन सभी संस्थाओं पर प्रदेश विशेष का सामान्य प्रभाव पड़ने के कारण होता है।
2. प्रादेशिक समाजशास्त्र जगह, कार्य तथा जनता के आपसी संबंधों का अध्ययन करके प्राप्त निष्कर्षों में नगरों एवं प्रदेशों में पाए जाने वाले सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है।
3. प्रादेशिक समाजशास्त्र में होने वाले अनुसंधान सामाजिक मानव शास्त्र व सामाजिक मनोविज्ञान के एकत्रित ज्ञान पर निर्भर करता है।

उपरोक्त मुख्य तीन आधारों की चर्चा के पश्चात् प्रादेशिकता की वास्तविकता पर डॉ० मुकर्जी के विचारों की चर्चा करेंगे—

1.35 प्रादेशिकता की वास्तविकता (realities of regionalism)

डॉ० मुकर्जी ने प्रदेश की वास्तविकताओं का उल्लेख किया है। उनका मानना था कि मानव के अपने प्रदेश विशेष से प्राकृतिक संबंधों के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक रिश्ते भी होते हैं और भावात्मक लगाव भी। जिस प्रदेश में व्यक्ति जन्म लेता है। उससे उसकी आत्मीयता होती है। जन्मभूमि, रीति-निवाज, भाषा, रहन-सहन, सब उसके अपने होते हैं। जिसके कारण वहां व्याप्त संस्कृति-जीवन, शैली, तकनीक इत्यादि को वे सरलता से आत्मसात् कर लेता है। अर्थात् प्रदेश व्यक्ति की प्रथम सांस्कृतिक पाठशाला है, जहाँ वह संस्कृति के पाठों को सीखता है। वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों से यद्यपि एक प्रदेश के संबंध दूसरे से बढ़ रहे हैं, लेकिन व्यक्ति अपने प्रदेश की संस्कृति को पकड़े रहता है। प्रादेशिक समाजशास्त्र में अंतर्देशीय व अनर्तप्रदेशी सामाजिक जीवन का भी अध्ययन किया जाता है।

मुकर्जी मानते थे कि क्षेत्रों व प्रदेशों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए इनके विकास से सम्पूर्ण राष्ट्र लाभान्वित होगा, क्योंकि पारिस्थितिकी सन्तुलन के लिए विकास की योजनाओं के समन्वय की जरूरत है, जिससे कि अधिक वृद्धि व परिस्थितिकी संतुलन स्थापित होगा।

प्रत्येक प्रदेश में उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा एवं साधन, उनके उचित उपयोग के लिए लोगों की कुशलता एवं संगठन से आर्थिक विकास या अपविकास पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि अपने आर्थिक विकास हेतु मनुष्य को शिकारी, पशुपालन, कृषि, औद्योगिक किसी भी अवस्था में प्रदेश की जलवायु, वनस्पति, खनिज, पशु-पक्षी इत्यादि का सामना करना पड़ता है। ये मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, मानसिक कार्य-कलापों को प्रभावित करते हैं। वैज्ञानिक आविष्कार एवं ज्ञान के कारण मनुष्य ने पर्यावरण के प्रभाव को भले ही कम किया हो, परन्तु समाप्त नहीं कर पाया। प्रो० मुकर्जी

के अनुसार—“पर्यावरण एवं सामाजिक कारणों के मध्य अन्तःक्रिया से एक विशेष प्रदेश की संस्कृति दूसरे से अलग होती है। सांस्कृतिक भिन्नता उन्हें आपस में मिलने नहीं देती। फलस्वरूप प्रान्तवाद या संकुचित प्रादेशिकता की भावना का जन्म होता है।”

उपरोक्त डॉ० मुकर्जी द्वारा प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र को विद्यार्थी निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट रूप से समझ पायेगे—

- प्रादेशिक समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञान की एक शाखा है।
- प्रादेशिक समाजशास्त्र एक भौगोलिक क्षेत्र में मानवीय व्यवहार व मानवीय जीवन के बीच पाये जाने वाले संबंधों का अध्ययन करता है।
- मानव आचरण और समाज का प्रादेशिक आधार पर विश्लेषण एवं व्याख्या प्रादेशिक समाजशास्त्र का मुख्य विषय हैं
- प्रादेशिक समाजशास्त्र एक क्षेत्र में मौजूद परिस्थितियां मानवीय जीवन को प्रभावित एवं निर्देशित करती हैं।
- प्रादेशिक समाजशास्त्र में जीवन के ताने बाने, सामाजिक—आर्थिक परिस्थितियों के मध्य अनुकूलन, राजनीतिक संबंधों पर आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव तथा प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाता है।
- प्रादेशिक समाजशास्त्र के मुख्य तीन प्रमुख तत्व हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।
- समाज के विकास एवं प्रगति के लिए इसका अध्ययन आवश्यक व महत्वपूर्ण है।

1.36 सारांश

इस इकाई के अध्ययन में डॉ० मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित परिस्थितिकी शास्त्र तथा प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन किया गया है। जहां उन्होंने स्पष्ट किया है कि परिस्थितिकी जीवित प्राणियों और उनके पर्यावरण व पारस्परिक संबंधों का अध्ययन है। वर्तमान में पौधों का परिस्थिति विज्ञान जीवों का तथा मनुष्यों का परिस्थिति विज्ञान तीन शाखा के रूपों में जन्म ले चुका है। इसमें समस्त पृथ्वी व उसका परिवेश सम्मिलित है। अर्थात् सामाजिक परिस्थितिकी ज्ञान की वह शाखा है जिसमें पर्यावरण, पारस्परिक संबंधों और अंतःक्रियाओं का अध्ययन होता है।

इसी प्रकार प्रादेशिक समाजशास्त्र की विज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जो एक भौगोलिक क्षेत्र में मानव व्यवहार और मानव जीवन के बीच विद्यमान संबंधों का अध्ययन करती है। प्रदेश विशेष से मानव का विशेष लगाव, आत्मीयता उसमें संस्कृति के प्रति लगाव को प्रदर्शित करता है। साथ ही उन्हें सांस्कृतिक दबावों में रहने के लिए प्रभावित व निर्देशित भी करता है।

1.37 शब्दावली

पार्थिव—पारलौकिक

उदान्त—ऊँचे स्वर से उच्चारण किया हुआ, खींच कर बोला हुआ

सार्वभौमिकता—सम्पूर्ण जगत का

प्रछन्न—किसी से छिपा हुआ
 निःरंकुशता—जिसके लिए कोई प्रतिबंध न हो
 अंतर्धारा—आन्तरिक धारा
 सूक्ष्मीकृत—जिसका लघुरूप हो
 व्यष्टि—समष्टि का एक विशिष्ट और पृथक अंश
 समष्टि—सार्वभौम
 प्रज्ञ—विद्वता
 अनुक्रम—विषयसूची
 लोकातीतत्व—लोक से संबंधित तत्व
 आरोहरण—ऊपर को चढ़ना
 संस्तरण—स्तर, वर्गीकरण
 आत्म यथार्थीकरण—स्वयं से संबंधित वास्तविकता
 अनुरूपता—ऐसा व्यवहार जो समाज के अनुकूल हो।
 विपथगमन—ऐसा व्यवहार जो समाज के विपरित हो
 बहुपति—जहाँ एक स्त्री का बहुत सारे पुरुष पतिरूप में हों
 बहुपत्नी—जहाँ एक पुरुष की बहुत सारी स्त्रियाँ पत्नी रूप में हों
 उपजाऊ—उत्पादन क्षमता का अधिक होना
 अग्रगति—निरन्तरता—निरन्तर आगे बढ़ने की

1.38 अभ्यास प्रश्न

1. राधाकमल मुकर्जी का जन्म हुआ—

अ—7 दिसम्बर 1789

ब—7 दिसम्बर 1790

स—7 दिसम्बर 1889

द—7 दिसम्बर 1989

2. कौन सी कृति डॉ० मुकर्जी की नहीं है—

अ—स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज

ब—डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी

स—बार्डरलैण्ड ऑफ इकॉनोमिक्स

द—सोशल इकोलॉजी

3. परिस्थितिकी विज्ञान शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किया—

अ—पार्क एवं बर्गस

ब—राधाकमल मुकर्जी

स—मैकाइवर एवं पेज

द—अर्नस्ट हैकल

4. निम्न में से कौन सा कथन सत्य है—

अ—मूल्य समाज में एकरूपता स्थापित

ब—मूल्य सामाजिक संगठन व एकीकरण के लिए आवश्यक है।

स—मूल्य भौतिक संस्कृति का महत्व बढ़ाते हैं

द—उपरोक्त सभी।

5. निम्न में से कोन सा कथन असत्य है—

अ—मूल्यों की विशेषता सार्वभौमिकता हैं

ब—मूल्य केवल हिन्दू समाज में प्रचलित होते हैं।

स—सामाजिक मूल्यों के साथ जनमानस की भावनाएं जुड़ी होती हैं।

द—मूल्यों का विकास सामूहिक संबंधों की संरचना में होता है।

प्रत्येक के कथन के आगे सत्य—असत्य लिखिए—

6. मुकर्जी ने सभी मूल्यों को सामाजिक नहीं माना है— सत्य/असत्य

7. मूल्यों का संबंध क्षेत्र विशेष से होता है—सत्य/असत्य

8. विवाह एक सामाजिक मूल्य है—सत्य/असत्य

9. मूल्य समाज के विकास एवं प्रगति में बाधक होते हैं—सत्य/असत्य

10. मूल्यों के आधार पर संस्कृति का निर्धारण होता है—सत्य/असत्य

11. अगस्त कोंत को भारतीय समाजशास्त्र का संस्थापक माना जाता है—सत्य/असत्य

12. डॉ० मुकर्जी ने परिस्थिति विज्ञान के 3 पक्षों का उल्लेख किया है—सत्य/असत्य

13. वनस्पति विज्ञान, सामाजिक मानवशास्त्र, वन विज्ञान व मनोविज्ञान का संबंध अर्थशास्त्र से है—सत्य/असत्य

14. प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र की विस्तृत व्याख्या मुकर्जी द्वारा रिजनल सोसयोलॉजी में की गयी है—सत्य/असत्य

15. मूल्यों के विपरित आचरण या व्यवहार को गैर मूल्य कहा जाता है—सत्य/असत्य

16. समाज में मूल्यों के साथ.....भी होते हैं।

17. परिस्थितिकी शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द बवपामे से हुई है। जिसका अर्थ है.....।

18. मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित मूल्यों मेंव.....विचारधारा का समन्वय है।

19. प्रादेशिक समाजशास्त्र.....की एक शाखा है।

20. मैन एण्ड हिज हैबिटेशन पुस्तक.....के द्वारा लिखी गयी है।

अभ्यास प्रश्नों के प्रत्युत्तर

1—स 2—ब 3—द 4—द 5—ब 6—असत्य 7—सत्य 8—सत्य 9—असत्य

10—सत्य 11—असत्य 12—असत्य 13—असत्य 14—सत्य 15—सत्य 16—गैरमूल्य

17—घर, स्थान निवास, मकान 18—पूर्व एवं पश्चात 19—विज्ञान 20—राधाकमल मुकर्जी

1.39 संदर्भ सूची

मुकर्जी, राधाकमल, सामाजिक विचारक, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ०सं० 524—527, 533—539, 545—556 एवं 540—544

मैकाइवर एवं पेज, समाज, अनुवादक जी० विश्वेश्वरय्या रामपाल सिंह गौड़, रवि ऑफसेट पिंटेर्स एवं पब्लिसर्स, आगरा, 2002, 98—99, 110—111

सिंह जे०पी०, समाजशास्त्र अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त, पेंटिस हाल ऑफ इण्डिया प्राइवेट लि०दिल्ली, 2002, पृ०सं०116-138

बघेल, डी०एस०, महान समाजशास्त्रीय विचारक, मध्यप्रदेश हिन्दी गंध अकादमी, ममता प्रिंटर्स भूपाल, 2002, पृ०स 162, 164-167

बघेल, डी०एस०, उच्चतर समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, 2006, पृ० 421-430

घिल्डियाल, अच्युतानन्द एवं गोदावरी, समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, गौरीशंकर प्रेस, वाराणसी, 1987, पृ०सं० 143-145

यादव, राम गणेश, भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिन्तक, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा०लि०, दिल्ली, 2014, पृ०सं 1-19

सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

दूबे, श्यामाचरण, अनुवादक, वंदना मिश्र, भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, दिल्ली, 2001

आहूजा, राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001

हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज-एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2009

1.40 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मूल्यों को परिभाषित कर, इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।
2. मूल्यों की सामाजिक संरचना में राधाकमल मुर्जी के आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
3. दर्शाइये कि मूल्यों के समाजशास्त्र को राधाकमल मुर्जी का अंशदान पूर्वी तथा पश्चिमी विचारों का समाकलन है।
4. मूल्यों के सोपान संस्तरण को स्पष्ट कीजिए।
5. मुर्जी के अनुसार मूल्यों के नियम पर प्रकाश डालिए।
6. मूल्यों की विशेषताओं का उल्लेख कर गैर मूल्यों से इसके अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
7. राधाकमल मुर्जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए।
8. राधाकमल मुर्जी के अनुसार परिस्थितिकी क्या है? प्राकृतिक अवस्थाओं से यह किसी प्रकार तालमेल रखता है?
9. प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र पर राधाकमल मुर्जी के विचारों की व्याख्या कीजिए।
10. टिप्पणी लिखिए—
 - अ—प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन विषय।
 - ब—मूल्य की उत्पत्ति
 - स—मूल्य व गैर मूल्य में अन्तर
 - द—परिस्थितिगत अवस्थाएँ व आदिमकालीन समाज

इकाई-2

जी0 एस0 घुर्ये (G.S.Ghurye)

इकाई की रूपरेखा

2.0: उद्देश्य

2.1: प्रस्तावना

2.1.1: जीवनवृत्त

2.1.2: जी0 एस0 घुर्ये की समाजशास्त्र की परिभाषा

2.1.3: घुर्ये की कृतियां

2.2: घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

2.3: घुर्ये के जाति प्रथा पर विचार

2.3.1: समाज का खण्डात्मक विभाजन

2.3.2: संस्तरण

2.3.3: पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव

2.3.4: नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार

2.3.5: भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध

2.3.6: विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध

2.4: भारत में जनजातियों का अध्ययन

2.5: भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका

2.6: भारतीय इतिहास में प्रजाति का सिद्धान्त

2.7: घुर्ये— एक राष्ट्रवादी

2.8: घुर्ये की आलोचना

2.8.1: हिन्दू संस्कृति का आधुनिकता पर प्रभाव

2.8.2: घुर्ये और हिन्दुत्ववादी

2.8.3: भारतीय इतिहास हिन्दूकरण की प्रक्रिया है

2.9: सारांश

2.10: अभ्यासार्थ प्रश्न

2.11: सन्दर्भ ग्रंथ

2.0: उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं—

- जी0एस0 घुर्ये का जीवनवृत्त एवं कृतियों के बारे में जान सकेंगे।

- घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के बारे में समझ सकेंगे।
- घुर्ये के जाति प्रथा पर विचारों को समझ सकेंगे।
- घुर्ये एक राष्ट्रवादी समाजशास्त्री थे यह समझ सकेंगे।
- घुर्ये के द्वारा दिये गये भारतीय इतिहास में प्रजाति के सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

2.1: प्रस्तावना

गोविन्द सदाशिव घुर्ये भारत के उन कतिपय गणमान्य प्रतिष्ठित अग्रणी समाजशास्त्रीयों में से है जिन्हें भारत में समाजशास्त्र विषय को प्रणीत करने का श्रेय दिया जाता है। पैट्रिक गैड्स के बाद बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग का कार्यभार संभालने वाले घुर्ये प्रथम भारतीय विद्वान थे। यही कारण है कि कुछ लोगों ने इस विषय के संस्थापक के रूप में घुर्ये को 'भारत के समाजशास्त्र के पिता' की उपाधि से भी विभूषित किया है। जाति और जनजाति, तथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के मुख्य निर्णायक आधारों पर इनका अध्ययन भारतीय समाजशास्त्र की निधि है, जो कल के साथ-साथ आज भी प्रासंगिक है। इन्होंने भारतशास्त्रीय उपागम (**Indology Approach**) का विकास किया। घुर्ये ने अनेक विविध विषयों पर ढेर सारी पुस्तकें तथा कई लेख और छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी हैं। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि घुर्ये का लेखन विश्वकोशीय प्रकृति के थे। तितली की भांति पराग एकत्रित करते हुए पूरे जोश, रुचि और विद्वता के साथ पूरे जीवन एक विषय से दूसरे विषय के अन्वेषण में जुटे रहे। शेक्सपीयर से लेकर साधुओं पर, कला, नृत्य, वेशभूषा तथा वास्तुशास्त्र से लेकर लोक देवी-देवताओं पर, सेक्स तथा विवाह से लेकर प्रजाति जैसे अनेक विषयों पर लिखा है। घुर्ये ने सांस्कृतिक तथा संस्थात्मक पक्षों जैसे जाति परिवार, विवाह, धर्म आदि विषयों के उदय एवं विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया में नगरों की भूमिका जैसे विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। घुर्ये ने भारतीय समाज और संस्कृति के उद्भव का ही नहीं, अपितु भारतीय समाज की वर्तमान समय की समस्याओं तथा सामाजिक तनावों का भी सारगर्भित एवं प्रमाणों सहित अध्ययन किया है। उनकी संस्कृत भाषा पर विशेष पकड़ होने के कारण उन्होंने संस्कृत में लिखे ग्रंथ-सामग्री का अपने विश्लेषण में प्रचुर प्रयोग किया है, किन्तु साथ ही साथ तथाकथित आधुनिक पश्चिमी आनुभविक विधियों का भी जहां तहां प्रयोग करने में नहीं चुके हैं। इस सम्बन्ध में उनका 'बम्बई के मध्यम वर्ग के व्यक्तियों (एक प्रतिदर्श) की कामवृत्ति सम्बन्धी आदतों' (1938) का अध्ययन उल्लेखनीय है। घुर्ये के अध्ययनों में अधिकांशतः 'क्यों' और 'क्या होगा' के दो प्रश्नों की विवेचना की गई है। उनके अध्ययनों में स्पष्टतः भूत, वर्तमान और भविष्य के मध्य एक तारतम्य नजर आता है जैसा कि उनके एक ग्रंथ 'तथाकथित आदिवासी लोग और उनका भविष्य' से प्रकट होता है। घुर्ये के अध्ययनों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपने समय में समाजशास्त्र में प्रचलित तीनों मुख्य परम्पराओं यथा मानवशास्त्रीय (सहभागिक अवलोकन), समाजशास्त्रीय (सांख्यिकीय और सर्वेक्षणपरक) और भारतविद्याशास्त्रीय (पौराणिक ग्रंथिक) के प्रयोग करने का प्रयास किया है।

2.1.1 जीवनवृत्त

प्र० जी० एस० घुर्ये के समस्त जीवन को जानने के लिए 1973 ई० में स्वयं घुर्ये द्वारा लिखित पुस्तक 'आई एण्ड अदर इक्सप्लोरेशन्स' को आधार बनाया गया है। गोविन्द सदाशिव घुर्ये का जन्म 12 दिसम्बर

1893 को भारत के पश्चिमी तट पर स्थित मालवा क्षेत्र जो कि महाराष्ट्र राज्य में स्थित है में हुआ था। इनका प्रारम्भिक शैक्षणिक जीवन उच्चकोटि का रहा है। जाति से वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके परिवार में संस्कृत तथा संस्कृत ग्रन्थों का पठन-पाठन बहुत अधिक था। घुर्ये ने अपनी प्राथमिक शिक्षा मालवन में पाई थी। इसके बाद वे जूनागढ़ गये। उनकी उच्च शिक्षा मुम्बई के एलकिस्टन कॉलेज में हुई। इन्होंने अपनी सभी परीक्षाएं प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की।

घुर्ये का विवाह मालवन गांव के पड़ोसी गांव की सजूबाई के साथ 1916 में हुआ। और तब उनके समाजशास्त्रीय जीवन में एक बड़ा परिवर्तन आया। उन्होंने एम0 ए0 की डिग्री संस्कृत भाषा में की थी, समाजशास्त्र या मानवशास्त्र में नहीं। यह संयोगवश था कि उन्होंने पेट्रिक गैड्स के कुछ व्याख्यानों को बम्बई विश्वविद्यालय में सुना था। इससे घुर्ये बहुत प्रभावित हुए और संस्कृत के इस विद्यार्थी की रुचि समाजशास्त्र में जाग्रत हुई। गिड्स ने ब्रिटिश विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में प्रशिक्षण पाने के लिए घुर्ये का चयन किया। उनकी सिफारिश पर बम्बई विश्वविद्यालय ने इन्हें लन्दन भेजा। कुछ समय तक प्रो. एल. टी. हाबहाउस के साथ अध्ययन के बाद डा. रिवर्स के मार्गदर्शन में 'Ethnic Theory of Caste' विषय पर शोध किया।

सन् 1923 में घुरिये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ग्रहण कर भारत लौट आये। सन् 1924 में इन्हें बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के रीडर एवं अध्यक्ष पर नियुक्ति प्रदान की गयी। इनकी पहली कृति कास्ट एण्ड रेस (**Caste and Race**) सन् 1932 में प्रकाशित हुई। इसका प्रकाशन लंदन से हुआ था। इस पुस्तक की दो विशेषताएं हैं— पहली तो यह कि इसमें घुर्ये ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजाति से बताई है और दूसरी यह कि इसने समाजशास्त्र को संसार के मानचित्र पर पहली बार स्थापित किया। यह भारत का योगदान था। इसका श्रेय घुर्ये को जाता है।

प्रो0 घुर्ये के लेखन में इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्रीय परम्पराएँ विद्यमान हैं। इन्होंने न केवल स्वयं, बल्कि अपने छात्रों को भी अनुभववाश्रित अध्ययन एवं अनुसंधान करने के लिए प्रेरित किया। प्रो0 घुर्ये ने 25 से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। प्रो0 घुर्ये ने इण्डियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी (**Indian Sociological Society**) की स्थापना की और इसके तत्वाधान में 1952 में "सोशियोलॉजिकल बुलेटिन" (**Sociological Bulletin**) नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया। प्रो0 घुर्ये के **Anthropological society of Bombay** के 1945-50 तक अध्यक्ष रहे। इन्होंने जातियों, जनजातियों, ग्रामीण शहरीकरण, भारतीय साधुओं, और भारतीय वेशभूषा के बारे में व्यापक अध्ययन किया।

घुर्ये एक बहुमुखी समाजशास्त्री के साथ साथ प्रकाण्ड विद्वान भी थे। इन्होंने समाजशास्त्र की विषय सामग्री को नये आयाम दिये। उन पर तत्कालीन समाज के विद्वानों का पर्याप्त प्रभाव था। इन विद्वानों में पेट्रिक गैड्स, हाबहाउस, रिवर्स, हडन आदि मुख्य हैं। एक ता उन्होंने अपने लन्दन प्रवास के दौरान समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को निकटता से देखा और दूसरा उन्होंने अपनी संस्कृत भाषा की पंडिताई का लाभ समाज विज्ञानों को समझने में लगाया।

2.1.2 जी0 एस0 घुर्ये की समाजशास्त्र की परिभाषा

घुर्ये ने भारत के समाजशास्त्र को एक नई दिशा दी थी। इसी कारण उन्हें समाजशास्त्रीय विचारक कहते हैं। वास्तव में 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप और विशेषकर ब्रिटेन में प्राच्यविद्या की एक एसी लहर

पैदा हो गई थी जिसका केन्द्र सभ्यता का अध्ययन था। यूनान और मिस्र की सभ्यताओं से परिचित होने के बाद अब लोगों की रुचि भारतीय सभ्यता को समझने के लिये जागी। घुर्ये वस्तुतः संस्कृत भाषा के पंडित थे। इसका प्रयोग उन्होंने यहां की सभ्यता के विश्लेषण में किया। उनका समाजशास्त्र उनके उपनिवेशकाल के ज्ञान का परिणाम है। घुर्ये की विचारधारा को उनकी कृतियों और तत्कालीन बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिये। उनकी विचारधारा की बनावट को हम निम्न बिन्दुओं में देखेंगे।

i- ब्रिटिश अनुकूलन (British Orientation)

लन्दन में एक बहुत बड़ा प्रयास 19 वीं और 20वीं शताब्दी में हो रहा था। वहां के विद्वान भारतीय सभ्यता की खोज में लगे थे। इस तरह की रुचि उपनिवेशवादी अंग्रेजों को भी रास आ रही थी, मैक्स मूलर जैसे विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा भारतीय सभ्यता के पुनर्निर्माण की समस्या को उठाना। सभ्यता की खोज से जुड़े इन विद्वानों ने यह स्थापित किया कि भारत की सभ्यता बहुत जटिल थी। इस तरह की सभ्यता की जानकारी इन लेखकों को संस्कृत भाषा से ज्ञात हुई।

घुर्ये पर ब्रिटिश मानवशास्त्रियों और इतिहासकारों का बहुत बड़ा प्रभाव था। इन विद्वानों ने यह स्थापित किया कि किसी भी सभ्यता को समझने के लिये संस्कृति और भाषा के सम्बन्धों को देखना चाहिये। कुछ विचारकों का मत था कि यूनान की सभ्यता भारत में आ गयी और यहां के लोगों ने इसे हाथों-हाथ अपना लिया। कुछ अन्य विचारकों का कहना था कि मिस्र की भाषा संस्कृत थी और किसी भी बदलाव के बिना यह भारतीय सभ्यता की भाषा बन गई। ब्रिटेन में यह विचारधारा मजबूत हो गई कि संस्कृत भाषा ज्ञान और संस्कृति की भण्डार थी। यह समझा जाने लगा कि सार्वभौमिक मानवजाति विवरण के लिये संस्कृत भाषा एक कुंजी है।

सभ्यता और संस्कृत के इस संबंध ने जोर पकड़ा। प्राचीन भारतीय सभ्यता की पहचान अब हिन्दू सभ्यता के साथ होने लगी और हिन्दू सभ्यता का आधार संस्कृत भाषा बन गई। इस तरह ब्राह्मण प्रधान हिन्दूवाद भारतीय समाज की पहचान बन गई। इधर मुसलमानों को विदेशी विजेता और निरंकुश शासकों के रूप में देखा जाने लगा। यह समझा जाने लगा कि हिन्दू समाज में जो भी बुराइयां हैं, इसका कारण मुसलमान है। उपनिवेशकाल में भारत के लिये जो शान और गौरव की बात थी वह वस्तुतः हिन्दुओं के लिये थी।

ब्रिटिश काल में भारतीय इतिहास की व्याख्या नये सिरे से हुई। अब सभ्यता को केन्द्रीय मुद्दा बनाकर यह स्थापित किया गया कि दुनिया भर की जो सभ्यताएं हैं— दजला, फरात, मिस्र और सिन्धुघाटी— ये सब एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इसी संदर्भ में यह स्थापित किया गया कि भारतीय सभ्यता वस्तुतः हिन्दू सभ्यता है। इस सभ्यता को इसके मूल रूप में वेदों में देखा जा सकता है। वेद संस्कृत ग्रन्थ है और इसलिये भारतीय सभ्यता को संस्कृत ग्रन्थों में ही देखा जा सकता है।

वैदिक संस्कृति के महत्व को मैक्स मूलर ने स्थापित किया। वे ही इसके प्रणेता थे। उन्होंने कहा कि भारतीय समाज को समझने के लिये हिन्दू कानून को समझना बहुत आवश्यक है। हाल में बर्नार्ड कोहन ने भारतीय समाज की व्याख्या करते हुए कहा है कि हिन्दु का जीवन निश्चित नियमों के अनुसार चलता है। कोहन की तरह रोचर रोसेन ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि प्राच्य विद्या विद्वानों के अनुसार भारतीय समाज को समझने का सही तरीका संस्कृत भाषा ही है।

18 वीं और 19 वीं शताब्दियों में भारत में जो भी महत्वपूर्ण सामग्री आई, उसमें संस्कृत, भाषा की भूमिका महत्वपूर्ण रही है इस निष्कर्ष को घुर्ये ने अपने लेखन का आधार बनाया। हाल में थोमस ट्रॉटमेन ने प्राच्य विज्ञान विद्या की कतिपय मान्यताओं को नकारा है। उनका कहना है कि ये विद्वान भारतीय सभ्यता की गरिमा से इतने अभिभूत थे कि उन्होंने सच्चाई को देखा नहीं और वे इस सभ्यता पर पगला गये। 19 वीं शताब्दी के विचारकों ने कहा कि प्राच्य विद्या के विद्वान अतीत को देखते थे, और भविष्य के बारे में वे मौन थे। यह कहा गया कि ब्रिटिश हुकूमत भारत को आधुनिकता की ओर ले जाना चाहती थी जबकि संस्कृत भाषा के आधार पर किया गया भारतीय समाज का विश्लेषण हर प्रकार से दकियानूसी था। अंग्रेजों के आने के बाद भारत की विचित्र स्थिति थी। एक तरफ ता यह कहा जाता था कि भारतीय समाज विश्व सभ्यताओं की कड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इस कड़ी का आधार सांस्कृतिक एकता थी और संस्कृत भाषा इसका मूल था। दूसरी ओर भारत में आधुनिकीकरण की किसी भी पहल को पुरातन भारतीय सभ्यता में हस्तक्षेप समझा जाता था।

घुर्ये की वैचारिकी को इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये। जहां आधुनिकता या कहिये प्रगति की बात कही जाती थी, वहां घुर्ये संस्कृत भाषा के आधार पर अतीत में लौटने की सम्भावना को देख रहे थे।

ii- भारतीय सभ्यता का राष्ट्रवादी निर्वचन (National Interpretation of Indian Civilization)

भारतीय सभ्यता पर 20वीं शताब्दी में एक नई विचारधारा आई। इसमें कहा गया कि यह सभ्यता सम्पूर्ण संसार में श्रेष्ठ थी। आर्य इस सभ्यता के मूल थे। यह कहा गया कि पश्चिमी सभ्यता में जो कुछ है वह सब भारत से उधार लिया गया है। सन् 1830 के दशक में रोमिला थापर ने कहा कि वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान का भंडार कहा जाने लगा। विख्यात समाज सुधारक जैसे कि राम मोहन राय ने अपने ग्रंथों में बराबर यह कहा कि भारतीय संस्कृत ग्रन्थ हमारी संस्कृति की धरोहर हैं। इनसे हमें बहुत कुछ सीखना है। ये ऐसे सुधारक थे जिन्होंने गीता और रामायण को लोकप्रिय बनाया। 1930 के दशक में भारत में जो विचारधारा बनी, वह सांस्कृतिक राष्ट्रियता (Cultural Nationalism) की थी। यह राष्ट्रियता वेदों पर आधारित थी। इस युग में कहा गया कि भारत की संस्कृति वैदिक संस्कृति है; भारतीय दर्शन वेदान्त है; और भारतीय धर्म हिन्दू धर्म है। इस तरह की विचारधारा के आधार पर सावरकर ने कहा कि भारतीय समाज मूल रूप हिन्दू समाज है।

जब भारतीय समाज को हिन्दू कहा जाने लगा तब एक और विचारधारा भी सामने आई। भारत में मुस्लिमान स्थायी रूप से बस गये थे। उनके बारे में इन राष्ट्रिय संस्कृति के प्रणेताओं का कहना था। 19 वीं शताब्दी के इन राष्ट्रवादी बौद्धिकों ने कहा कि मुसलमानों का भारत पर आक्रमण और यहां पर उनका निवास और कुछ न होकर ब्राह्मणों की परम्पराओं को तोड़ना था। इन लेखकों ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि मुसलमानों की संस्कृति पूर्णतया हिन्दू संस्कृति से भिन्न थी। वे एक एकात्मकवादी धर्म को मानने वाले और साम्प्रदायिक तथा एकात्मकवादी थे। मुसलमानों के बारे में उनका राष्ट्रवादी विचार यह बन गया था कि वे अतीत में आक्रमणकारी और समकालीन समाज में पृथक्वादी थे। इस विचारधारा ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया कि मुसलमानों ने मध्यकाल में हिन्दुओं पर बड़े अत्याचार किये थे। आज भी हिन्दु संकट के दौर से गुजर रहे हैं और उनकी संकट के दौर से गुजर रहे हैं और उनकी संख्या घट रही है। कुल मिलाकर 19 वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक देश में निम्न विचारधारा बढ़ी प्रभावोत्पादक रही—

- (1) भारत में आर्यों के आने के बाद इतिहास ने बड़ी महत्वपूर्ण करवट ली। आर्य और दासों के बीच में संघर्ष प्रारम्भ हो गया।
- (2) हिन्दू और मुसलमानों में भाषा, धर्म और प्रजाति को लेकर मतभेद उभर आए।
- (3) आर्य प्रजाति और हिन्दू जाति को पर्यायवाची समझा जाने लगा। हिन्दू जातियों में ब्राह्मणों और उच्च जातियों को एक ही श्रेणी में रखा जाने लगा।
- रुचिकर बात यह है कि घुर्ये ने जो कुछ लिखा है, उसका मूल आधार संस्कृत ग्रन्थ रहे हैं। वे वेदों के हिमायती थे। उन्होंने जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। यह सब लिखने के बाद उन्होंने प्रचलित इतिहास के वरण का भी विरोध नहीं किया। वे परम्परावादी विचारक ही रहे हैं।

iii- विसरण (Diffusion)

घुर्ये की विचारधारा का कोई भी विश्लेषण हो, उसमें तत्कालीन विचारों का समावेश होना अनिवार्य है। पिछले पृष्ठों में हमने राष्ट्रवादी संस्कृति की व्याख्या की है। घुर्ये ने अपने बौद्धिक जीवन में इसके प्रभाव को देखा है। वे विचारों से राष्ट्रीय संस्कृति यानी संस्कृत एक और विचारधारा लंदन से उभर कर आई। घुर्ये के लेखन पर लंदन और वहाँ के विद्वानों का काफी गहरा प्रभाव था। यही नई विचारधारा विसरण की थी।

विसरणवादियों में पेरी (W.J. Perry), इलियट स्मिथ (G. Elliot Smith), होकार्ट (A.M. Hocart) और रिवर्स (W.H.R. Rivers) उल्लेखनीय मानवशास्त्री रहे हैं। इन विद्वानों ने स्थापित किया कि सभ्यता का उदय केवल एक बार होता है। यह उदय मिस्र में हुआ और तब इसका फैलाव स्थानान्तरण द्वारा दूसरे देशों में हुआ। स्थानान्तरण करने वाले ये प्रवासी स्थानीय लोगों को सभ्य बनाते हैं और इस भाँति उन्हें अपने अधीनस्थ कर देते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि उच्च प्रजातियों निम्न प्रजातियों पर अपना प्रभुत्व रखती हैं।

घुर्ये की विचारधारा पर विसरणवादियों का बहुत बड़ा प्रभाव था। वे रिवर्स से अत्यधिक प्रभावित थे। जब उनका प्रवास लंदन (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय) में था। वे रिवर्स के टिकट सम्पर्क में थे और जब 1922 में रिवर्स का देहान्त हुआ, तब घुर्ये इससे अत्यन्त दुखी हुए। उनका कहना था कि उनके जीवन की यह बड़ी दुखद घटना थी।

एक ओर घुर्ये रिवर्स के प्रसारणवाद से प्रभावित थे वहीं दूसरी ओर उनके संस्कृत भाषा के ज्ञान और प्राच्य विद्या की पकड़ ने उनकी वैचारिकी को मजबूत बनाया। बाद में चलकर, अपने जीवन के अंतिम वर्षों में जब रिवर्स ने तुलनात्मक मनोविज्ञान और बन्धुत्व को अपना विशेष अध्ययन क्षेत्र बनाया, तब इसका प्रभाव घुर्ये पर भी पड़ा। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र को भारतीय समाज का अध्ययन धार्मिक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर करना चाहिये।

जब घुर्ये की कृतियों में हम उनकी विचारधारा और सिद्धान्तों को देखते हैं तब हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि वे यूरोप में जो बौद्धिक वातावरण, पुनर्जागरण के बाद पैदा हुआ था, उससे प्रभावित थे। वे भारतीय सभ्यता को जहाँ व्यापक संदर्भ में देखना चाहते थे, वहीं उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों को अपना विश्वसनीय संदर्भ समझा।

iv- घुर्ये का भारतीय सभ्यता का समाजशास्त्र (Ghurye's Sociology of Indian Civilization)

घुर्ये ने जो कुछ लिखा है, उनका केन्द्र भारतीय सभ्यता है। इस सभ्यता ने ही भारतीय समाज का गठन किया है इस सभ्यता को उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के माध्यम से समझा है। उनका कहना है कि भारतीय

सभ्यता की जो संस्कृति है वह बाहरी प्रक्रियाओं से भी प्रभावित होती रही है। मृत्यु से जुड़े हुए कर्मकाण्डों का विवरण देते हुए वे कहते हैं कि कर्मकाण्ड शायद मिस्र की सभ्यता से आये हैं। श्रीनिवास ने एक स्थान पर कहा है कि 1040 के दशक तक घुर्ये विसरणवाद के प्रभाव में थे। इस विसरणवाद को स्पष्ट रूप से उनकी पुस्तक फेमिली एण्ड किन इन इंडो-यूरोपियन कल्चर (**Family and Kin in Indo-European Culture, 1955**) में देखा जा सकता है। यहां वे परिवार को बन्धुत्व की शब्दावली में देखने का प्रयास करते हैं। परिवार में सदस्यों के व्यवहार के तथ्यों को वे इंडो-आर्यन, यूनान लेटिन संस्कृतियों से लेते हैं।

घुर्ये की रुचि सभ्यता के इतिहास में कई जगह देखने को मिलती है। अपनी पहली पुस्तक कल्चर एण्ड सोसाइटी (**Culture and Society, 1947**) में वे ब्रिटेन का सन्दर्भ देते हुए कहते हैं कि 1800-1930 की अवधि में इस देश ने राष्ट्र-राज्य के निर्माण के लिये कई प्रयास किये। यहां वे संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये दोनों एक ही प्रघटना के अंग हैं। उन्हें पृथक नहीं समझा जाना चाहिए। उनके शब्दों में, "संस्कृति सभ्यता है और व्यक्ति इसे अपने मस्तिष्क और व्यवहार में ढाल लेता है।" परम्परा से मानवशास्त्री संस्कृति को निरपेक्ष मानते हैं-संस्कृति न बड़ी होती है न छोटी। यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति अमेरिका की संस्कृति से बड़ी है। संस्कृति तो संस्कृति है प्रत्येक समूह अपनी संस्कृति का बड़ा समझता है।

घुर्ये मानवशास्त्र की परम्परा से हटकर संस्कृति को छोटे और बड़े अर्थ में लेते हैं। ऐसा ही कुछ अर्नोल्ड टोयन्बी (**Arnold Toynbee**) ने इतिहास लेखन में किया था। घुर्ये ने अपनी पुस्तक आक्सीडेन्टल सिविलाइजेशन (**Occidental Civilization**) में भी सभ्यता को परिभाषित किया है। वे कहते हैं कि सभ्यता एक सामूहिक प्रयास है। इस आधार पर वे पाश्चात्य सभ्यता का विश्लेषण 1300 से 1925 के काल का करते हैं। उनकी यह पुस्तक **Occidental Civilization 1948** में प्रकाशित हुई थी।

पाश्चात्य सभ्यता का विवरण करने के बाद घुर्ये टोयन्बी की आलोचना करते हैं। वे सभ्यता और राजधानी के शहरों की तुलना करके बताते हैं कि किस भांति से बाहर अपने अवसान को प्राप्त हुए। यह तुलना उन्होंने चीन, मिस्र और भारत के शहरों की है।

2.1.3 घुर्ये की कृतियां

इनकी प्रमुख कृतियां इस भांति हैं-

1. कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया 1932 (Caste and Race in India)
2. सेक्स हेबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पिपल 1938 (Sex Habits of Middle Class People)
3. दि एबओरिजनल्स सो-काल्ड एण्ड दियर पयूचर 1943 (The Aborigines-'So called' and Their Future)
4. कल्चर एण्ड सोसाइटी 1945 (Culture and Society)
5. आफ्टर ए सेन्चुरी एण्ड ए क्वार्टर 1980 (After a Century and a Quarter)
6. कास्ट, क्लास एण्ड ओक्यूपेशन 1961 (Caste, Class and Occupation)
7. फेमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर 1982 (Family and Kin in Indo-European)
8. सिटीज एण्ड सिविलाइजेशन 1982 (Cities and Civilization)
9. दि शिड्यूल्ड ट्राइब्ज 1903 (The Scheduled Tribes)

10. दि महादेव कोलिज 1963 (The Mahadev Kolis)
11. एनोटोमी ऑफ ए रुरुर्बन कम्युनिटी 1963 (Anatomy of A Rururban Community)
12. दि इण्डियन साधुज 1984 (The Indian Sadhus)
13. रेस रिलेशन्स इन नीग्रो अफ्रीका (Race Relations in Negro Africa)
14. सेक्सुअल बिहेवियर ऑफ दि अमेरिकन फिमेल (Sexual Behaviour of the American Female)
15. एन्थ्रोपोलोजिकल— सोशियोलोजिकल पेपर्स (Anthropo-Sociological Papers)
16. सोशियल टेन्शंस इन इण्डिया 1968 (Social Tensions in India)
17. आई एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स 1973 (I and Other Explorations)
18. विदर इंडिया 1974 (Whither India)
19. इंडिया रिक्रियेट्स डेमोक्रेसी 1978 (India Recreates Democracy)
20. वेदिक इण्डिया 1978 (Vedic India)
21. दि बर्निंग केल्ड्रन ऑफ दि नोर्थ—ईस्ट इण्डिया 1980 (The Burning Caldron of the North-East)

2.2: घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

घुर्ये ने अनेक विषयों पर लिखा है, और उन्होंने जो अध्ययन पद्धति अपनाई है, वह ऐतिहासिक एवं भारतशास्त्रीय (Indology) पद्धति है। घुर्ये ने अपने सभी अध्ययनों में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का उपयोग किया है। तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति में घुर्ये ने उन सभी समाजशास्त्रियों को जो उनके विद्यार्थी रहे हैं, या वे लोग जो उनके सिद्धान्त से प्रभावित थे, सम्मिलित किया जा सकता है। यह पद्धति घुर्ये एवं उनके शिष्य समाजशास्त्रियों के विशाल एवं समृद्ध योगदान पर आधारित है। इस पद्धति में भारतीय इतिहास तथा महाकाव्य जैसे परम्परागत स्वरूपों को आधार माना है। इसलिए घुर्ये की इस अध्ययन पद्धति को भारत विद्याशास्त्र या वाङ्मय परिप्रेक्ष्य के नाम से जाना जाता है।

घुर्ये ने अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में अनेक विषयों की विवेचना की है एवं भारतीय समाज का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने जाति व्यवस्था, नातेदारी प्रथा, सौन्दर्यशास्त्र, वेशभूषा का गति विज्ञान, भारतीय नगर, ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तन, भारतीय आदिवासी एवं प्रजाति, भारतीय साधुओं तथा सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया।

भारतीय संस्कृति और समाज के विभिन्न पक्षों के अन्वेषण में उन्होंने भारत विद्याशास्त्र के स्रोतों का प्रयोग किया। उनका भारतीय साधुओं, धार्मिक चेतना तथा दो ब्राह्मणवादी संस्थाओं के रूप में गोत्र एवं चरण नामक अध्ययनों में भारत के पौराणिक एवं कई धार्मिक ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है। घुर्ये न भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य द्वारा भारतीय साधुओं के उत्थान, इतिहास, कार्य और वर्तमान में हिन्दू साधुओं के संगठनों का उल्लेख किया है।

घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के प्रति काफी मोह था, किन्तु उन्होंने सामाजिक—सांस्कृतिक मानवशास्त्र में प्रचलित क्षेत्र कार्य परम्परा के प्रति भी काफी विमोह प्रकट नहीं किया। उन्होंने अपने कई अध्ययनों में अत्याधुनिक सर्वेक्षण विधि और सांख्यिकी तकनीक ('दि महादेव कोलिज' 1963 तथा सेक्स हेबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पिपल 1938) के अध्ययन में क्षेत्र—कार्य विधि का प्रयोग कर भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में अनुभववादी परम्परा की जड़ों को मजबूत किया।

2.3: घुर्ये के जाति प्रथा पर विचार

घुर्ये की रुचि प्रारम्भ से ही जाति और प्रजाति से सम्बंधित विषयों में रही है। उनका पी. एच. डी. का विषय भी 'जाति का नृजातिक सिद्धान्त' था जिसके आधार पर सन् 1932 में प्रथम पुस्तक 'भारत में जाति और प्रजाति' प्रकाशित हुई। बाद में यही पुस्तक कुछ हेर-फेर, संशोधन के साथ समय-समय पर अलग-अलग नामों से ('भारत में जाति और वर्ग' 1950 तथा जाति, वर्ग और व्यवसाय, 1961) कई संस्करणों में प्रकाशित हुई। अपने विषय की आज भी यह एक प्रमाणिक पुस्तक मानी जाती है। इस पुस्तक में, घुर्ये ने जाति के उद्भव से लेकर इसके भविष्य का विश्लेषण किया है। उन्होंने जाति को एक जटिल घटना बताते हुए इसकी निश्चत शब्दों में बंधी हुई कोई सामान्य परिभाषा नहीं दी है, किन्तु इसकी छः विशेषताओं का अवश्य विश्लेषण किया है। ये विशेषताएं हैं— समाज का खण्डात्मक विभाजन, संस्तरण, पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव, नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार, भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध। जाति प्रथा की विशेषताओं का उल्लेख नीचे दिया गया है—

2.3.1: समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)–

जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य सुनिश्चित है। खण्ड विभाजन से तात्पर्य— एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जाति पंचायत होती है।

2.3.2: संस्तरण (Hierarchy)–

समाज में सभी जातियों की स्थिति समान नहीं है, बल्कि उनमें ऊँच नीच का एक संस्तरण या उताव-चढ़ाव पाया जाता है। ऊँच नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा है और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा। क्षत्रिय और वैश्य इनके मध्य में हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है।

2.3.3: पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव (Lack of unrestricted choice of occupation)–

प्रायः प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है। कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है। प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें। मुगल काल से जाति के प्रतिबन्ध ढीले होने लगे। वेन्स का मत है कि "जाति का पेशा परम्परागत होता है। परन्तु यह किसी अर्थ में आवश्यक नहीं कि उसी पेशे के द्वारा सभी जातियां जीवन निर्वाह कर रही हैं।"

2.3.4: नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार (Civil and Religion Disabilities and Privilege)

जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है। विशेषकर दक्षिणी भारत में अछूत जातियों पर अनेक अयोग्यताएं लाद दी गयीं।

2.3.5: भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restriction on Fooding and Social Intercourse)–

जाति व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध पाये जाते हैं जैसे किसके हाथ का बना कच्चा भोजन करना है, किसके हाथ का बना पक्का भोजन करना है। सामान्यतया ऊँची जातियों के द्वारा बनाया गया भोजन निम्न जातियां स्वीकार कर लेती हैं। किन्तु निम्न जातियों के लोगों द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी-कभी पक्का भोजन भी उच्च जातियां स्वीकार नहीं करती हैं।

2.3.6: विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restriction of Marriage)–

जाति की एक प्रमुख विशेषता है कि प्रत्येक जाति अपनी जाति या उपजाति में विवाह करती है। वेस्टरमार्क ने तो जाति अन्तर्विवाह को जाति का सार माना है। यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूदरी ब्राह्मणों में अपने से निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह करने की प्रथा पायी जाती है।

प्रो० घुर्ये ने जाति समूहों की प्रकृति का उल्लेख किया है। वैदिक युग से लेकर ब्रिटिश काल तक जाति प्रथा में होने वाले परिवर्तनों का घुर्ये ने प्रमाणों के साथ उल्लेख किया है।

2.4: भारत में जनजातियों का अध्ययन

जी० एस० घुर्ये ने अपने अध्ययन में जनजातियों पर व्यापक शोधकार्य किया है। इसके साथ इन्होंने जनजातियों के विशिष्ट मुद्दों पर भी अध्ययन किया है। उन्होंने अनुसूचित जनजातियों पर अपनी एक पुस्तक में भारत की नजातियों के ऐतिहासिक, प्रशासनिक और सामाजिक आयामों का वर्णन किया। प्रो० घुर्ये ने महाराष्ट्र के कोलियों का अध्ययन किया। घुर्ये के विचार से भारतीय जनजातियों की स्थिति पिछड़े हुए हिन्दुओं जैसी थी। इनके पिछड़ेपन का कारण था इनका हिन्दू समाज से पूरा एकीकृत न हो पाना। दक्षिण मध्य भारत में रहने वाले संधाल, भील और गोंड आदि जनजातियों के कुछ भाग हिन्दू समाज से पूर्णतया एकीकृत हो गये हैं। परिस्थितियों के मद्देनजर इनके बारे में यह कहा जा सकता है कि ये लोग हिन्दू समाज में पूर्ण रूप से वर्ग नहीं हैं।

जनजातीय जीवन में हिन्दू धर्म के मूल्यों और प्रतिमानों को सम्मिलित करना एक सही कदम था। हिन्दुओं के सामाजिक वर्गों के साथ बढ़ते सम्पर्क के कारण जनजातियों ने धीरे-धीरे हिन्दुओं के कुछ मूल्यों और जीवन पद्धति को अपना लिया। फलस्वरूप जनजाति के लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया। शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ कर दिया और हिन्दू कृषकों के प्रभाव से कृषि के तरीकों में भी सुधार किया।

घुर्ये ने 'The Scheduled Tribes' नामक पुस्तक में जनजातियों की समस्याओं एवं समाधान के बारे में विस्तार से चर्चा की है। इससे पहले 'The Aborigines- so called and their future' नाम से घुर्ये ने पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में घुरिये ने जनजातियों के विभिन्न नामों जैसे—आदिवासी, मुल निवासी, जनजाति, अनुसूचित जनजातियों आदि का उल्लेख किया है। साथ ही जनजातियों का हिन्दुओं, ईसाइयों एवं अन्य लोगों के सम्पर्क एवं उनमें सात्मीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं का उल्लेख किया गया है। जनजातियों के प्रति अंग्रेज शासकों की नीति का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में जनजातियों की

समस्याओं के समाधान हेतु बुद्धिजीवियों द्वारा प्रस्तुत तीन दृष्टिकोण राष्ट्रीय उपवन (**National Park**), पृथक्करण (**Isolation**) एवं आत्मीकरण (**Assimilation**) का उल्लेख किया गया है।

2.5: भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका

धर्म के समाजशास्त्र में अपने अध्ययन में घुर्ये ने धार्मिक विश्वास, कर्मकाण्ड, संस्कार तथा भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका पर प्रकाश डाला है। घुर्ये के मतानुसार, प्राचीन भारत, मिश्र और बैबेलोनिया में धार्मिक चेतना धर्म स्थलों से जुड़ी हुई थी। घुर्ये ने भारतीय धर्म में विभिन्न देवी-देवताओं यथा- शिव, विष्णु और दुर्गा आदि के उद्भव और उनकी भूमिका का सारगर्भित विवेचन किया है। उन्होंने पूजा की वृहत स्तरीय पद्धति के साथ जुड़े हुए स्थानीय और उपक्षेत्रीय विश्वासों को उजागर किया है। उनका मत है कि भारत में अनेक पन्थों के विकास और विस्तार का आधार राजनीतिक के साथ-साथ लोक समर्थन भी रहा है।

घुर्ये ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन साधूज' (**Indian Sadhus**) में संयास की दोहरी प्रकृति की समीक्षा की। भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा समझा जाता है कि साधुओं या संयासियों को सभी जाति प्रतिमानों, सामाजिक परम्पराओं आदि से मुक्त होना चाहिए। वस्तुतः जह समाज के दायरे से बाहर होता है। शैवमतावलंबियों में यह आम रिवाज है कि जब इनके समूह का कोई व्यक्ति संयास या आत्मत्याग के मार्ग को अपनाता है तो वे इसका 'नकली दाहसंस्कार' कर देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह समाज के लिए तो मृत समान लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से उसका पुनर्जन्म होता है।

2.6: भारतीय इतिहास में प्रजाति का सिद्धान्त (**Racial Theory of Indian History**)

देखा जाये तो घुर्ये सभ्यताओं के अध्ययन के विशेषज्ञ थे। उनकी रुचि सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन में थी। लेकिन ऐसा करने में उनका केन्द्र बिन्दु भारतीय सभ्यता थी। उन्होंने अपनी इस थीम को उनकी लोकप्रिय पुस्तक कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया (**Caste and Race in India, 1932**) में प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्राच्यविदों (**Orientation**) द्वारा प्रस्तुत मानवजाति अध्ययनों का हवाला देते हुए कहा कि भारत में इंडो- आर्यन प्रजाति 2500 ईसा पूर्व में आई। इस प्रजाति का धर्म वैदिक धर्म था। ये मोटे रूप में ब्राह्मण थे। इन्होंने गंगा के मैदानों में अपनी संस्कृति को विकसित किया। इसी सभ्यता में जाति व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

जाति व्यवस्था अन्तवैवाहिक (**Endogamers**) थी। इसका अर्थ था कि जाति का कोई भी सदस्य जाति से बाहर विवाह नहीं करेगा। विवाह के इस नियम के कारण जाति यानी प्रजाति के रक्त की शुद्धता बनी रहेगी। ब्राह्मणों ने इस नियम के अन्तर्गत अपने आपको स्थानिक जनसंख्या से पृथक् रखा। घुर्ये कहते हैं कि ये आर्य भारत में उत्तर-पश्चिम से आये। बाद में चलकर स्थानीय लोगों में स्तर हो गये और सबसे नीचा स्तर दासों का बन गया। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया कुछ इस तरह विकसित हुई कि ब्राह्मणों ने दासों के रीति-रिवाजों, विश्वासों को नहीं अपनाया लेकिन ब्राह्मणों के रीति-रिवाज समाज के निम्न स्तरों तक अवश्य आ गये।

घुर्ये ने कास्ट एण्ड रेस (**Caste and Race**) पुस्तक के प्रथम संस्करण में प्रजाति की विवेचना विस्तारपूर्वक की है। इस समय रिजले की पुस्तक जो प्रजाति पर थी, आ गई थी। रिजले ने जाति के साथ प्रजाति के मसले को उठाया था। वास्तव में उनका विमर्श जाति का प्रजाति सिद्धान्त था। देखा जाये तो 20वीं शताब्दी में भारत में जो मानवजाति अध्ययनों की बाढ़ आई, उसका केन्द्र मानवशास्त्र में प्रजातीय विचार थे। अब मानवशास्त्री जातियों का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों और भाषा के आधार पर करने लगे। शारीरिक लक्षणों में रक्त समूह, खोपड़ी का घनत्व, नाक की लम्बाई-चौड़ाई, आंखों की बनावट, त्वचा का रंग, कद आदि सम्मिलित किये जाने लगे। मानव विज्ञान के विद्वानों ने सम्पूर्ण जातियों को प्रजातियों में बांट दिया। रिजले भारतीय मानवजाति विभाग के निदेशक थे और उन्होंने पहली बार जातियों को प्रजातीय संदर्भ में देखा।

भारत की प्रजातियों पर प्रो० घुरिये के विचार (**Views of Prof. Ghurye on Races of India**)

घुर्ये ने भारत की हिन्दू जनसंख्या में छः मुख्य प्रजातीय तत्वों का उल्लेख किया है—

1. भारतीय आर्य (Indo-Aryan)— इस प्रजाति से सम्बन्धित लोग पंजाब, राजपूताना, तथा संयुक्त प्रान्त के भागों तक फैले हैं।
2. पूर्व द्रविडियन (Pre-Dravidian)— इस प्रजाति के तत्व संयुक्त प्रान्त की निम्नतर जातियों एवं बिहार की जनसंख्या में फैले हैं।
3. द्रविड (Dravidian)— ये प्रजातीय तत्व दक्षिण के तमिल तथा मलयाली भाषा भाषी जिलों तक फैले हैं।
4. मंगोल (Mangoloid)— ये प्रजातीय तत्व हिमालय नेपाल तथा असम तक फैले हैं।
5. पश्चिमी (Western)— पश्चिमी प्रतिरूप पश्चिमी सीमा से मालाबार के उत्तर, मैसूर एवं महाराष्ट्र में पाया जाता है।
6. मुंडा (Munda)— इस प्रकार के प्रजातीय तत्व छोटा नागपुर के चारों ओर केन्द्रित हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० घुर्ये ने सभ्यता और संस्कृति के बारे में अपनी पुस्तक '**Cities and Civilization**' में तथा भारत और यूरोपीय संस्कृति में पायी जाने वाली पारिवारिक एवं नातेदारी व्यवस्था का तुलनात्मक एवं विस्तृत ऐतिहासिक ब्योरा अपनी पुस्तक '**Family and Kin in Indo-European Culture**' नामक पुस्तक में दिया है।

2.7: घुर्ये— एक राष्ट्रवादी (**Ghurye: A Nationalism**)

आजकल की राजनीति में एक मुहावरा बहुत काम में लिया जाता है लोग जो देश का एक राष्ट्र—राज्य के रूप में विकसित करना चाहते हैं; प्रायः सांस्कृतिक राष्ट्रीयता (**Cultural Nationalism**) की चर्चा करते हैं। कहते हैं कि इस देश की संस्कृतियां अनेक नहीं, एक होनी चाहिये। और यह एक संस्कृति हिन्दू संस्कृति या हिन्दू धर्म है। घुर्ये अपनी पुस्तक कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया में कहते हैं कि भारत में प्रजाति, भाषा और संस्कृति का ऐसा मेलजोल है जो यहां की सभ्यता को बताता है। घुर्ये के ये विचार का ऐसा मेलजोल है जो यहां की सभ्यता को बताता है। घुर्ये के ये विचार का ऐसा मेलजोल है जो यहां की सभ्यता को बताता है। घुर्ये के ये विचार सोशियल टेन्शन्स इन इंडिया, वैदिक इंडिया और बर्निंग केल्ड्रन ऑफ नॉर्थ—ईस्ट इंडिया में बहुत स्पष्ट है।

यह सही है कि घुर्ये भारत को एक एकीकृत देश बनाना चाहते थे। पर उनकी एकीकरण की विचारधारा सामान्य विचारधारा से जुदा थी। वे कहते हैं कि भारत के एकीकरण के लिये निरपेक्षवादियों (Secularists) ने जो सिद्धान्त रखा है, घुर्ये को स्वीकार नहीं है। इस नुस्खे के कारण देश में अलगाववादियों की शक्ति बढ़ गई है। कई तरह के दंगे हो रहे हैं, पृथक राज्य की मांग बराबर उठती जा रही है और कई तरह की विघटनात्मक गतिविधियां बढ़ रही है। घुर्ये का मत इस सम्बन्ध में इस तरह था—

1. सरकार की या नेहरु द्वारा स्वीकृत धर्म निरपेक्ष नीति में घुर्ये का विश्वास नहीं था।
2. इस देश में एकाधिक समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता।
3. राष्ट्रीय एकीकरण तभी सम्भव है जब देश के नागरिक समाज मूल्यों को स्वीकार करें।
4. घुर्ये ने कहा कि राष्ट्रीय एकीकरण तभी सम्भव है जब देश में सामाजिक एवं राजनीतिक एकीकरण हो जाये।

यह राष्ट्रवादी की तरह घुर्ये स्पष्ट रूप में कहते हैं कि इस देश में विभाजन का बहुत बड़ा कारण मुसलमान है। यह इसलिये कि मुसलमान उनके भारत में आने की बड़ी लम्बी अवधि के बाद भी हिन्दू संस्कृति में अपना सौहार्दपूर्ण नहीं है। पिल्लई कहते हैं कि सौहार्द का अभाव इस कारण है कि उनके धार्मिक व्यवहार में असंगति है।

घुर्ये राष्ट्रीय एकीकरण के समर्थक थे। उनकी दृष्टि में भारत में यह एकीकरण निम्न विधि द्वारा लाया जा सकता है—

1. घुर्ये मानते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय एकीकरण का पहला चरण यह होना चाहिये कि हमें विभिन्न धार्मिक समूहों और पिछड़े समूहों को हिन्दू समाज की मुख्यधारा में ले लेना चाहिये। इस विचारधारा को उन्होंने अपने लेख में रखा (**Untouchable Classes and their Assimilation in Hindu Society**) था। उनका यह भी सुझाव था कि यदि अछूतों को हिन्दू समाज में सम्मिलित कर लिया जाये तो अस्पृश्यता की समस्या का निदान हो जायेगा।
2. घुर्ये समकालीन भारत में जातियों का जो नया अवतार दिखाई देता है, उसके विरुद्ध थे। इस संदर्भ में वे रिजले की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उन्होंने जातियों का नामांकन जनगणना में करवा कर बड़ा गलत काम किया। राष्ट्रीय एकीकरण में जातियां विभाजक है। एकीकरण के लिये जातियों पर पाबन्दी लगाना आवश्यक है।
3. घुर्ये की यह मजबूत धारणा थी कि राष्ट्रीय एकीकरण के लिये सांस्कृतिक सजातीयता (**Cultural Homogeneity**) का होना अनिवार्य है। इसी कारण जाति सभा, आरक्षण और जाति आधारित आन्दोलनों के वे खिलाफ थे। ये सब एकीकरण की प्रक्रिया में व्यवधान है।

2.8: घुर्ये की आलोचना (Criticism of Ghurye)

घुर्ये समाजशास्त्र के विचारक माने जाते हैं। उनके कई विद्यार्थियों ने जो सम्पूर्ण देशमें फैले हुए हैं यही स्थापित किया है कि घुर्ये ने उपनिवेशकाल में इस बात को दृढ़ता के साथ रखा कि इस देश की सभ्यता महान है। इस देश की एकता को वास्तविक अतीत की संस्कृति में देखना चाहिये और यह

अतीत हिन्दुओं और उनकी भाषा संस्कृत में है। घुर्ये अब्बल दर्जे के राष्ट्रवादी रहे हैं और इस बात की वकालत करते हैं कि एक राष्ट्र बनाने के लिये हमें वैदिक संस्कृति को पुनः स्थापित करना चाहिये। इस विचारधारा के अनुसार देश के गैर-हिन्दू समूह बेमतलब हैं। उनका अस्तित्व हाशिये पर है।

अगर हम थोड़ी उदारता से देखें तो कहना पड़ेगा कि उपनिवेशकाल में जिस तरह की विचारधारा या जैसे ज्ञान का निर्माण हो रहा था, इसमें भारतीय सभ्यता की महानता को बताना ही हमारे हित में था। हम अंग्रेजों को यही बताना चाहते थे कि हमारा संस्कृत साहित्य महान है, हमारा धर्म उच्च है, और हमारी धरोहर हमारा धर्म है। उस समय जब घुर्ये था, वास्तव में वही हमारी पुरातनवादी विचारधारा थी। उपनिवेशकाल में पुरातनवाद ही हमारा राष्ट्रीय उपागम था और घुर्ये ने इसी पुरातनवाद को पुनर्जीवन दिया है। इस दृष्टि से वे समाजशास्त्र के जनक थे, विचारक थे। यहां हम घुर्ये की विचारधारा और उनकी कृतियों पर कुछ टिप्पणी करेंगे—

2.8.1: हिन्दू संस्कृति का आधुनिकता पर प्रभाव (Impact of Hindu Culture on Modernization)

घुर्ये ने हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति, ब्राह्मण धर्म पर खूब लिखा है। आधुनिक भारतीय समाजशास्त्र ने घुर्ये की लिखावट की निंदा भी की है। यह होते हुए भी आज का समाजशास्त्र परम्परा का बड़ा प्रशंसक रहा है। जब कभी आधुनिकता की बात कही जाती है, तब इसका विश्लेषण परम्परा के सन्दर्भ में ही किया जाता है। ल्योड रुडोल्फ और सूसेन रुडोल्फ आधुनिकता की व्याख्या परम्परा के संदर्भ में करते हैं। योगेन्द्र सिंह का तर्क है कि भारतीय परम्पराएं आधुनिक हो रही हैं। कुल मिलाकर आज का समाजशास्त्र हिन्दू परम्पराओं से जुड़ गया है। यह घुर्ये का प्रभाव है। जब वे हिन्दू धर्म, और ब्राह्मण संस्कृति की चर्चा करते हैं तब उनका तात्पर्य हिन्दू परम्पराओं से ही है।

2.8.2: घुर्ये और हिन्दुत्ववादी (Ghurye and Hinduities)

देश में वे लोग और राजनैतिक दल जो सांस्कृतिक राष्ट्रियता की चर्चा करते हैं। घुर्ये ने एक मजबूत बौद्धिक हथियार दे दिया है। इस प्रकार की सांस्कृतिक एकता, जिसे हिन्दू सभ्यता कहते हैं, देश को एक सूत्र में बांध देगी लेकिन इसका परिणाम देश के विभाजन में देखने को मिलेगा। यह देश बहुसांस्कृतिक, बहु-भाषायी, और बहु-क्षेत्रीय है। घुर्ये की इस तरह की विचारधारा पूर्ण रूप से विघटनकारी है। देखा जाये तो घुर्ये का समाजशास्त्र का सम्पूर्ण साहित्य भारतीय समाजशास्त्र को एक खण्डित दिशा देते हैं। वे आर्य संस्कृति, ब्राह्मणवाद, हिन्दू धर्म और हिन्दू राष्ट्रवाद की व्याख्या करते थकते नहीं हैं। उनके विचारों में भारत राष्ट्र-राज्य न बनकर हिन्दू राष्ट्र-राज्य बनेगा।

2.8.3: भारतीय इतिहास हिन्दूकरण की प्रक्रिया है (Indian history is the process of Hinduization)

घुर्ये की किसी भी कृति को हम उठा लें। उनकी केन्द्रीय विधि इतिहास है। वे कहते हैं कि मुसलमानों, आदिवासियों, सिखों, जैन आदि समूहों का विलय हिन्दु जातियों में हो जाना चाहिये। इसी मुहावरे के अन्तर्गत वे कहते हैं कि अब तक का सम्पूर्ण भारतीय इतिहास हिन्दूकरण का इतिहास है इसी विचारधारा को उनके शिष्य एम. एन. श्रीनिवास ने अधिक सशक्त रूप में रखा है जब वे संस्कृतीकरण (प्रारम्भ में इसे उन्होंने ब्राह्मणकरण नाम दिया था) की अवधारणा को रखते हैं। इस संस्कृतीकरण को योगेन्द्र सिंह ने आदिवासियों और मुसलमानों में भी देखा है। कुल मिलाकर घुर्ये का थीसिस आज का

समाजशास्त्र भी दोहरा रहा है। परिवर्तन की प्रक्रियायें इस तरह चल रही हैं कि कोई भी समूह— बराबर हिन्दू बन रहा है। याद आता है जब मार्क्स ने कहा था— अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। घुर्ये ने कहा— भारत में अब तक का इतिहास हिन्दूकरण का इतिहास है। भारत एक धर्म निरपेक्ष, प्रजातांत्रिक, एकाधिक संस्कृति का देश है।

2.9: निष्कर्ष

जैसा कि हमने इस इकाई में अध्ययन किया, जी. एस. घुर्ये ने भारत के समाजशास्त्र के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान किया है। सभी सिद्धान्तों से परिचित होते हुए भी घुर्ये ने स्वयं को किसी भी विशिष्ट सिद्धान्त के ढांचों में नहीं ढाला। केम्ब्रिज से लौटने के बाद प्रारम्भ में उन्होंने 'प्रसारवादी' सिद्धान्त के प्रति थोड़ी रुचि अवश्य प्रकट की थी, किन्तु जीवनभर वे पौराणिक संस्कृत साहित्य और मानवशास्त्रीय प्रस्थापनाओं और प्रविधियों के जरिये इतिहास और परम्परा की खोज करते रहे। मार्क्सवादी अवधारणाओं का प्रयोग नहीं किया है। वे मार्क्सवादी सिद्धान्त और अवधारणाओं से परिचित अवश्य थे और उन्होंने कोंकण क्षेत्र के एक गांव के अपने अध्ययन में एंजिल्स के 'परिवार के नियम' को उल्लेख भी किया है।

2.10: अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जी. एस. घुर्ये के बारे में आप अपने विचार व्यक्त कीजिए।
2. घुर्ये द्वारा दी गयी समाजशास्त्र की परिभाषा समझाइए।
3. जी. एस. घुर्ये के जाति सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय इतिहास में प्रजाति के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
5. जी. एस. घुर्ये का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

2.11: सन्दर्भ ग्रंथ

- Bose, Pradeep Kumar, "A Narrative of Caste and Race in India", in Momin, A.R. (ed.), The Legacy of G.S. Ghurye: A Centennial Festschrift, Bombay, Popular Prakashan, 1996
- Carol Upadhyay, "The Hindu Nationalist Sociology of G.S. Ghurye", Sociological Bulletin, 51 (1), March 2002
- Chakravati, Uma, "Whatever Happened to the Vedic Dasi, Orientalism, Nationalism and a Script for the part" in K. Sangri and vaid (ed.); Recasting Women: Essays in India Colonial History, New Delhi, For Women, 1983
- Cohn, Bernard, S. "Notes on the History of the Study of Indian Society" in Bernard S. Cohn, An Anthropologist among the Listarians and pther Essays, 1987
- Momin, A.R. (ed.), The Legacy of G.S. Ghurye: A Centennial Festschrift, Bombay, Popular Prakashan, 1996
- Pillai, S. Devadas, Indian Sociology Through Ghurye, A Dictionary, Mumbai Popular Prakashan, 1997

इकाई-3

लुई ड्यूमो (Louis Dumont)

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 लुईस ड्यूमो का जीवनवृत्त
- 3.3 ड्यूमो की कृतियाँ
- 3.4 ड्यूमो का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
 - 3.4.1 होमो हिरारकी-एक परिचय
 - 3.4.2 समन्वयात्मक बाहु उपागमीय विश्लेषण
 - 3.4.3 संस्थाओं का विश्लेषण
- 3.5 ड्यूमो का भारतीय समाजशास्त्र को योगदान
 - 3.5.1 जाति संस्तरण की प्रकृति
 - 3.5.2 संस्तरण की सिद्धान्त-शुद्ध और अशुद्ध
 - 3.5.3 सभ्यताओं की तुलना
 - 3.5.4 व्यक्तिवाद
 - 3.5.5 विधि और सिद्धान्त के नये संदर्भ
- 3.6 श्रम-विभाजन
- 3.7 जाति एवं व्यवसाय
- 3.8 जजमानी प्रथा
- 3.9 प्रभाव जाति की अवधारणा
- 3.10 निष्कर्ष
- 3.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 3.12 संदर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं-

- लुई ड्यूमो का जीवनवृत्त एवं कृतियों के बारे में जान सकेंगे।
- ड्यूमो का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के बारे में समझ सकेंगे।
- ड्यूमो का समाजशास्त्र को योगदान क्या रहा इसके बारे में जान सकेंगे।
- ड्यूमो के श्रम-विभाजन, जाति एवं व्यवसाय, जजमानी प्रथा पर विचार जान सकेंगे।

- प्रभाव जाति की अवधारणा के बारे में समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्र में जाति व्यवस्था पर बहुत अधिक लिखा गया है। जो कुछ लिखा है, सब एक जैसा नहीं है। कहते हैं— जातियां भारतीय समाज की टूटन है, विभाजक है, जहर है, जो लोगों को आपस में लडवाती है, राजनीतिक दुराव पैदा करती है। जातियां रबर के एक तम्बू की तरह हैं जिधर चाहें उधर खींच लें। कुछ लोग कहते हैं कि जाति भारतीय समाज के संस्तरण का बहुत अच्छा दृष्टांत है और कोई भी समाज बिना ऊँच-नीच के यानी संस्तरण के नहीं रह सकता। संस्तरण से समाज को लाभ भी है और हानियां भी। बहुत समय पहले भारतीय मानवशास्त्री इरावती कर्वे ने कहा था कि यदि कोई भारतीय समाज को समझना चाहता है तो उसे तीन संस्थाओं को जानना होगा— (1) जाति, (2) परिवार और (3) भाषा समूह।

समाजशास्त्रियों ने जाति को समझने का पूरा प्रयत्न किया है। इन प्रयत्नों में ड्यूमो ने एक नया उपागम अपनाया है। ब्रिटिश और अमेरिकी उपागम सामान्तया हमारे यहां जाति के अध्ययन में लोकप्रिय रहा है। यह पहली बार था कि लुई ड्यूमो ने जातियों को यूरोप के उपागम से समझा है। इस सिलसिले में उनकी पुस्तक होमो हिरार्किकस (**Homo Hierarchicus**) एक उच्च कोटि की रचना समझी जाती है। ड्यूमा का विश्लेषण थीम जाति संस्तरण है। ड्यूमा का महत्व इस लिये भी है कि उन्होंने इस पुस्तक में यह स्थापित करने का भी प्रयास किया है कि कोई भी समाज हो, कहीं का भी हो, उसमें किसी न किसी तरह का संस्तरण अवश्य होता है। वर्ग में संस्तरण है। सामंतवाद में भी ऊँच-नीच रही और इसलिये दुनिया भर के लिये संस्तरण का बहुत अच्छा दृष्टान्त भारत की जाति व्यवस्था है। ड्यूमो का यह तर्क था कि भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को भारत विद्या के साथ समावेश करना होगा। ड्यूमो का भारत विद्या शास्त्र से तात्पर्य भारतीय विचारधारा और मूल्यों से था। उनका मानना था कि मानवजाति अध्ययन में विचारधारा प्रधान होती है। ड्यूमो का उपागम विशुद्ध रूप से संरचनात्मक था। वे जाति को हिन्दुओं की विशिष्टता मानते थे।

3.2 लुईस ड्यूमो का जीवनवृत्त

फ्रांसीसी मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री लुईस ड्यूमो (1911-1998) भारतीय विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के प्रमुख समर्थक माने जाते हैं। ड्यूमो का जन्म फ्रांस के सलोमिका में 1911 में हुआ था। उनके पिता पेशे से इन्जीनियर थे जो रेलवे के निर्माण कार्यों में लगे थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा पेरिस में हुई थी। बहुत कम अवस्था में ड्यूमो के पिता का देहान्त हो गया था। ड्यूमो ने कई वर्षों तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। किन्तु 1955 ई० के बाद वे फ्रांस आ गए और यहीं पर उन्होंने लेखन एवं अध्यापन कार्य किया। ड्यूमो के शैक्षणिक कैरियर का प्रारम्भ 1930 ई० के मध्य में सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री मार्शल मॉस के निर्देशन में हुआ। युद्धबन्दी के कारण उनके अध्ययन में बाधा आई किन्तु उन्होंने संस्कृत का अध्ययन जारी रखा। ड्यूमो को भारत के समाजशास्त्र में विशेष रुचि थी। भारतीय समाज के इतिहास को समझने के लिये उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। इसलिये उन्हें भारतीय परम्परा के अध्ययन पर

बल देने वाले विद्वानों में से एक अग्रणी विद्वान माना जाता है। ड्यूमो ने भारतीय जाति व्यवस्था तथा संस्तरण को अपने विश्लेषण 'कॉन्ट्रिब्यूशन्स टू इण्डियन सोशियोलॉजी' () नामक पत्रिका के एक संस्थापक के लिए विशेषतः जाने जाते हैं। भारतीय जाति व्यवस्था के अतिरिक्त ड्यूमो की भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी विशेष रुचि थी।

3.3 ड्यूमो की कृतियाँ

ड्यूमो ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के कई पक्षों; जैसे— नातेदारी, धर्म, विवाह आदि पर अनेक लेख और पुस्तकें लिखी हैं जिनमें प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

- हिरारकी एण्ड मेरेज एलायन्स इन साउथ इंडियन किनशिप (Hierarchy and Marriage Alliance in South India Kinship, 1954)
- होमो हिरारकिकस (Homo Hierarchicus, 1970)
- रिलिजन, पोलिटिक्स एण्ड हिस्ट्री इन इण्डिया (Religion, Politics and History in India, 1970)
- ऐसेज ऑन इन्डिविज्यूएलिज्म (Essays on Individualism, 1986)
- ला आइडियोलॉजी अल्मन्डे (L'ideologie Allemande, 1994)

3.4 ड्यूमो का भारतविद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

यद्यपि ड्यूमो की सभी पुस्तकें काफी महत्वपूर्ण मानी जाती हैं, तथापि इन्हें सबसे अधिक ख्याति 1970 ई0 में अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित **होमो हाइरारकिकस** पुस्तक से ही प्राप्त हुई। यह पुस्तक पहले 1967 ई में फ्रांसीसी में प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद मार्क सेंसबरी ने किया है। इस पुस्तक ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक अग्रणी समाजशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह पुस्तक कुल 11 अध्यायों में विभाजित है। पुस्तक के प्रारम्भ में परिचयात्मक विवरण के अन्तर्गत उन्होंने आधुनिक मानव की समानतामूलक विचारधारा को श्रेणीक्रम की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्त किया है।

पुस्तक के अध्यायों की सामग्री निम्न प्रकार है—

3.4.1 होमोहिरारकी—एक परिचय

(1) विचारों का इतिहास (History of Ideas), जिसमें उन्होंने जाति की परिभाषा, प्रवृत्तियों एवं पूर्ववर्ती अध्ययनों की विवेचना की है।

(2) व्यवस्था से संरचना की ओर पवित्रा एवं अपवित्र (From System to Structure: The Pure and the Impure), जिसमें उन्होंने पवित्र एवं अपवित्र विचारधारा से जुड़े आधारभूत तथ्यों की विवेचना की है।

(3) संस्तरण: वर्ण का सिद्धांत (Hierarchy: The theory of the Varna), जिसमें उन्होंने वर्ण के सिद्धांत की विवेचना करते हुए क्षेत्रीय स्तर पर संस्तरण अथवा प्रस्थिति क्रम के निर्धारण, शक्ति एवं श्रेणीक्रम के वितरण के आधारों पर प्रकाश डाला है।

(4) श्रम-विभाजन (The Division of Labour), जिसमें उन्होंने श्रम-विभाजन, जाति एवं व्यवसाय तथा जजमानी व्यवस्था की विवेचना की है।

(5) विवाह का नियमन: पृथक्करण एवं संस्तरण (The Regulation of Marriage: Separation and Hierarchy), जिसमें उन्होंने विवाह को नियन्त्रित करने वाले आधारों, अन्तर्विवाह एवं बहिर्विवाह के नियमों के परिप्रेक्ष्य में पृथकता एवं संस्तरण की विवेचना की है।

(6) सहवास एवं खान-पान सम्बन्धी नियम (Rules Conering Contact and Food), जिसमें उन्होंने सामाजिक सहवास एवं खान-पान के प्रतिबन्धों एवं नियमों के परिप्रेक्षण में अन्तर्जातीय सम्बन्धों को समझाने का प्रयास किया है।

(7) शक्ति एवं क्षेत्र (Pawer ans territory), जिसमें उन्होंने सम्प्रभु जाति तथा जाति के आर्थिक व्यवहारों के आधार पर क्षेत्रीय शक्ति संरचना की विवेचना की है।

(8) जातीय सरकार: न्याय एवं सत्ता (Caste Government: Justice Authorit), जिसमें उन्होंने जाति पर आधारित शक्ति एवं सत्ता तथा नयाय प्रणाली के अन्तर्सम्बन्धों की विवेचना इसके व्यावहारिक पहलुओं के आधार पर की है।

(9) सहवर्ती एवं निहितार्थ (Concomitants and Implication), जिसमें उन्होंने परित्याग, स्थायित्व, परिवर्तन एवं सामाजिक गतिशीलता के व्यावहारिक पक्षों की विवेचना की है।

(10) तुलना: क्या गैर-हिन्दुओं तथा भारत से बाहर जातियां हैं? (Comparison: Are There Caste Among Non-hindus and Outside India?), जिसमें उन्होंने गैर-हिन्दुओं; यथा-ईसाई, मुस्लिमों (भारत में तथा भारत से बाहर) में जाति की विद्यमानता से जुड़े प्रश्नों के आधार पर हिन्दू एवं गैर-हिन्दू समुदायों की तुलना की है।

(11) तुलना पर आधारित निष्कर्ष समकालीन प्रवृत्ति (Comparison Concluded: The Contemporary Trend), जिसमें उन्होंने जाति में होने वाले अभिनव परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में संस्तरण पर आधारित समाजों एवं समतामूलक समाजों की समसामयिक प्रवृत्ति की तुलनात्मक व्याख्या की है।

3.4.2 समन्वयात्मक बाहु उपागमीय विश्लेषण

इस पुस्तक में उन्होंने भारतविद्याशास्त्रीय, मानवशास्त्रीय और उच्च समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की बहुकुशलता ढंग से समन्वय करके भारतीय जाति व्यवस्था तथा उसके द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का सारगर्भित विश्लेषण किया है। इनका विचार था कि भारत का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र एवं भारतविद्याशास्त्र के संगम पर ही होना चाहिए। इसलिए भारतीयों के मूल्यों के अध्ययन के लिए धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना अनिवार्य है तथा इसके लिए संस्कृत को ज्ञान होना भी अनिवार्य है। ड्यूमो ने जाति व्यवस्था का विश्लेषण पवित्रता के आधार पर किया है जो अनुठा है। ड्यूमो ने इस पुस्तक में जाति के इतिहास तथा उद्गम सम्बन्धी सिद्धान्तों से लेकर सामाजिक संस्तरण, वर्ण व्यवस्था, खान-पान सम्बन्धी निषेध जैसे विषयों का भी विस्तार से विश्लेषण किया। इस प्रकार, ड्यूमो ने अन्य विद्वानों की भांति जाति के कार्यों अथवा अकार्यों की विवेचना न कर उन आधारों को ढूँढने का प्रयास किया है जो सम्पूर्ण हिन्दू

सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को नियन्त्रित करते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनके अनुसार जाति व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में इस बारे में निहित विचारधारा को समझना आवश्यक है। यह उनके भारतविद्याशास्त्र का ही एक अंग है।

3.4.3 संस्थाओं का विश्लेषण

ड्यूमो ने हिन्दू विवाह, सामाजिक संस्तरण, भौतिक सम्पर्क, श्रम-विभाजन, जजमानी व्यवस्था, शाक्ति एवं सत्ता के वितरण इत्यादि तत्वों को संचालित, नियमित एवं नियन्त्रित करने वाली विचारधारा को अपने विश्लेषण का आधार बनाया है। भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन के बारे में ड्यूमो ने लिखा है कि, “समाज में परिवर्तन हो रहा है किन्तु समाज का परिवर्तन नहीं हो रहा है।” उनका ‘जाति की दृष्टि से गांव’ और ‘सभ्यतापरक दृष्टि से जाति’ सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्य लोगों के जाति अध्ययनों के परिप्रेक्ष्यों से भिन्न है। ड्यूमो ने भारतीय जाति व्यवस्था और भारतीय गांव की सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए भारतविद्याशास्त्रीय दृष्टि और संरचनात्मक उपागम दोनों के प्रयोग की बात कही है।

हालांकि जाति व्यवस्था विषय पर ड्यूमो के विचारों को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया लेकिन फिर भी मार्क्सवादी, उत्तर-आधुनिकतावादी, प्रकार्यवादी, संरचनावादी और चाहे किसी विचारधारा का व्यक्ति क्यों न हो, वह जाति व्यवस्था सम्बन्धी अपने लेखन में ड्यूमो के विचारों को अनदेखा नहीं कर सकता है। ड्यूमो का यह विचार कि, “भारत एक ऐसा धार्मिक समाज है जो जाति व्यवस्था के शुद्ध संस्तरण व्यवस्था से परिचालित है” को कोई भी विचारक माने अथवा नहीं लेकिन यह एक तथ्यपरक स्पष्ट कथन है। ड्यूमो ने जाति व्यवस्था के अतिरिक्त दक्षिण भारत में प्रचलित नातेदारी व्यवस्था पर भी कार्य किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दक्षिण भारत में परमली कल्चर नामक समुदाय पर गहन कार्य किया है।

ड्यूमो एक विशेष परिचर्चा के लिए भी प्रसिद्ध है जो 1957 ई. में एक लेख द्वारा प्रारम्भ हुई। अपने लेख ‘भारत के लिए समाजशास्त्र’ में ड्यूमो ने भारतीय समाजशास्त्र की प्रकृति, सिद्धान्त और अवधारणाओं और पद्धति विज्ञान के बारे में अपने विचारों को प्रकट किया। बाद में उस परिचर्चा में पुस्तकों, लेखों और गोष्ठियों के माध्यम से कई समाजशास्त्रियों ने जैसे योगेन्द्र सिंह, ऑबराय, डी०नारायण आदि ने भाग लिया। इस लेख के ऊपर भारतीय तथा विदेशी समाजशास्त्रियों ने तीव्र प्रतिक्रियाएं अभिव्यक्त की। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र तो समाजशास्त्र है, उसके सिद्धान्त, अध्ययन उपागम, विषय-वस्तु आदि सभी देशों में एक जैसे ही हैं। यदि प्रत्येक देश का अपना समाजशास्त्र होने लगा तो समाजशास्त्र का स्वरूप विस्तृत हो जाएगा। इस प्रकार उन्होंने ड्यूमो के विचारों का विरोध किया। दूसरी ड्यूमो, पोकाँक एवं अन्य समाजशास्त्रियों ने इस विचार का जोरदार समर्थन किया कि भारत के लिए पृथक् से समाजशास्त्र सम्भव हो। इसकी विषय-वस्तु उत्पत्ति, सिद्धान्त एवं उपागम आदि, भारत के प्राचीन इतिहास एवं महाकाव्यों, पुराणों, धर्मशास्त्रों, आदि के आधार पर किया जाना चाहिए जो भारतविद्याशास्त्र के नाम से जाना जाता है।

ड्यूमो के अनुसार पवित्रता (शुद्ध) एवं अपवित्रता (अशुद्ध) की अवधारणाएं विचारों पर आधारित हैं। ये अवधारणाएं उस वृहद् छाते की भांति हैं जिसमें तात्कालिक भौतिक वस्तुओं; जैसे- सफाई, स्वास्थ्य वर्द्ध कता आदि से लेकर दैनिक व्यवहार एवं आदतें, संस्कृति एवं सभ्यता के विभिन्न आयाम तक सम्मिलित हैं अशुद्धता को उन्होंने पुनः दो भागों में विभाजित किया है- अस्थायी अशुद्धता एवं स्थायी अशुद्धता। प्रथम प्रकार की अशुद्धता क्षणिक होती है तथा निर्धारित अवधि में समाप्त होकर पुनः शुद्धता प्राप्त कर

लेती है। मासिक धर्म, प्रसवकाल एवं मृत्यु से जुड़ी अशुद्धता इसी श्रेणी के उदाहरण हैं। स्थायी अशुद्धता वह है जो परिवर्तन शील नहीं है; जैसे—मृत्यु संस्कार को करने वाले डोम का पेशा। पवित्रता एवं अपवित्रता से जुड़े मूल्य एवं विचार विभिन्न जातियों में सामाजिक सहवास एवं खान-पान के नियमों का भी निर्धारण करते हैं। उनका विचार था कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था पवित्रा (ब्राह्मण) एवं अपवित्रता (शुद्र) के दो विरोधी परन्तु परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर सांस्कृतिक तत्वों से बनी हुई है। भारतीय संरचना के ये दो विरोधी तत्व भारतीय जाति व्यवस्था के प्राण हैं। ड्यूमो के अनुसार ब्राह्मण तथा अस्पृश्य एक-दूसरे के पूरक हैं तथा सम्पूर्ण रचना के लिए ये दोनों तत्व आवश्यक हैं। चाहे इन दोनों में असमानता ही क्यों न हो। ड्यूमो के अनुसार सामाजिक खान-पान एवं पेयजल आदि पर नियन्त्रण एवं निषेधों के आधार पर धार्मिक श्रेष्ठता एवं अधिनस्थता का प्रादुर्भाव होता है जो कालान्तर में आर्थिक सम्बन्धों में उच्चता एवं निम्नता का श्रेणीक्रम निर्धारित करती है।

ड्यूमो ने 'वर्णनात्मक समाजशास्त्र' का विचार भी दिया है जिसे अनेक समाजशास्त्रियों ने अस्वीकार किया। ड्यूमो के विचारों की अनेक आलोचनाएं हुई हैं। उनके इस विचार की, कि जाति व्यवस्था की जड़े ब्राह्मणवादी रुढ़िवादिता में गढ़ी हुई हैं तथा, उनकी विविधता में एकता, सामाजिक संगठन, संस्तरण, परिवर्तन के सन्दर्भ में काफी आलोचना हुई है।

आलोचकों का कहना है कि ड्यूमो ने असमता पर आधारित समाज को आदर्श समाज मानने की भूल की है। ऐसा लगता है कि ड्यूमो का सिद्धान्त राजनीति से प्रेरित रहा है जिसके द्वारा वह यह प्रमाणित करना चाहता है कि संस्तरण पर आधारित भारतीय समाज में समानता एक समाजवाद सम्भव नहीं है। साथ ही, ड्यूमो पूर्व एवं पश्चिम के चले आ रहे विवाद को पुनर्जीवित कर दिया तथा पश्चिमी समाजों में वर्ग एवं संजातीयता पर आधारित असमता को अनदेखा कर दिया।

इस प्रकार से घुरिये एवं ने भारतविद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की न केवल विवेचना की है बल्कि उसकी विस्तार भी दिया है।

3.5 ड्यूमो का भारतीय समाजशास्त्र को योगदान

ड्यूमो का भारतीय समाज का गहन अध्ययन किया है। जो कुछ उन्होंने लिखा है, भव्य है। उनका अध्ययन क्षेत्र उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु राज्य रहे हैं। जाति, विवाह, और बन्धुत्व व्यवस्था उनके अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं। उनका योगदान आनुभविक व सैद्धान्तिक विद्या में महत्वपूर्ण रहा है। यहां समाजशास्त्र के जिन क्षेत्रों में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा है, उनका हम सिलसिले से वर्णन करेंगे—

1. जाति संस्तरण की प्रकृति (Nature of Caste Hierarchy)
2. संस्तरण की सिद्धान्त-शुद्ध और अशुद्ध (Theory of hierarchy : Pure and Impure)
3. सभ्यताओं की तुलना (Comparison of Civilizations)
4. व्यक्तिवाद (Individualism)
5. विधि और सिद्धान्त के नये संदर्भ (New Perspectives in Theory and Method)

3.5.1 जाति संस्तरण की प्रकृति (Nature of Caste Hierarchy)

लुई ड्यूमो ने जाति व्यवस्था पर बहुत अधिक लिखा है। इस संदर्भ में उनकी पुस्तक होमो हिरारकिकस एक भव्य प्रबन्ध है। दुनिया भर में इस प्रबन्ध को आदर की दृष्टि से देखा गया है। इसकी कड़वी और मीठी आलोचनाएं भी हुई हैं। इस पुस्तक में उन्होंने कहा है कि जाति व्यवस्था हिन्दुओं की विशेषता है। वे पश्चिमी विद्वानों से एकदम असहमति जताते हैं कि जाति व्यवस्था स्तरीकरण का एक स्वरूप है इस तरह का कथन पश्चिमी विचारधारा पर केन्द्रित है। उनके विचार में भारतीय जाति व्यवस्था संस्तरणवादी हैं इसमें उच्चोच्च श्रेणियां होती हैं। देखा जाये तो ड्यूमो जाति को समानता के दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता। यह व्यवस्था संस्तरणवादी है। इसमें उच्चोच्च श्रेणियां होती हैं। देखा जाये तो ड्यूमो जाति को संस्तरण व्यवस्था मानते हैं जिसकी प्रकृति सम्पूर्णवादी या समग्रवादी है। ईसा से पहले ब्राह्मण ग्रन्थकारों ने प्रतिष्ठा और शक्ति के अन्तर को बताया था। प्रतिष्ठा से उनका तात्पर्य धार्मिक प्रतिष्ठा था और शक्ति से उनका मतलब राजनैतिक शक्ति से था। ड्यूमो ने प्रतिष्ठा और शक्ति के इस विभाजन को विस्तारपूर्वक रखा है। वे कहते हैं कि शक्ति के सामने प्रतिष्ठा गौण हो जाती है। गौण हो जाने का यह सिद्धान्त हमें वैदिक काल की वर्ण व्यवस्था की ओर ले जाता है। इस काल में समाज चार वर्णों में विभाजित था— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। ड्यूमो की दृष्टि में वर्ण व्यवस्था संस्तरण का बड़ा सुन्दर दृष्टान्त है।

जाति समग्रवादी संस्तरणात्मक है (Caste is Holistic and Hierarchical)

ड्यूमो का कहना है कि जाति की प्रकृति समग्रवादी है। वह सम्पूर्ण उच्चोच्च व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार की जातियां इस समग्रता में आ जाती हैं। लेकिन प्रत्येक जाति अपनी पृथक पहचान रखती है। उसका एक निश्चित नाम होता है। उसकी बसावट का एक निश्चित स्थान होता है। कान्यकुब्ज ब्राह्मण केरल और तमिलनाडु में नहीं होते और नायर कश्मीर में नहीं पाये जाते। इस विभिन्नता के होते हुए भी जातियां अपने स्वरूप में बृहद् हैं।

ड्यूमो ने यह भी पाया कि ये जातियां किसी न किसी संस्तरण में अवश्य होती हैं। ये कोटियों में बंधी होती हैं। 1931 की जनगणना में सम्पूर्ण देश में कोई तीन हजार जातियां थीं। 1984 में के० एस० सिंह ने अपने विशाल प्रोजेक्ट में बताया कि देश में कुल चार हजार के लगभग समुदाय हैं। वे जाति के स्थान पर समुदाय को देश की इकाई मानते हैं। संविधान जाति, लिंग और धार्मिक सम्प्रदायों के बीच में कोई भेदभाव नहीं करता। जो भी जातियां और समुदाय देश में हैं, सभी समाज के लिये उत्तरदायी हैं।

जाति व्यवस्था व्यक्तिवाद की विराधी है (Caste System is Inimical to Individualism)

ड्यूमो कहते हैं कि जाति व्यवस्था में जहां संस्तरण है, वहीं व्यक्तिवाद का हनन भी है। जाति अपने सदस्यों पर पूरा नियन्त्रण रखती है। विवाह, खान-पान, भोजन, सभी कुछ जाति के नियन्त्रण क्षेत्र में आ जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता कहीं नहीं रहती। वह मांसाहारी भोजन अपनी इच्छा के अनुसार नहीं कर सकता; विवाह सम्बन्ध नहीं रखता, मद्यपान नहीं कर सकता। गांवों में तो कहीं-कहीं मतदान भी जाति के निर्देश के बाहर नहीं हो सकता। एक प्रकार से जातियां राजनीतिक दलों में बंट जाती हैं। दूसरी ओर पश्चिमी देशों में व्यक्ति अपने आप को बलपूर्वक व्यक्त करता है।

जाति के दो मॉडल हैं (There are Two Models of Caste)

ड्यूमो ने जाति व्यवस्था की प्रकृति पर जो कुछ लिखा है, उस पर एम. एन. श्रीनिवास ने एक व्याख्यान में टिप्पणी की है। वे कहते हैं कि भारत में आज जाति के दो मॉडल काम कर रहे हैं— (1) वर्ण (2) जाति। वर्ण व्यवस्था वैदिक काल का वर्गीकरण वास्तव में व्यावसायिक वर्गीकरण है। इसके अनुसार ब्राह्मणों का व्यवसाय कर्मकाण्ड है— पूजा, उपासना, और आराधना। क्षत्रिय सुरक्षा प्रदान करते हैं; वैश्य व्यवसाय और उद्योग करते हैं जबकि शूद्र नौकर का काम करते हैं। वर्ण व्यवस्था देशव्यापी है। वर्णों में अन्तर नहीं होता। वे अपरिवर्तनीय यानी स्थिर होते हैं।

जातियां अन्तर्वैवाहिकी (**Endogamy**) होती हैं। सामान्यतया ये परम्परागत व्यवसाय करती हैं। और एक छोटे से स्थान या गांव में निवास करती हैं। एक गांव में दस से लेकर तीस जातियां तक पाई जाती हैं।

वर्ण और जाति की विशेषताएं (**Attributes of Varna and Caste**)

ड्यूमो ने वर्ण की दो विशेषताएं बताई हैं। वर्ण प्रतिष्ठा और शक्ति में बहुत स्पष्ट अन्तर करते हैं। प्रतिष्ठा से उनका अर्थ धर्म से है और शक्ति का मतलब अर्थ से। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा उनका धर्म है और क्षत्रियों तथा वैश्यों की शक्ति उनका अर्थ है। ड्यूमो कहते हैं कि अर्थ राजनीति के सामने गौण हो जाता है। धर्म में विचारधारा प्रधान होती है और शेष सब अर्थ की श्रेणी में आ जाता है।

ड्यूमो का कहना है कि वर्ण व्यवस्था उच्चोच्च व्यवस्था नहीं है। उसमें संस्तरण नहीं होता। सभी वर्ण पृथक हैं। ब्राह्मण वर्ण अपना निर्धारित काम करता है। वर्णों के बीच में पारस्परिक निर्भरता नहीं होती। जाति व्यवस्था वर्ण से भिन्न है। ड्यूमो यहां आकर जाति और वर्ण को पृथक करते हैं। इस पृथकता के तीन लक्षण हैं—

1. संस्तरण (**Hierarchy**)
2. पृथकता (**Separation**)
3. अन्तर्निर्भरता (**Interdependence**)

वास्तव में जाति के ये तीन लक्षण जाति की प्रकृति को बताते हैं। शुरु में इन लक्षणों को बोग्ले (**Bogale**) ने रखा था और ड्यूमो ने इन्हें ज्यों को त्यों अपना लिया।

वर्ण और जाति में समजातीयता

ड्यूमो आग्रहपूर्वक कहते हैं कि विश्लेषण के लिये जाति और वर्ण का अन्तर किया जा सकता है। पर वास्तविकता यह है कि ये दोनों ही उच्चोच्च या संस्तरण व्यवस्थाएं हैं और इन्होंने हिन्दू समाज का खण्डात्मक विभाजन कर रखा है।

3.5.2 संस्तरण का सिद्धान्त— शुद्ध और अशुद्ध (**Theory of Hierarchy: Pure Impure**)

ड्यूमो का बहुत बड़ा योगदान उनका जाति संस्तरण का सिद्धान्त है। उन्होंने इस सिद्धान्त के निर्माण में भारत में उपलब्ध मानवजाति अध्ययन की तथ्य सामग्री को खूब काम में लिया है। होमो हिरारकिकस में उन्होंने जाति के बारे में जो कुछ कहा है, उसका आधार मानवजाति अध्ययन के आनुभविक तथ्य हैं। संस्तरण के इस सिद्धान्त को आलोचको ने विभिन्न नामों से परिभाषित किया है। वीणा दास कहती है

कि यह हिन्दू विचारों और व्यवहारों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को 'शुद्ध और अशुद्ध' के विरोध का सिद्धान्त (**Opposition to Pure and Impure**) भी कहा जाता है।

ड्यूमो से पहले फ्रांसीसी विचारक दुर्खीम न धर्म की परिभाषा करते हुए पवित्र और अपवित्र की प्रतिकूलता को रखा था। उन्होंने कहा कि संसार की वे सब वस्तुएं जिन्हें हम आदर की दृष्टि से देखते हैं, पवित्र हैं। पेड़, पानी, पृथ्वी आदि हमारे लिये पवित्र हैं और वे वस्तुएं जिन्हें हम उपयोगिता की दृष्टि से देखते हैं, अपवित्र हैं। हल, इंजन, कपड़े सभी अपवित्र हैं, हमारे लिये उपयोगी हैं।

दुर्खीम की परम्परा में ड्यूमो ने जातियों के संस्तरण को शुद्ध और अशुद्ध की विचारधारा से देखा है। पूजन-पाठ, आराधना शुद्ध है और कचरा, गंदगी हटाना अशुद्ध है। वे कहते हैं कि शुद्ध-अशुद्ध की तुलना में वरिष्ठ या बेहतर है, और अशुद्ध निम्न है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अशुद्ध को हमेशा शुद्ध से पृथक रहना चाहिये। इस तरह की विचारधारा केवल हिन्दू मानस की हो, ऐसा नहीं है। दुर्खीम ने भी ऐसा ही किया था।

अपने इस सिद्धान्त के आधार पर ड्यूमो ने ब्राह्मणों के विवाह और मौत से जुड़े हुए रीति-रिवाजों को शुद्धता के आधार पर देखा है। वे उन रीति-रिवाजों को भी देखते हैं। ड्यूमो अपने शुद्ध और अशुद्ध के सिद्धान्त को व्यापक रूप में परखा नहीं है। इस कमजारी के होते हुए भी, वे हिन्दू समाज के संस्तरण को इसी सिद्धान्त द्वारा समझते हैं।

3.5.3 सभ्यताओं की तुलना (Comparision of Civilization)

वे विद्यार्थी जो मानवशास्त्र की परिभाषा देते हैं, कहते हैं कि यह समाज विज्ञान मनुष्य जाति का अध्ययन करता है। लघु समुदायों के अध्ययन के आधार पर अन्य समुदायों की तथ्य सामग्री के माध्यम से वृहद् सामान्यीकरण करना मानवशास्त्र का उद्देश्य होता है और यह सब तुलना के बिना नहीं हो सकता। ड्यूमो ने दो भारतीय समाज का अध्ययन इसलिये किया कि वे इस अध्ययन के द्वारा यूरोप या फ्रांसीसी समाज को सफलतापूर्वक समझ सकें।

सीखने का एक तरीका समाज वैज्ञानिक अपनाते हैं। वे अपने देश के गांवों को समझने के लिये पहले दूसरे देश के गांवों को समझने की कोशिश करते हैं। कुछ ऐसा ही ड्यूमो ने किया। उन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना को समझा। यहां की जाति व्यवस्था को निकटता से देखा और फिर यूरोप के समतावादी समाज की व्याख्या की। ड्यूमो की पहली रुचि जाति व्यवस्था को समझने की नहीं थी। इसके माध्यम से वे यूरोप की सामाजिक समता को समझना चाहते थे। सच में देखा जाये तो यूरोप के समाज को समझना उनकी पहली रुचि थी। यूरोप को समझने का रास्ता, उनके हिसाब से भारत होकर जाता था।

ड्यूमो की अध्ययन विधि तुलना थी। इसे उन्होंने मॉस से सीखा था। मॉस प्रथम श्रेणी के तुलनात्मक विधिवेत्ता थे। वे संस्कृत भाषा के भी प्रकाण्ड विद्वान थे। मॉस का ड्यूमो को दिया गया उपदेश— अगर अपने समाज को समझना है, तो पहले दूसरों के समाज को समझो, पूरी तरह समझ में आ गया।

ड्यूमो वस्तुतः यूरोप की सभ्यता को समझना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने भारतीय समाज को समझने का प्रयास किया। ड्यूमो ने तुलनात्मक विधि को दो स्तरों पर लागू किया। पहले तो उन्होंने तमिलनाडु

में विवाह के अध्ययन को अपना विषय बनाया। इस अध्ययन के आधार पर उन्होंने उत्तर भारत में (गोरखपुर) जाति पर अपने आपको केन्द्रित किया और इससे आगे उन्होंने यूरोपीय समाज को तुलनात्मक रूप से देखा।

दक्षिण भारत की उत्तर से तुलना करने के लिये ड्यूमो ने प्रेमलाई की कल्लार उपजाति को अपने अध्ययन में शामिल किया। यह क्षेत्र तमिलनाडु में है। उन्होंने पाया कि यहां चचेरे-ममेरे विवाह प्रथा लोकप्रिय है। इसमें लड़के या लड़की का विवाह अपनी मां के भाई की लड़की या लड़के के साथ होता है। इस अध्ययन के लिये ड्यूमो ने उपलब्ध मानवजाति तथ्यों की छानबीन की। लेवी-स्ट्रास के तथ्यों को जांच की। इस आधार पर बान्धव सम्बन्धी निष्कर्षों को रखा। अध्ययन के तुरन्त बाद तो कल्लार जाति के इन आंकड़ों की वे उत्तर भारत से तुलना नहीं कर पाये। यह इसलिये कि यहां ऐसे अध्ययन हुए नहीं थे। ऐसा करना उनके लिये दस वर्ष बाद सम्भव हो सका, लेकिन वे यह बराबर कहते रहे कि जाति व्यवस्था का बुतियादी सिद्धान्त मित्रता का है। यही सिद्धान्त बान्धव व्यवस्था पर भी लागू होता है।

ड्यूमो ने सर्वप्रथम भारतीय समाज की जाति व्यवस्था को समझा। यह व्यवस्था ऊँच-नीच की व्यवस्था है। शुद्ध और अशुद्ध के विरोध की व्यवस्था है और इसे स्पष्ट करने के बाद वे पश्चिमी समाज को उठाते हैं। यह समतावादी समाज है। इसमें व्यक्ति जिन्दा रहता है। उसकी बात चलती है। जाति व्यवस्था में व्यक्ति गौण हो जाता है, उसका गला रुंध जाता है।

पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद ड्यूमो अपनी पुस्तक जर्मन आईडियोलॉजी (**German Ideology, 1994**) में फ्रांस और जर्मनी की तुलना को लेते हैं। प्रबोधन (**Enlightenmist**) फ्रांस में भी आया और जर्मनी में भी, लेकिन जर्मनी में इसे धार्मिक रूप दिया गया और फ्रांस में इसे सांस्कृतिक विधा समझा गया। फ्रांस के लोगों में बराबर राजनीतिक क्रांति का प्रभाव दिखाई देता है।

यह समझना भूल होगी कि ड्यूमो केवल एक भारत विशेषज्ञ थे। देखा जाये तो तुलनात्मक विधि के वे उत्कृष्ट मानवशास्त्री थे।

3.5.4 व्यक्तिवाद (Individualism)

लुई ड्यूमो भारत में एक चर्चित विचारक है। कई समाजशास्त्रियों ने ड्यूमो के साथ सहमति जताई है और कई ने उनका विरोध किया है। यह सब होना स्वाभाविक है। उन्होंने जाति व्यवस्था पर लिखा है और हमारे देश में समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने जाति, परिवार और गांव के अतिरिक्त किसी और मुद्दे पर अपनी कलम नहीं चलाई है। ऐसी अवस्था में जब ड्यूमो ने जाति पर लिखने का साहस जुटाया जो यहां के समाज वैज्ञानिक इस चुनौती के लिये तैयार थे।

ड्यूमो ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि यद्यपि भारत में कई जातियां हैं, यह समाज का खण्डात्मक विभाजन है, फिर भी इन्हें एक सूत्र में बांधने को कार्य संस्तरण व्यवस्था करती है और यह व्यवस्था शुद्ध और अशुद्ध के मूल्यों पर चलती है। ये मूल्य हिन्दू धर्म के हैं और इससे सम्पूर्ण सामाजिक संरचना एक हो जाती है। इस संस्तरणवादी जाति व्यवस्था को ड्यूमो पश्चिम के समतावादी समाज की तुलना में रखते हैं।

दो समाज हैं—भारत का जाति समाज और पश्चिम का समता समाज। इन दोनों समाजों के बीच में व्यक्ति का क्या स्थान है। व्यक्ति है, क्योंकि उसका अस्तित्व है। वह तार्किक है— अपने भले—बुरे के बारे में सोचता है, भारत और पश्चिम, दोनों में व्यक्ति के स्थान को लेकर विवाद है। पश्चिमी समाज में व्यक्ति की भूमिका बहुत मुखर है। इधर भारतीय समाज में व्यक्ति गौण है। जाति की आवाज के सामने, उसकी आवाज नहीं उठती। ऐसी अवस्था में ड्यूमो ने व्यक्ति गौण है। जाति की आवाज के सामने, उसकी आवाज नहीं उठती। ऐसी अवस्था में ड्यूमो ने व्यक्तिवाद की चर्चा की है।

व्यक्ति समाज की महत्वपूर्ण कड़ी है (Individual is an Important Link of Society)

हिन्दी साहित्य में एक महत्वपूर्ण उपन्यास रहा है— भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा। इस उपन्यास का नायक बीज गुप्त है। बड़ा नामी और धरती धुजाने वाला। वह अपने नगर की चित्रलेखा को उसके सामने अकेले में नृत्य करने को कहता है। चित्रलेखा का उत्तर है— वह व्यक्ति के सामने कभी नहीं नाचती। समूह में ही नाचती है और अब बीजगुप्त और चित्रलेखा में विवाद चलता है— मुद्दा है— व्यक्ति समूह से बड़ा है या समूह व्यक्ति से।

ड्यूमो यद्यपि समतावादी समाज की वकालत करते हैं लेकिन व्यक्ति के अस्तित्व को मानते हैं। जाति समाज में भी व्यक्ति वजनदार होता है। गाँधी जी ने अछूतों के लिये लड़ाई लड़ी। वे व्यक्ति थे और जाति का विरोध कर गये। ऐसा ही कुछ अम्बेडकर ने किया।

ड्यूमो की व्यक्तिवाद में रुचि (Dumont's Interest in Individualism)

जब 1966 में ड्यूमो की पुस्तक होमो हिरारकिकस का फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशन हुआ तब उनके विचारों में आया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी लिखा जाना चाहिये और फिर 1977 में उनकी पुस्तक फ्रोम मन्डेविले टू मार्क्स प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने व्यक्ति की भूमिका पर आलोचनात्मक टिप्पणी की। इस पुस्तक के अतिरिक्त उन्होंने अपने फुटकर निबन्धों में भी व्यक्तिवाद पर बहुत कुछ लिखा है।

वे कहते हैं कि किसी भी समाज में व्यक्ति को समानता मिलनी चाहिये। यह समानता कई प्रकार की हो सकती है। सभी मानते हैं कि कानून के सामने सभी बराबर है। लिंग, धर्म, प्रजाति, जाति आदि के आधार पर व्यक्ति में भेदभाव नहीं होना चाहिये। इसी तरह आगे बढ़ने के, प्रगति करने के सभी समान अवसर मिलने चाहिये।

समानता का सम्बन्ध व्यक्तिवाद से है (Equality is Related to Individualism)

ड्यूमो बराबर व्यक्तिवाद को समानता के स्तर पर देखते हैं। उनका तर्क है कि दुनिया भर के मनुष्य समान हैं। कोई ऊँचा नहीं, और न कोई नीचा। उन्होंने जाति समाज और समतावादी में व्यक्ति को समानता के आधार पर रखा है। ड्यूमो के व्यक्तिवाद की विचारधारा पर विवरण उनकी पुस्तक होमो एक्वेलिस (Homo Aequalis, 1977) में को मिलता है। वास्तव में यह पुस्तक व्यक्तिवाद पर आधारित है।

ड्यूमो इस तथ्य से परिचित है कि हम समानता की चर्चा तो बड़ी रुचि के साथ करते हैं लेकिन यह भूल जाते हैं कि दुनिया का एक बहुत बड़ा भाग, आज गरीबी से परेशान है। उसके सामने आगे बढ़ने के समान अवसर नहीं है। उसकी समानता केवल एक छलावा मात्र है।

3.5.5 विधि और सिद्धान्त के नये संदर्श (New Perspective on Method and Theory)

ड्यूमो ने भारतीय समाज के अध्ययन में जिस विधि और जिन सिद्धान्तों को अपनाया है, वे उन्हें तुलनात्मक विधि का महान मानवशास्त्री स्थापित करते हैं। जब हम किसी सिद्धान्त की परिपक्वता की बात करते हैं तब हमें यह देखना पड़ता है कि सिद्धान्त निर्माण में किस विधि को अपनाया गया है।

ड्यूमो की सैद्धान्तिक रणनीति (Dumont's Theoretical Strategy)

ड्यूमो के भारत से जुड़े कार्यकाल को 1948 से 1970 के बीच माना जाता है। इस अवधि में उन्होंने जाति व्यवस्था और बान्धव सम्बन्धों पर लिखा है। सिद्धान्त की दृष्टि से उनका उपागम एक नया उपागम था। 1960-1965 में जो ग्रामीण अध्ययन भारत में किये गये, से सूक्ष्म अध्ययन थे। उनकी विधि आनुभविक थी। ड्यूमो ने अपने अध्ययन की नई रणनीति अपनाई। उन्होंने वृहद् अध्ययन की शुरुआत की। उपलब्ध सिद्धान्तों को लेकर उन्होंने जाति व्यवस्था का अमूर्तिकरण और सामान्यीकरण किया। उनकी विधि की निम्न विशेषताएं हैं—

तुलनात्मक विधि (Comparative Method)

ड्यूमो ने अपने अध्ययन के लिये तुलनात्मक विधि को अपनाया है। उनकी लिखावट में लफ्फाजी बहुत अधिक है और इसलिये उनको समझ पाना साधारण पाठक के लिये कठिन हो जाता है। तुलनात्मक विधि को वे विषमता की तुलना भी कहते हैं। पूर्व और पश्चिम के देशों में विरोध है, दोनों की संस्कृतियां जुदा-जुदा हैं। इस तुलना को ड्यूमो विषमता की तुलना कहते हैं। उन्होंने जाति व्यवस्था की तुलना फ्रांस से की है। दोनों पृथक-पृथक सभ्यताएं हैं। भारत में जाति का संस्तरण है, यूरोप में समतावादी समाज है, भारत में शुद्ध और अशुद्ध के मूल्यों पर जाति व्यवस्था चलती है, फ्रांस में स्तरीकरण है—वर्ग है। ड्यूमो इवान्स-प्रीचार्ड की इस विचारधारा पर चलते हैं कि अगर अपने समाज को अच्छी तरह से समझना चाहते हैं तो पहले दूसरों के समाज को समझो।

ड्यूमो की परम्परा तुलनात्मक विधि की रही है (Dumont's Tradition has been of Comparative Method)

ड्यूमो फ्रांसीसी थे। उन पर बोगले, रोबर्ट हर्ज, मारसल मॉस का बहुत बड़ा प्रभाव था। ये सब तुलनात्मक विधि को मानवशास्त्र की विश्वनीय विधि मानते थे। इससे प्रभावित होकर ड्यूमो ने भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन इसी विधि द्वारा किया।

तुलनात्मक विधि मूल्यों की पहचान करने के बाद लागू की जाती है (Comparative Method is Introduced after Identification of Values)

ड्यूमो के अध्ययन की महत्वपूर्ण इकाई मूल्य है। वे सबसे पहले समाज में प्रचलित मूल्यों की पहचान करते हैं। उनकी तुलना आधार मूल्य होते हैं। उन्होंने जातियों में निहित मूल्यों यानी शुद्ध और अशुद्ध की

पहचान की और इसी के आधार पर संस्तरण के सिद्धान्त को बनाया। इसी तरह सभ्यता की तुलना भी व्यक्तिवाद के मूल्यों पर की। पश्चिमी सभ्यता में व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है और पूर्व में उसका स्थान गौण है।

वास्तविक तुलना विचारधारा की होती है (Real Comparison is of Ideology)

पूर्व हो या पश्चिम, जाति हो या व्यक्ति, तुलना की सबसे बड़ी इकाई विचारधारा होती है। अगर हम ड्यूमो का सही विश्लेषण करें तो इकाई के पीछे जो विचारधारा होती है, उसे समझना होगा। विचारधारा का अर्थ है मूल्यों की व्यवस्था और ये मूल्य विषम होते हैं। जाति व्यवस्था का संस्तरण शुद्ध और शुद्ध की मूल्य व्यवस्था पर निर्भर है।

3.6 श्रम-विभाजन

ड्यूमो के अनुसार भारतीय सामाजिक श्रम-विभाजन एव आधुनिक आर्थिक व्यवस्था जो कि मूलतः व्यक्तिगत लाभ पर आधारित है, एवं लिसमे सैद्धान्तिक रूप में बाजार सम्पूर्ण व्यवस्था में जहां महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, में पाये जाने वाले विभाजन को स्पष्ट करता है।

लुई ड्यूमो कहते हैं कि पुराने समय में जाति-व्यवस्था के व्यावसायिक पक्ष पर अत्यधिक ध्यान दिया गया था एवं जाति-व्यवस्था को औद्योगिक श्रम-विभाजन के आधार पर विश्लेषित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस प्रकार लुई ड्यूमो का मानना है कि लगभग 1950 के आसपास जितना भी साहित्य उपलब्ध है उस सभी ने इस पक्ष की उपेक्षा की है। ड्यूमो का मानना है कि इसकी जगह विशेषकर गांव में जजमानी व्यवस्था का एक स्वरूप पाया जाता है जिसकी विवेचना भी अनिवार्य ही है।

3.7 जाति एवं व्यवसाय

लुई ड्यूमो ने लिखा है कि जाति व व्यवसाय के मध्य निश्चित रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसे आसानी से नहीं देखा जा सकता। ड्यूमो इस सम्बन्ध में ब्लण्ट के विचारों को प्रस्तुत करते हैं।

ब्लण्ट ने जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति में व्यावसायिक आधार को महत्वपूर्ण मानते हुए इसे रिजसे के प्रजातीय सिद्धान्त से मिलाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार, जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति एक वर्गगत समाज में व्यावसायिक विभाजन उत्पन्न होने की स्थिति से सम्बन्धित है। इसे स्पष्ट करते हुए ब्लण्ट का विचार है कि भारतीय समाज आरंभ से ही बहुत से प्रजातीय समूहों में विभाजित रहा है जिसका आधार प्रजातीय विशुद्धता अथवा प्रजातीय मिश्रण की मात्रा थी। इसी समय यहाँ व्यवसाय के आधार पर अनेक संघों का निर्माण हुआ जिनमें सभी समूहों के व्यक्तियों को सदस्यता प्राप्त होने लगी। ये संघ शक्तिशाली संगठनों के रूप में विकसित होने लगे और अपने व्यावसायिक ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए इन्होंने अन्तर्विवाह की नीति को अपना लिया। इन व्यावसायिक संघों का रूप इतना व्यापक था कि अनेक जनजातीय समूह भी इनमें सम्मिलित होने लगे। इसके पश्चात् भी ये जनजातीय समूह केवल अपने समूह में ही विवाह-सम्बंध स्थापित करने पर जोर देते थे। यही कारण है कि जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रमुख जातियाँ और उपजातियाँ अपने आप में अन्तर्विवाही हैं। ब्लण्ट का विचार है कि अधिकतर जनजातियाँ अपनी उत्पत्ति एक विशेष पर्वज से मानते हैं। यही कारण है कि जाति-व्यवस्था

के अन्तर्गत यद्यपि प्रमुख जातियों का कोई सामान्य पूर्वज नहीं होता, जबकि अनेक उपजातियाँ आज भी अपनी उत्पत्ति किसी विशेष पूर्वज से होने का दावा करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बल्लभ की मान्यता है कि भारतीय समाज में व्यावसायिक विभाजन के उत्पन्न होने से जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। व्यवसाय के आधार पर यहीं अनेक व्यावसायिक संघ बने जिनकी सदस्यता प्रारम्भ में कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता था। धीरे-धीरे ये संगठित होने लगे और व्यवसायिक ज्ञान को अपने तक ही सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न करने लगे। इसी उद्देश्य से उन्होंने अन्तर्विवाह की नीति का पालन किया और ये अपने ही समूह के लोगों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने लगे। ये समूह ही बाद में जातियों में बदल गये हैं। आज भी अन्तर्विवाह जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

ड्यूमो ने जी.एस. घुर्ये के विचारों की विवेचना करते हुए लिखा है कि घुर्ये न भाषायी आधार पर उनकी विवेचना की है। वे कहते हैं कि घुर्ये के अनुसार हिन्दु जाति समाज में अपने-अपने विशिष्ट नाम वाले अनेक समूह विद्यमान हैं जातियों के बड़े समूहों में बहुतों के नाम ही ऐसे हैं जो अनेक मुख्य धन्धों या शिल्पकारियों से निकलते हैं जिनमें वे लगे हुए थे और अधिकांश में अब भी लगे हुए हैं। ब्राह्मण का अर्थ वह व्यक्ति है जो प्रार्थना क्रिया पद्धति के सूत्रों या मंत्रों का उच्चारण करता है और जो उस समूह को निर्दिष्ट करता हो जिसके सभी सदस्य किसी समय इसी प्रकार से लगे हुए थे, यद्यपि वह नाम या उपाधि उस समूह विशेष की होकर रह गई है जिसके सदस्य पूर्ण तप से पौरोहित्य के कार्य में नहीं लगे हुए हैं, यही तक कि वे ऐसे कार्यों में भी लगे हुए हैं जो मूल आदर्शों के सर्वथा विपरित हैं।

उन समूहों में जो वाणिज्य-व्यापार करने हैं अधिकांश 'वणिक' या 'बनिया' नामधारी होते हैं। यह शब्द संस्कृत से निकला हुआ है और इसका अर्थव्यापारी होता है ऐसा प्रतीत होता है कि तामिल चेटी भी उस भाषायी प्रदेश में इसी समूह के धन्धे का संकेत करता है। पंजाब के जात का अर्थ कृषक होता है। ऐसा ही अर्थ तामिल के वेल्लाल तथा कन्नड़ प्रदेश के वक्कलिंग का है। कुर्मी तथा कुणबी भी सम्भवतः उस समूह का व्यवसाय यानि कृषि सूचित करते हैं, यद्यपि यह भी सम्भव नहीं कि इन नामों का मूल जन-जातियों से सम्बद्ध हो। उत्तर भारत में कृषि करने वाले जाति का नाम किसान है। यह अवश्य ही कृषि के द्योतक संस्कृत शब्द से निकला है। कभी-कभी कृषि का संबंध अप्रत्यक्ष रूप से जोड़ा जाता है जैसे मध्य-प्रांत में लोधा नाम से प्रकट होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह नाम मिट्टी का ढेला यालोंदा फाँदने वाला गँवार संस्कृत शब्द 'लोह' यानी 'लौंदा' से निकला है और कृषक का संकेत करता है। मवेशी यानी गाय-बैल पालने वाला समूह ग्वालों या ग्वाला है महत्वपूर्ण नाम कोधारणा करता है जो संस्कृत के 'गो' शब्द से निकला है सोनी या सोनार जो स्वर्णकार जाति का नाम है उस पदार्थ का संकेत करता है जिसका यह समूह विशेषज्ञ होता है। बढाई, तर्खन, लच्छन तथा सुतार विभिन्न भाषायी प्रदेशों में काष्ठ-कर्म-कुशल जाति की उपाधियाँ हैं और ये उस पदार्थ को जिस पर कार्यकिया जाता है, उसकी शिल्प-विधि, या उस शिल्प के विशिष्टयन्त्रों एवं औजारों को सूचित करती हैं। धातु का काम करने वाली जातियों के नाम जैसे लोहार, ताँबत, कसार तथा ठठेरा उस धातु से निकलते हैं जिसका उपयोग ये समूह करते हैं, जैसे लोहा, ताँबा काँसा तथा पीतल। बननर, जोडिया ताँति, कोष्टि, पटक, पटानलुकरण तथा सॉल बनकर यानी - वयनजीवी जातियों के नाम हैं। प्रथम दो नामों की उत्पत्ति तार जोडने से अथवा रेशमी वस्त्र के संस्कृत शब्द से निकली है। कुम्भार या कुम्हार कुम्हार जाति का नाम है और इसका अर्थ होता है कि वह व्यक्ति जो कुम्भ पकाता है तिली या तेली या तेल पेरने वालेका अर्थ या

तो तेल निकालने वाला होता है या वह व्यक्ति जो तिल का व्यापार करता हो। नाई जाति का नाम या तो नाई के संस्तुत पर्याय से निकला है या इसका अर्थ बाल काटने वाला होता है। लुनिया तथा आगरी का अर्थ नमक बनाने वाला होता है। बारी यानी पत्तलें बनाने वाली जाति का नाम बारयानी पत्ते-पौधों से निकाला है और तम्बोली यानी पान बेचनेवाले का नाम पान के पर्यायवाची संस्कृत शब्द 'ताम्बूल' से बना है धारकार का अर्थ है रस्सीबनाने वाला और बाँस फोड़ का अर्थ है बाँस चीरकर टोकरियाँ बनाने वाला। चमार या चाभार यानी चमड़े समानार्थक संस्कृत शब्द चर्म से निकला। उत्तर भारत में एक जाति का नामकहार है—इसका अर्थ जल लाने वाला होता है। प्राचीन समय में यह जाति केवल जल लाने में लगी रहती थी, परन्तु अब वह सामान्य तथा घरेलू भृत्यों या सेवकों पर लागू होता है। पासी का अर्थ पाश का उपयोग करने वाला होता है। यह मुख्यतः आदिवासी जाति का नाम है, जो जंगली पक्षियों तथा छोटे-छोटे आखटे के पशु-पक्षियों को पकड़ कर तथा ताड़-खजूर आदि के वृक्ष काटकर अपनी जीविका उपार्जित करती है। भेड़े चराने वाली जाति का अर्थ भेड़ के पर्यायवाची शब्द से निकला हुआ प्रतीत होता है। कम से कम गड़रिया शब्द तो ऐसा ही है जो गाडर शब्दसे बना है, जो प्राचीन हिन्दी में भेड़ के लिए व्यवहृत होता था।

इन विराट समूहों में कतिपय ऐसे हैं जो जातियाँ कहलाते हैं और जिनके नाम या तो जन जातियाँ या नस्लों से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के रूप में अरोडा, गूजर, लुहाण भोटिया गौना, भील, डोम, आरॉव मुण्डा, न्थाल, अहीर, महार, मराठा, गोण्ड, खोड़ आदि नाम विद्यमान हैं।

3.8 जजमानी व्यवस्था

इसके बाद लुई ड्यूमो जजमानी प्रथा पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। वे बताते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण के लिए भारत में पायी जाने वाली जजमानी प्रथा को समझे बिना सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना नहीं की जा सकती। विलियम वाइजर ने सबसे पहले ग्रामीण भारत में जजमानी प्रथा का उल्लेख किया है आस्कर लेविस ने जजमानी प्रथा की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'जजमानी व्यवस्था में गांवों में प्रत्येक जाति समूहों से अन्य जातियों के परिवारों को भी कुछ निश्चित सीमाओं की आशा की जाती है। गांवों में—लकड़ी की चीजें बनाता है, लुहार लोह के औजार बनाता है, एवं नाई बाल काटता है किन्तु वे अपनी सेवाएं सभी व्यक्तियों को प्रदान न करके केवल उन्हीं परिवारों को प्रदान करते हैं, लिनसे उनके परिवार के सम्बन्ध चले आ रहे हैं व्यक्ति के पिता ने भी उन्हीं परिवारों की सेवा की होगी और उसका लड़का भी उन परिवारों के लिए कार्य करता है। इस प्रकार यह व्यवसाय और सीमायें जाति के आधार पर परम्परागत रूप से चलती रही हैं और जजमानी प्रथा में जिस परिवार की सेवा की जाती है वह परिवार अथवा परिवार का मुखिया सेवा करने वाले कस जजमान कहलाता है। इन शब्दों का प्रयोग उत्तरी पश्चिमी भारत में किया जाता है। भारत के अन्य भागों में जहां यह प्रथा पाई जाती है, कमीन के दूसरे नाम भी प्रचलित हैं जजमानी प्रथा को महाराष्ट्र में 'ब्लूटे' मद्रास में 'मद्रास' और मैसूर में 'अद्रे' कहते हैं। वाइजर ने जजमानी प्रथा को परिभाषित करते हुए लिखा है 'इस प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का कोई निश्चित कार्य पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। इस कार्य पर उसका एकाधिकार होता है। इसमें एक जाति दूसरी जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।' श्री रेड्डी का मत है कि जजमानी अवस्था में पुश्तैनी तौर पर एक जाति का सदस्य दूसरी जाति को अपनी सेवाएं परम्परागत आधार पर प्रदान करता है। ये सेवा-सम्बन्ध जो पुश्तैनी तौर पर शासित होते हैं, 'जजमान-कमीन सम्बन्ध कहलाते हैं।

वेबस्टर शब्दकोष में लिखा है, 'जजमान एक ऐसा व्यक्ति है जिसने धार्मिक सेवाओं के लिए ब्राह्मणों को किराये पर लिया है, इस तरह वह एक संरक्षक कार्यार्थी है।

जजमान शब्द संस्कृत के यजमान से लिया गया है जिसका अर्थ यज्ञ करने वाले से था। क्रमशः यह शब्द उन सभी के लिए प्रयुक्त होने लगा जो कि सेवा के रूप में किसी से भी काम कराते थे। इस प्रकार जजमानी प्रथा में मुद्रा का विनिमय कम होता है क्योंकि वह खुली बाजार अर्थव्यवस्था नहीं है और न ही जजमान के कमीन के सम्बन्ध पूंजीवादी व्यवस्था की तरह सेवायोजक एवं सेवाकारी की तरह है। जजमान अपने कमीन को समय-समय पर नकद या अनाज में भुगतान करता है कमीन को सेवा के बदले भोजन, वस्त्र निवास स्थान तथा कुछ औजारों का उपयोग करने एवं कच्चे माल की सुविधाएं प्राप्त होती है। ये सुविधाएं इस व्यवस्था को सृदढ़ बनाती है। आज जबकि मुद्रा का उपयोग बहुत बढ़ गया है फिर भी किसान अनाज में भुगतान करना अच्छा समझते है।

लुई ड्यूमो ने श्रम विभाजन के रूप में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसमें वे जाति एवं व्यवसाय की प्रमुखता से विवेचना करते है तथा इस सम्बन्ध में ब्लंट एवं घर्षे के विचारों को प्रस्तुत करते है। ड्यूमो का मानना है कि जाति का व्यवसाय से अनिवार्यतः सम्बन्ध है और जाति की पद सोपानिक व्यवस्था को व्यावसायिक विभाजन के आधार पर स्पष्टतः समझा जा सकता है। यद्यपि ऐसा करने में हमें भारतीय जाति-व्यवस्था के परम्परागत रूप को ध्यान में रखना होगा। इसी प्रकार ड्यूमो जजमानी व्यवस्था को भी पद सोपानिक व्यवस्था में एक परम्परागत श्रम-विभाजन के महत्वपूर्ण आधार के रूप में स्वीकार करते है और इसी के साथ वे प्रभुत्व जाति की अवधारणा की विवेचना करते है। ड्यूमो के अनुसार प्रत्येक गांव में एक या कुछ जातियां ऐसी होती है जो गांव की अन्य जातियों से अनेक आधारों पर श्रेष्ठ होने का दावा करती है, और वे आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति की स्वामी तो होती ही है साथ ही साथ उनके पास जीवन निर्वाहक साधनों का भी प्रभुत्व होता है। यही जातियां गांव के बारे में प्रमुख रूप से निर्णय लेती है और शक्ति संरचना में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

3.9 प्रभाव जाति की अवधारणा

भारतीय गांवों में सामाजिक संस्तरण का मुख्य आधार जाति प्रथा है। यही विभिन्न जातियां जजमानी प्रथा द्वारा आर्थिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर रही है। निम्न एवं उन जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध भूस्वामी और काश्तकार, मालिक और सेवक, साहूकार और ऋण लेने वाले, संरक्षक और मातहत, आदि के रूप में भी पाये जाते है। जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं ग्राम एकता को समझने के लिए प्रभाव जाति, की अवधारणा को समझना आवश्यक है। यह अवधारणा गांव की राजनैतिक व्यवस्था, शक्ति एवं न्याय व्यवस्था और प्रभुत्व को समझने में भी योगदान देती है।

(1) संख्यात्मक शक्ति, (2) आर्थिक व राजनैतिक प्रभुत्व, (3) जातिय संस्तरण की प्रणाली में उच्च सामाजिक स्थिति, (4) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय, (5) गांव की एकता न्याय और कल्याण के लिए कार्य।

(1) संख्यात्मक शक्ति (Numerical Strength) – प्रभु जाति का सर्वप्रमुख आधार उसकी संख्यात्मक शक्ति है। 'प्रभु जाति, गांव में अथवा क्षेत्र में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक संख्या में होती है। संख्या में अधिक होने से वह अन्य जातियों पर अपना प्रभुत्व रखती है। अल्पसंख्यक जातियों को उसकी शक्ति

के सम्मुख झुकना होता है और कई बार तो प्रभु जाति उन पर अत्याचार भी करती है। अल्पसंख्यक जातियां ऐसी स्थिति में प्रभु जाति का विरोध भी करती है।

(2) आर्थिक व राजनैतिक प्रभुत्व (Economic and Political Dominance)— क्षेत्र अथवा गांव में प्रभाव जाति आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति रखती है। उसके पास गांव की सर्वाधिक भूमि होती है जिस पर अन्य जातियों के लोगों द्वारा काम करवाया जाता है। इस प्रकार अन्य जातियां प्रभु जाति पर आर्थिक रूप से निर्भर होती है। आर्थिक निर्भरता राजनैतिक प्रभुत्व को भी जन्म देती है। चुनाव के समय प्रभु जाति अपने आश्रितों के मत प्राप्त करने में सक्षम होती है। कभी-कभी वह राजनैतिक शक्ति एवं पद पाने के लिए बल का प्रयोग और डराने-धमकाने का कार्य भी करती है। गांव में प्रभु जातियां राज्य विधानसभा और लोकसभा के चुनावों में 'वोट बैंक' का कार्य करती है।

(3) जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च सामाजिक स्थिति (Higher Status in Caste Hierarchy)— प्रभाव जाति के लिए यह आवश्यक है कि वह जाति व्यवस्था में अपना ऊँचा स्थान रखती हो। कोई भी निम्न जाति नहीं पायी गयी है क्योंकि सामाजिक संस्तरण में जातियों की पवित्रता भी एक महत्वपूर्ण पक्ष रहा है। कई बार एक निम्न जाति संख्या में अधिक होने अथवा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी गांव में प्रभु जाति का स्थान इसलिए ही नहीं ले पाती कि वह जाति संस्तरण में निम्न स्तर पर है।

(4) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय (Modern Education and New Occupations)— गांव में प्रभाव जाति अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक शिक्षित होती है। वह नवीन व्यवसायों और नौकरियों में लगी होती है। शिक्षित होने के कारण उसका सम्पर्क राजकीय अधिकारियों से होता है। इन सब बातों का अन्य जातियों पर प्रभाव पड़ता है और वे प्रभु जाति का दबदबा मानती है।

(5) गांव की एकता न्याय और कल्याण के लिए कार्य (Administration of Justice, Unity and Welfare for the Whole Community)— प्रभाव जाति गांव की एकता को बनाये रखने में योग देती है और ऐसे कार्य करती है जिससे सारे समुदाय की भलाई हो। यह सारे गांव में झगड़े निपटाने एवं न्याय का कार्य भी करती है। प्रभु जाति अन्य जातियों के नियमों का सम्मान करती है। अन्य जातियों के विवाद हल करने के लिए प्रभु जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास लाये जाते हैं; प्रभु जाति निष्पक्ष और तटस्थ होती हैं केवल वे मामले ही जो जाति से सम्बन्धित होते हैं, पास के गांवों में रहने वाले अपनी जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास ले जाते हैं। सार्वजनिक उत्सवों एवं सभाओं में प्रभु जाति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

प्रभु जाति की अवधारणा का महत्व बताते हुए ड्यूमा कहते हैं कि "प्रभुत्व की अवधारणा अथवा प्रभु जाति, भारत में सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में किये गये अध्ययनों की दृढ़ लाभदायक उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करती है।

3.10 निष्कर्ष

जैसा कि हमने इस इकाई में अध्ययन किया कि लुई ड्यूमा का भारतीय समाजशास्त्र में विशेष योगदान दिया है। ड्यूमा भारतीय विद्याशास्त्री परिप्रेक्ष्य के प्रमुख समर्थक माने जाते हैं। ड्यूमा ने सामाजिक व्यवस्था का विधिवत ढंग से अध्ययन किया तथा जाति व्यवस्था के अपने अध्ययन में भारत विद्याशास्त्रीय

दृष्टि और संरचनात्मक उपागम दोनों प्रयोग किया है और 'भारत के समाजशास्त्र' को समाजशास्त्र एवं भारत विद्याशास्त्र के संगम पर स्थापित करने का प्रयास किया है। ड्यूमो के अनुसार भारत एक ऐसा धार्मिक समाज है जो जाति व्यवस्था की शुद्ध असमानता व्यवस्था से परिचालित है और असमानता पवित्रता और अपवित्रता की विरोधी वैचारिकी पर आधारित है। लुई ड्यूमो ने श्रम विभाजन के रूप में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसमें वे जाति एवं व्यवसाय की प्रमुखता से विवेचना करते हैं।

3.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. ड्यूमो का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण कीजिए।
2. ड्यूमो का भारतीय समाजशास्त्र को योगदान का वर्णन कीजिए।
3. प्रभाव जाति की अवधारणा को ड्यूमो ने किस प्रकार प्रस्तुत किया है।
4. ड्यूमो द्वारा प्रतिपादित जजमानी सम्बन्धों को लिखिए।

3.12 संदर्भ ग्रन्थ

- हिरारकी एण्ड मैरिज एलायन्स इन साउथ इंडिया, 1954 (Hierarchy and Marriage Alliance in South Kinship, 1954)
- होमो हैरारकी, 1970 (Homo Hierarchicus, 1970)
- रिलीजन पोलिटिक्स एंड हिस्ट्री इन इंडिया: फ्रोम मंडविले टू मार्क्स, 1970 (Religion Politics and History in India: Mandeville to Marx, 1970)
- ऐसेज ऑन इन्डीविजुअलिज्म, 1986 (Essays on Individualism, 1986)
- ला आईडियोलॉजी एलमन्डे, 1994 (L'ideologie Allmande, 1994)

इकाई-04

एम0 एन0 श्रीनिवास (M.N.Srinivas)

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 संस्कृतिकरण-अवधारणा
- 4.3 संस्कृतिकरण की विशेषताएँ
- 4.4 संस्कृतिकरण व ब्राह्मणीकरण में अंतर
- 4.5 संस्कृतिकरण के कारक
- 4.6 प्रभु जाति
- 4.7 प्रभु जाति की विशेषताएँ
- 4.8 भारत की कुछ प्रभु जातियाँ
- 4.9 प्रभु जाति की अवधारणा की आलोचना
- 4.10 धर्मनिरपेक्षीकरण-अवधारणा
- 4.11 धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
- 4.12 धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व
- 4.13 धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण
- 4.14 धर्म निरपेक्षीकरण का प्रभाव एवं परिवर्तन
- 4.15 आधुनिकीकरण-अवधारणा
- 4.16 अर्थ एवं परिभाषा
- 4.17 आधुनिकीकरण की विशेषताएँ
- 4.18 भारत में आधुनिकीकरण
- 4.19 भारत में आधुनिकीकरण के कारण
- 4.20 भारत में आधुनिकीकरण के परिणाम
- 4.21 पश्चिमीकरण-अवधारणा
- 4.22 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ
- 4.23 पश्चिमीकरण एवं परिवर्तन
- 4.24 सारांश
- 4.25 शब्दावली
- 4.26 अभ्यास प्रश्न
- 4.27 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 4.28 उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.29 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई में अध्ययन के उपरान्त आप

- एम0 एन0 श्रीनिवास के जीवन से परिचित होंगे।

- समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के क्षेत्र में उनके योगदान को समझ पायेंगे।
- इस योगदान के लिए उन्हें प्राप्त स्वदेशी-विदेशी पदकों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- समझ पायेंगे कि संस्कृतिकरण, लौकिकीकरण व प्रभुजाति, आधुनिकीकरण व पश्चिमीकरण के संबंध में श्रीनिवास की विचारधारा क्या है?

4.1 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्रियों में प्रो० ए०एन०श्रीनिवास का नाम अग्रणीय है। कर्नाटक के मूल निवासी श्रीनिवास का पूरा नाम मैसूर नरसिंहराव श्रीनिवास है। 16 नवम्बर 1916 को मैसूर में जन्में श्रीनिवास की प्रारम्भिक शिक्षा मैसूर के स्थानीय शिक्षण संस्थाओं में हुई। स्नातकोत्तर की डिग्री प्रो० जी० एस० घुरये के मार्गदर्शन में सम्पन्न कर पी०ए०डी० की डिग्री मुम्बई विश्वविद्यालय से प्राप्त की तत्पश्चात् आगे की पढ़ाई के लिए ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय लन्दन में गये और 1951 में पुनः भारत लौटकर बड़ौदा एवं दिल्ली विश्वविद्यालय में (Delhi school of Economics) समाजशास्त्र व सामाजिक मानवशास्त्र विभागों में अपनी सेवाएँ देकर सफलतापूर्ण संचालन किया।

पदक एवं उपलब्धियाँ— प्रो० श्रीनिवास अनेक पदक और उपाधियों से सम्मानित किए गए जैसे—

1. रीवर्स हक्सले मैडल—रायल एन्थ्रोपॉलॉजिकल इंस्टीट्यूट इंग्लैंड द्वारा।
 2. कला एवं विज्ञान के लिए फ़ैलोशिप—अमेरिका द्वारा।
 3. फ़ैलाशिप—ब्रिटिश अकादमी द्वारा
 4. पद्मभूषण—भारत सरकार द्वारा
- मुख्य रचनाएँ—
- रिलिजन एवं सोसाइटी अमंग द कुगर्स ऑफ साउथ इण्डिया, 1952
(The religion and society among the coogars south india-1952)
 - कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया एण्ड अदर एसेज—1962
(Caste and modern india anD other essays-1962)
 - सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया—1973
(Social change in Modern India- 1973)
 - द रिमेनबर्ड विलेज—1976
(The remainbard villiage-1976)
 - मैरिज एण्ड फेमिली इन मैसूर—1942
(Marriage and Family in Mesoor-1942)
 - द डोमिनेंट कास्ट एण्ड अदर एसेज—1998
(The Dominant Caste and other Essays-1998)

जहाँ तक आधुनिकीकरण का प्रश्न है। यह परिवर्तन की नयी प्रक्रिया है, जिसमें कुछ परिवर्तनशील मूल्यों का समावेश होता है। और इससे किसी परम्परागत अथवा पिछड़े समाज में प्रौद्योगिक विकास, धर्मनिरपेक्षता, लौकिकता, स्वतंत्रता एवं गतिशीलता जैसी विशेषताओं के प्रभाव में वृद्धि होने लगती है।

इसी प्रकार संक्षिप्त रूप में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया, पश्चिमीकरण के प्रभाव से उत्पन्न होती है। नैतिक रूप से तटस्थ व जटिल प्रक्रिया के रूप में पश्चिमीकरण परिवर्तन अच्छे या बुरे होने को, बल्कि इसका संबंध प्रत्येक उस परिवर्तन से है, जिसमें पश्चिमी समाजों के अनुकरण का बोध होता है।

यहाँ पर मुख्य रूप से एम० एन० श्रीनिवास के तीन अध्ययनों—संस्कृतिकरण (Sanskritization) धर्मनिरपेक्षीकरण / लौकिकीकरण (Secularization) एवं प्रभुजाति (Dominant Caste) पर केन्द्रित है। इसके साथ ही आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण का भी अध्ययन किया जायेगा।

4.2 संस्कृतिकरण (Sanskritization)

भारत में सामाजिक परिवर्तन के संबंध में जो अवधारणाएं विकसित हुई हैं। उनमें एम०एन०श्रीनिवास की संस्कृतिकरण की अवधारणा का विशेष महत्व है। उन्होंने अपनी पुस्तक **Social Change in Modern India** में लिखा है—“संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जातियाँ या जनजातियाँ अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।” प्रारम्भ में श्रीनिवास ने इस स्थिति को ‘ब्राह्मणीकरण’ नाम से संबोधित किया।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को संक्षेप में निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे—

- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से कोई भी जाति या समूह अपने से उच्च जाति (विशेषतः द्विज जाति) के रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और मूल्यों को अपनाने का प्रयास करता है।
- ऐसा करने से निम्नजाति, जनजाति या समूह के रीति-रिवाज व जीवन शैली में उल्लेखनीय परिवर्तन होते हैं।
- संस्कृतिकरण द्वारा निम्न स्तर की जाति समूह सामाजिक सोपान में वर्तमान से उच्च स्थिति **Higher status** प्राप्त करने का प्रयास करता है। जिसके फलस्वरूप जातीय या सामाजिक संस्तरण **social Stalification** और संरचना (**Structure**) में भी उसी अनुरूप परिवर्तन होता जाता है।
- सामान्य रूप से संस्कृतिकरण एक जाति को जातीय संस्तरण में ऊँचा पद प्राप्त करने योग्य बनाती है।
- यह जातीय आधारों में खुलापन लाकर जातीय गतिशीलता को सम्भव बनाती हैं
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा लाया गया परिवर्तन जीवन के ढंग (way of life) से लेकर सामाजिक स्थिति तक हो सकता है।
- श्रीनिवास के अनुसार ब्राह्मण आदर्श के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदर्श भी संस्कृतिकरण के आदर्श हो सकते हैं।

उपरोक्त आधार पर स्पष्ट है कि संस्कृतिकरण का अर्थ पवित्र एवं लौकिक जीवन से संबंधित नये विचारों एवं मूल्यों को प्रकट करना है। जिनका विवरण संस्कृति के विशाल साहित्य में बहुधा देखने को मिला है। अतः संस्कृतिकरण नवीन एवं अधिक उत्तम विचार, आदर्श मूल्य, आदत तथा

कर्मकाण्डों को अपनाकर अपनी जीवन स्थिति को अधिक उन्नत व परिमार्जित बनाने की ही एक प्रक्रिया है।

4.3 संस्कृतिकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Sanskritization)

- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सार्वभौमिक है।
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक पद में परिवर्तन के लिए एक निम्न जाति दो या दो से अधिक पीढ़ी पहले अपना संबंध किसी उच्च जाति से जोड़ती है।
- योगेन्द्र सिंह के अनुसार यह एक अग्रिम समाजीकरण (Anticipatory Socialization) है, जिसमें निम्न जाति किसी उच्च जाति की संस्कृति को इस उम्मीद से अपनाती है कि उसे उस जाति में सम्मिलित कर लिया जायेगा।
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन की सूचक है।
- संस्कृतिकरण अनेक अवधारणाओं का गुच्छा है। इसमें ब्राह्मणीकरण, परसंस्कृतिकरण, अग्रिम सामाजीकरण, अनुकरण आदि सभी धारणाओं के तत्व मौजूद हैं।
- संस्कृतिकरण में राजनीतिक शक्तियों का महत्व भी परिलक्षित होता है, क्योंकि एक क्षेत्र से सत्ता प्राप्त कर लेने के पश्चात् दूसरे क्षेत्र के लिए प्रयास किया जाता है।
- संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की एक सामूहिक प्रक्रिया (cooperate-Process) है न कि व्यक्तिगत अर्थात् इसका संबंध किसी व्यक्ति या परिवार विशेष के जीवन में चलने वाली प्रक्रिया से नहीं है।
- संस्कृतिकरण को एक प्रकार का विरोधी आंदोलन (Protest Movement) कहा जा सकता है, जिसमें एक ऐसी प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया चलती है। जिसके अंतर्गत अपने से ऊँची सामाजिक स्थिति को प्राप्त कर लेने की कोशिश की जाती है।
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया संदर्भ समूह (Reference Group) से मिलती जुलती है।

4.4 संस्कृतिकरण व ब्राह्मणीकरण में अंतर (Differences between sanskritization and Brahminization)

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि एम० एन० श्रीनिवास ने 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का उपयोग किया था, लेकिन योगेन्द्र सिंह ने संस्कृतिकरण को ब्राह्मणीकरण की तुलना में अधिक व्यापक अवधारणा बतलाया। अतः दोनों के अन्तर को निम्नवत् स्पष्ट किया जा सकता है—

1. ब्राह्मणीकरण में केवल ब्राह्मणों की जीवन पद्धति का ही अनुकरण किया जाता है, जबकि संस्कृतिकरण में क्षत्रिय वैश्य तथा अन्य प्रभु जातियाँ भी हैं।
2. संस्कृतिकरण ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं व्यापक अवधारणा है।
3. ब्राह्मणीकरण शब्द का प्रयोग संस्कृतिकरण के पूर्व में किया गया था।
4. ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा संस्कृतिकरण जातीय परिवर्तनों को इंगित करता है।

4.5 संस्कृतिकरण के कारक (factors of Sanskritization)

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को बढ़ाने वाले कारकों को निम्नवत् समझा जा सकता है—

1. यातायात व जनसंचार साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन।
2. समाज की पिछड़ी जातियों के उत्थान के निमित्त आर्थिक सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप पिछड़ी जातियों द्वारा स्वयं की जीवन शैली को प्रभुत्व सम्पन्न जातियों के अनुरूप बनाना।
3. शिक्षा एवं पाश्चात्य शिक्षा।
4. सामाजिक सुधार आन्दोलन नवीन संविधान एवं कानून एवं प्रजातांत्रिक मूल्य व्यवस्था।
5. नगरीकरण, धार्मिक तीर्थस्थल।
6. राजनीतिक व्यवस्था।

4.6 प्रभु जाति (Dominant caste)

प्रो० एम० एन० श्रीनिवास ने सन् 1959 में मैसूर के रामपुरा गाँव का अध्ययन करने के पश्चात् सर्वप्रथम 'प्रभुजाति' की अवधारणा को विकसित किया। प्रभु जाति के प्रबल जाति, प्रभुता सम्पन्न जाति, प्रभावी जाति तथा संरक्षक जाति आदि अनेक नामों से जाना जाता है। ये सभी शब्द एक ग्रामीण समुदाय के अन्तर्गत किसी ऐसी जाति समूह का बोध कराते हैं, जिनके द्वारा गाँव में पारस्परिक संबंधों तथा ग्रामीण एकता को बड़ी सीमा तक प्रभावित किया जाता है।

एम० एन० श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन विलेजेज' (Indian villages) में प्रभुजाति को परिभाषित करते हुए लिखा है, "एक जाति तब प्रभु जाति कही जाती है। जब वह संस्था के आधार पर गाँव अथवा स्थानीय क्षेत्र में शक्तिशाली हो और प्रभावशाली हो और आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति रखती हो। यह आवश्यक नहीं कि वह परम्परागत जाति क्रम सोपान में सर्वोच्च जाति की हो।"

4.7 प्रभु जाति की विशेषताएँ (Characteristics of Dominant caste)

प्रभु जाति को व्यापक रूप से समझने के लिए निम्न विशेषताओं को समझना आवश्यक है—

(1) **आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय (Modern Education and new Occupation)**— शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय को प्रभु जाति के निर्धारण का एक महत्वपूर्ण तत्व स्वीकार किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज जिस जाति के अधिक सदस्यों ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर सरकारी या अन्य नौकरियों में स्थान प्राप्त कर लिया है। उनका अन्य जातियों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया है। सामाजिक व शैक्षिक होने के कारण उनका सम्पर्क प्रशासनिक अधिकारियों के साथ होता है। जिसका प्रभाव अन्य जातियाँ भी मानती हैं।

(2) **आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व (Economic and Political Dominance)**— क्षेत्र एवं गाँवों में प्रभु जाति आर्थिक व राजनीतिक दृष्टिकोण से अपना प्रभुत्व रखती है। गाँव में अधिक भूमि उसके पास होती है जिस पर लोगों को पारिश्रमिक देकर कार्य कराया जाता है। उदाहरणार्थ— मैसूर के वानगल और डोलाना गाँवों में वहाँ की ओक्कालिंगा प्रभुजाति के पास गाँव की 80 प्रतिशत, गुजरात के कसेंद्रा गाँव के बघेल राजपूतों के पास गाँव की सारी भूमि थी, जो सम्पन्नता का प्रतीक थी। प्रभु

जातियाँ इसी सम्पन्नता के कारण अन्य लोगों को ऋण देने में सक्षम थीं, जिस पर गाँव के अन्य जाति के व्यक्ति पर निर्भर होते थे।

(3) जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति— **(Higher Status in Caste Hierachy)**—जाति संस्तरण में प्रभु जाति अपना स्थान उच्च रखती है। यह भी इसकी विशेषता है। भारतीय व्यवस्था में कोई भी निम्न प्रभु जाति नहीं पायी जाती हैं, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में जातियों की प्रतिष्ठा व अस्पृश्यता का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

(4) जनसंख्यात्मक शक्ति **(Numerical strength)**— प्रभु जाति के निर्धारण का एक महत्वपूर्ण आधार किसी गाँव अथवा क्षेत्र में एक विशेष जाति के सदस्यों की अधिक संख्या होना है। पहले यह आधार परम्परागत ग्रामीण समाजों में महत्वपूर्ण था, लेकिन जनतांत्रिक युग में इसका महत्व और बढ़ गया है। इलियट ने अपने अध्ययन में प्रभु जाति के निर्धारण में जनसंख्यात्मक शक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए स्पष्ट किया है—कि प्रभु जाति की राजनीतिक शक्ति उसकी जनसंख्या के आधार पर ही निर्धारित होती है।” इसी प्रकार के० एल० शर्मा ने सबलपुरा गाँव के अध्ययन के आधार पर स्पष्ट किया कि—“यहाँ जाट सर्वाधिक संख्या होने के कारण प्रभु जाति के अन्तर्गत सम्मिलित हैं।”

(5) सम्पूर्ण गाँव की एकता, न्याय एवं कल्याण के लिए कार्य करना **(Administration of Justice, unity and welfare for the whole Community)**— प्रभु जाति गाँव की एकता बनाये रखने में अपना योगदान देती हैं, और ऐसे कार्यकरती हैं, जिसमें सारे समुदाय की भलाई हो। अन्य जातियों के नियमों का सम्मान करते हुए निष्पक्ष व तटस्थ रूप से गाँव में न्यायपूर्ण कार्य करना प्रभु जाति की विशेषता रही है।

उपरोक्त विशेषताओं का सारांश निम्नवत् समझा जा सकता है—

- कृषि योग्य भूमि के एक बड़े भाग पर स्वामित्व होना।
- संख्या में अधिक होना।
- आर्थिक सम्पन्नता एवं राजनीति प्रभुत्व।
- जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति।
- प्रशासनिक स्थिति में अधिक संख्या।
- एकता, न्याय एवं कल्याण के लिए निष्पक्ष कार्य करना।

4.8 भारत की कुछ प्रमुख प्रभु जातियाँ **(Some Dominant caste of Indian Villages)**

विभिन्न विद्वानों ने भारतीय ग्रामों की प्रमुख जातियों को निम्नांकित रूप से वर्णित किया है। विद्यार्थियों के लिए यह जानना आवश्यक है—

- एम० एन० श्रीनिवास ने मैसूर जिले के रामपुरा गाँव में निवासित ओक्कलिंगा जाति को जनसंख्या, भू-स्वामित्व व झगड़े विवाद के निवारण में मुख्य भूमिका निर्वाह करने के कारण प्रभु जाति कहा है।

- आन्द्रे बैते ने तंजौर जिले के श्रीपुरम् गाँव की ब्राह्मण जाति को गैर ब्राह्मण व द्रविणों पर अपना राजनीतिक धार्मिक एवं आर्थिक प्रभुत्व बनाये रखने के कारण प्रभु जाति के रूप में सम्मिलित किया है।
- के० एल० शर्मा ने राजस्थान के छः गाँवों का अध्ययन कर राजपूतों को प्रभु जाति बतलाया है।
- एन० शुक्ला ने भागलपुर के पास झूमको गाँव में यादव जाति को प्रभुजाति के रूप में अध्ययन किया है।
- डी० एम० मजूमदार ने मोहाना तथा दुल्दी गाँव में ठाकुर जाति का प्रभुजाति के रूप में अध्ययन किया है।
- ऑस्कर लेविस ने उत्तर प्रदेश के रामपुर गाँव में यादव जाति को प्रभुजाति माना है।
- इसी प्रकार हिचकांक ने खालापुर में राजपूतों को, मेयर कुआपेटार्ड ने ब्राह्मणों को तथा हारपर ने टोटागड़ी में हथिक ब्राह्मणों को प्रभुजाति के रूप में अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है।

4.9 प्रभु जाति की अवधारणा की आलोचना (Criticism of the concept of Dominant caste)

प्रभु जाति की एम० एन० श्रीनिवास द्वारा दी गयी अवधारणा से असहमत कुछ विद्वानों ने इसकी आलोचना की है। विद्यार्थियों को इसका ज्ञान होना आवश्यक है—

- प्रो० एस० सी० दूबे के अनुसार— जनसंख्या की अधिकता प्रभुजाति का प्रमाण नहीं हो सकता। उन्होंने प्रभुजाति के स्थान पर 'प्रभुत्वशाली' व्यक्ति को महत्व दिया है।
- डी० एन० मजूमदार के अनुसार— 'प्रभुत्वशाली' व्यक्ति होने के लिए जातिगत संख्या की अधिकता आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनका मानना है कि भारत के अनेक गाँवों में अनुसूचित जाति व जनजातियों की संख्या अधिक होने पर भी वे शक्तिशाली नहीं हैं। अर्थात् भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उच्च जातियों को ही उच्च स्थान प्राप्त है। अतः वहीं प्रभुजाति हैं।
- एंथोनी कार्टर के अनुसार— जाति और प्रभुत्व दोनों सैद्धांतिक रूप से अलग-अलग हैं। ये बात उन्होंने महाराष्ट्र में गिरवी गाँव का अध्ययन करने के पश्चात् कही हैं जिसमें उन्होंने पाया था कि जातियाँ संगठित होकर कार्य नहीं करती हैं। अतः जाति को सत्ता से अलग कर देना चाहिए।

उपरोक्त आलोचना स्पष्ट करती है कि विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में प्रभु जाति के निर्धारक तत्व एक-दूसरे क्षेत्र में लागू नहीं किया जा सकता। फिर भी श्रीनिवास की प्रभुजाति की अवधारणा विभिन्न जातियों के पारस्परिक संबंधों व ग्रामीण एकता को समझने के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

4.10 धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularization)

भारतीय समाज में अंग्रेजी शासनकाल के दौरान आये परिवर्तनों के कारण आज व्यक्ति के व्यवहार में तार्किकता का तत्व स्पष्ट नजर आता है। अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन के साथ-साथ भारतीय सामाजिक जीवन में संस्कृति के धर्मनिरपेक्षीकरण (लौकिकीकरण) की प्रक्रिया की भी शुरुआत की जो संचार माध्यमों के विकास के साथ आरम्भ होकर धीरे-धीरे कस्बों व नगरों के विकास, शिक्षा के विकास के साथ बढ़ती गयी, जिससे व्यक्ति के जीवन में निरंतर धार्मिकता का ह्रास हुआ इसी प्रक्रिया को लौकिकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण कहा जाता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन ने जनसामान्य को सामाजिक व राजनीतिक दृष्टि से लामबन्द किया और धर्मनिरपेक्षीकरण

में भी अपना योगदान दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करने, कानून द्वारा सबको समान संवैधानिक अधिकार प्राप्त होने तथा मताधिकार का प्रयोग और विकास के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रमों की योजना आदि बनायी जाने के कारण धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में निरन्तर तेजी आयी है। वर्तमान में संस्कृतिकरण व धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव जहाँ नगरीय एवं शिक्षित समूह में अधिक दिखायी पड़ता है। वहीं संस्कृतिकरण की प्रक्रिया हिन्दू जाति व जनजातियों में परिलक्षित होती है।

4.11 धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Secularization)

लौकिकीकरण का विकास 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन में जी० के० होल्के के नेतृत्व में हुआ था, जिन्होंने इसे सामाजिक नैतिकता की एक प्रणाली के रूप में विकसित करने का प्रयास किया।

धर्मनिरपेक्षीकरण को उस सामाजिक विचार या प्रवृत्ति के रूप में समझा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत धार्मिक प्रधानता या परम्परागत व्यवहारों में धीरे-धीरे तार्किकता व व्यवहारिकता लाने का प्रयास किया जाता है, या हम कह सकते हैं तो तब प्राकृतिक और सामाजिक जीवन को समझने के नजरिये के रूप में धर्म का स्थान विज्ञान ले लेता है।

धर्मनिरपेक्षीकरण को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम यहाँ विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे—

1. एम० एन० श्रीनिवास के अनुसार—“धर्मनिरपेक्षीकरण शब्द का अर्थ है कि जो पहले धार्मिक माना जाता था, वो अब वैसा नहीं माना जा रहा है। इसका तात्पर्य विभेदीकरण की एक प्रक्रिया से भी है जो कि समाज के विभिन्न पहलुओं—आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी और नैतिक के एक दूसरे से अधिक से अधिक पृथक होने में दृष्टिगोचर होती हैं।”
2. राधाकृष्ण के अनुसार— “लौकिकीकरण ‘धार्मिक निरपेक्षता’ और धार्मिक सह—अस्तित्ववाद है।”
3. मूर के अनुसार—“परम्परागत धर्म को अस्वीकार करना और दैनिक जीवन में धार्मिक नियंत्रण को कम करना जैसी विशेषताओं को धर्मनिरपेक्षीकरण कहा जाता है।” उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत व्यवहारों व कार्यों में तार्किकता का समावेश होना, जो पहले परम्परागत व धार्मिक माना जाता था, वह अब वैसा नहीं माना जाना था। विभेदीकरण की एक प्रक्रिया इसमें निहित होने के कारण समाज में विभिन्न परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। यही धर्म निरपेक्षीकरण है।

4.12 धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularization)

धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्वों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

1. **धार्मिक संकीर्णता का ह्रास (Decline of Religious Narrow Mindness)**— जैसा कि पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि लौकिकीकरण का एक प्रमुख तत्व उसकी बुद्धि के साथ—साथ धार्मिकता का ह्रास है। तार्किकता के प्रभाव के कारण धार्मिक कट्टरपन एवं संकीर्णता का पतन व्यक्ति को धर्म के अनुचित प्रभावों से मुक्त कर पारलौकिक या आध्यात्मिक उद्देश्यों के स्थान पर सा० व व्यवहारिक लाभ के लिए प्रेरित करता है।

2. **तार्किकता (Rationality)**— तार्किकता के आधार पर व्यक्ति द्वारा जीवन में आने वाली प्रत्येक समस्या पर तर्क एवं विवेक के आधार पर समाधान पर विचार किया जाता है, अर्थात् इसके अंतर्गत धार्मिक व परम्परागत अंधविश्वास, कुसंस्कार, प्रचलित परम्परागत संकीर्णता व विचारों को आधुनिक ज्ञान व तर्क के साथ परिवर्तित व परिमार्जित किया जाता है।
3. **विभेदीकरण की प्रक्रिया (Process of Defferentiation)**— यह धर्मनिरपेक्षीकरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। अर्थात् लौकिकता में विभेदीकरण की प्रक्रिया तात्पर्य समाज में विभेदीकरण का बढ़ना है। समाज के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक, कानूनी सब एक-दूसरे से पृथक हो जाते हैं। और इन सभी क्षेत्रों में धर्म का महत्व या प्रभाव कम होता जाता है। उदाहरणार्थ— पहले राजा पुरोहित के नीचे होता था, परन्तु आज धर्म और राज्य अलग-अलग हो गये हैं। अर्थात् आज जीवन विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का बन्धन इस प्रक्रिया के कारण समाप्त हो गया है।

4.13 धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण (Factors of Secularization)

प्रत्येक प्रक्रिया के संचालित होने के कोई-न-कोई कारण अवश्य होते हैं। अतः यहाँ हम धर्मनिरपेक्षीकरण के कुछ महत्वपूर्ण कारकों पर प्रकाश डालेंगे जो निम्नवत् है—

1—नगरीकरण (Urbanization)— लौकिकीकरण की प्रक्रिया में नगरीकरण का अत्यधिक योगदान रहा है। या ये कहा जाए कि नगरों में ही धर्मनिरपेक्षीकरण सर्वाधिक हुआ है। नगरों में अत्यधिक भीड़-भाड़ का होना। उन्नत यातायात साधन व संचार साधनों की पर्याप्त उपलब्धता के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा, फैशन, भौतिकवाद, विवेकवाद, व्यक्तिवाद आदि सभी कारक मौजूद होकर लौकिकीकरण में अत्यधिक सहायता प्रदान करते हैं।

2—आधुनिक शिक्षा (Modern Education)— वर्तमान भारतीय शिक्षा पद्धति में पाश्चात्य शिक्षा का पुट परिलक्षित होता है जिसके कारण यहाँ के परम्परागत मूल्यों में पाश्चात्य मूल्यों का प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है। जिस के परिणामस्वरूप यहाँ के धर्मों, विशेषकर हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ा है। इससे न केवल व्यक्ति के विचारों में बल्कि उन्हें आज धर्म के प्रति एक बार कुछ सोचने को मजबूर होना पड़ा है। शिक्षा के परिणामस्वरूप व्यक्ति का विवेक जाग्रत हुआ है। कठोर एवं अंधविश्वासी नियमों में शिथिलता आयी है तथा उनके अंदर वैज्ञानिक मनोवृत्ति व तार्किक शक्ति ने जन्म लिया है। अब वे केवल धर्म के नाम पर ही कार्य नहीं करते, बल्कि उसमें व्यवहारिकता का पुट देखते हैं। आधुनिक शिक्षा के प्रत्यक्ष प्रमाणों ने जहाँ सहशिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, आदि को प्रोत्साहन मिला है, वहीं अस्पृश्यता, छुआछूत, पवित्रता, अपवित्रता आदि भावनाएँ निरुत्साहित हुई हैं।

3—सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन (Social and Religious Movements)— भारत में समय-समय पर कुप्रथाओं को रोकने के लिए सामाजिक, धार्मिक आंदोलन होते रहे हैं जिसमें राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानन्द, गोविन्द रानाडे, महात्मा गाँधी जी जैसे महान समाज सुधारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जिसके परिणामस्वरूप धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ। जहाँ ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज ने पाश्चात्य मूल्यों और ईसाई धर्म की समानता के सिद्धान्त से प्रभावित होकर छुआ-छूत, भेदभाव, पवित्र-अपवित्र, ब्राह्मणों की उच्च स्थिति का कट्टरता से विरोध किया वहीं गाँधी जी ने अस्पृश्य लोगों को हरिजन नाम देकर उनका उद्धार करने

का प्रयास किया। अतः धार्मिक, सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण रही है।

4—यातायात व संचार साधनों में उन्नति (Development of the means of Transport and Communication) जैसे-जैसे यातायात व संचार साधनों की उन्नति के साथ वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे नये नगर उद्योग, व्यवसाय, मिल व कारखानों का प्रसार बढ़ता गया। विभिन्न धर्म, संस्कृति, मूल्यों, जाति, देश-प्रदेश के लोगों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ और विचारों का विनिमय होने लगा। व्यक्तियों में समानता की भावना जागृत होने के साथ ही विभिन्न धर्मों की तार्किक आलोचना की प्रवृत्ति भी बढ़ी। संकुचित विचारधारा आधुनिकता में परिवर्तित होकर जात-पात से ऊपर उठकर समानता पर विश्वास करने लगी। इसी प्रकार रेल, बस, कार या अन्य यातायात के साधनों में सभी जाति-धर्म के लोगों का एक साथ सफर करने से पवित्रता-अपवित्रता व छुआछूत संबंधी विचारधारा शिथिल होती गयी।

5—पाश्चात्य संस्कृति (western culture)— अंग्रेजी राज्य स्थापित होने से पूर्व भारत में मुसलमानों का शासन व शासक वर्ग के रूप में उनका दबाव व प्रभाव रहा, लेकिन भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति अधिक व्यापक व प्रभावी रही है। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जीवन के धर्म, कला, साहित्य, संस्कृति, सामाजिक और पारिवारिक जीवन के समस्त पहलुओं में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन को देखा जा सकता है। इससे जाति प्रथा के कठोर नियमों में शिथिलता, भेदभाव में कमी, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, भोगवाद, अधार्मिकता, भौतिक आदि प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है।

6—धार्मिक संगठनों का अभाव— (Lack of Religious Organization)— धर्मनिरपेक्षीकरण के विकास में धार्मिक संगठनों के अभाव ने भी पर्याप्त योगदान किया। जिसमें हिन्दू धर्म प्रमुख हैं, क्योंकि इसमें अनेकों मत एवं सम्प्रदाय होने तथा कोई अच्छा संगठन न होने के कारण एक सम्प्रदाय होने तथा कोई अच्छा संगठन न होने के कारण एक हिन्दू दूसरे हिन्दू धार्मिक आधार पर कड़ी आलोचना करता है। जबकि अन्य धर्मों में एक अच्छे संगठन के साथ धर्म के प्रति अत्यधिक कट्टरता परिलक्षित होती है। मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई इसके उदाहरण हैं। जहाँ एक ओर अनेक हिन्दुओं ने ब्राह्मणों के अत्याचारों से पीड़ित होकर अन्य धर्मों को अपनाया है। वहीं दूसरी ओर पढ़े-लिखे हिन्दू धार्मिक कट्टरता से दूर होकर धार्मिक विश्वासों, मतों, आदर्शों व कट्टरता का पर्याप्त विरोध कर रहे हैं। ये सभी धर्म निरपेक्षीकरण के आधार हैं।

7—भारतीय संस्कृति का धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularization of Indian Culture)— भारतीय संस्कृति मूल रूप से धार्मिक होने के पश्चात् भी इस धर्मप्राण संस्कृति का आज धर्मनिरपेक्षीकरण होता जा रहा है, जिसके लिए चलचित्र, समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन व अन्य आधुनिक उपकरण को इसका उत्तरदायी माना जा सकता है। इन साधनों के कारण ही विभिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय के लोग एक-दूसरे की अच्छाई-बुराईयों का ज्ञान कर एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। चूंकि भारत स्वयं एक धर्मनिरपेक्ष गणराज्य (Secular Republic) है। अतः प्रचार के उपरोक्त सभी साधन धर्मनिरपेक्षीकरण के पक्ष में क्रियाशील बन जाते हैं।

8—सरकारी प्रयत्न (Government Efforts)— धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में सरकारी प्रयत्न अत्यधिक महत्वपूर्ण हो रहे हैं। स्वतंत्रता से पूर्व एवं पश्चात् बनाये गये विभिन्न अधिनियमों के कारण ही सभी को समान मानते हुए किसी भी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद न करने के नियम पारित हुए, जिन्होंने धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को सफल बनाने का कार्य किया। इनमें जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम (Caste Disabilities Removal act 1950), बंगाल सती नियम (Bangal Sati Regulation, 1829), हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (Hindu widows Re Marriage act 1956), विशेष विवाह अधिनियम (Special Marriage act 1872), हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम (Hindu marriage Validating act 1949), 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage act 1954), अस्पृश्यता अपराध अधिनियम (Untouchability offences act 1955) आदि प्रमुख हैं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में अनेक कारक सहायक व उत्तरदायी माने जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तव में यह प्रक्रिया ब्रिटिश शासनकाल में प्रारम्भ हुई और अनेक अन्य कारकों के सहयोग से यह निरन्तर विकसित होती रही।

4.14 धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव एवं परिवर्तन (Impact and change in secularization)

आगे इस बात का अध्ययन किया जायेगा कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा व परिवर्तन हुआ, जिसे निम्न आधार पर देखा जा सकता है—

1—अपवित्रता एवं पवित्रता की धारणा में परिवर्तन (Change in the Concept of Pollution and Purity)— प्राचीन काल से ही भारतीय जीवन एवं धर्म में अपवित्रता व पवित्रता जैसी धारणाएं प्रबल रही हैं यहाँ तक वर्ण व्यवस्था में व्यवसायों का निर्धारण भी इसी आधार पर होता था, लेकिन वर्तमान में कोई भी अपनी योग्यता, धन, सत्ता आदि के आधार पर व्यवसाय व नौकरी करने में सक्षम है। अर्थात् वर्तमान में पवित्र—अपवित्र की धारणाएँ पिछले कुछ दशकों में पूर्वलिखित शक्तियों के कारण क्षण भी हुई हैं और उनकी व्यापकता भी घटी है।

आज खान—पान, रहन—सहन, जाति—धर्म के आधार पर व्यक्तियों के बीच पायी जाने वाली पवित्रता—अपवित्रता की धारणा का ह्रास हुआ है। उस पर धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया हावी व प्रभावी दिखायी पड़ती है।

2—जीवन चक्र व संस्कारों पर धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of Secularization on life cycle and Rituals)— भारतीय समाज व संस्कृति में पवित्रता, परिशुद्धि, परिष्कार, परिमार्जन, सुसंस्कृत रखने, स्वस्थ रहने, दीर्घायु प्राप्ति के लिए संस्कारों को बड़े ही विविध—विधान के साथ सम्पन्न कराने का प्रचलन रहा है। इन संस्कारों ने सामाजिक एकता, पवित्रता, धार्मिक आस्था, नैतिकता, कर्तव्यों के प्रति जागरूकता, सहायता का भाव, दान—पुण्य की रुचि, संबंधों की स्थिरता, धार्मिक कृत्यों का महत्व, पुनर्जन्म का विश्वास, कर्मफल की मान्यता जैसी भावनाएँ निहित थी। प्राचीन काल में द्विज मात्र को ही उपनयन संस्कार जैसी प्रक्रिया से पवित्र होने, अध्ययनक करने, धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का अधिकार था, जिसमें ऊँच—नीच, पवित्र—अपवित्र का भेदभाव दिखायी पड़ता था, लेकिन समय परिवर्तन एवं समाज सुधारक दयानन्द सरस्वती जी के अथक प्रयासों के

परिणामस्वरूप सभी को यज्ञोपवित धारण करने का अधिकार दिया गया। इतना ही नहीं महिलाओं का भी पुरुषों के समान उपनयन संस्कार होने लगा। वर्ण व्यवस्था ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की क्रमशः 8, 11 एवं 12 वर्ष के उपनयन की जो अवधि निश्चित की थी, वे भी वर्तमान में प्रतिबंधित हैं लौकिकीकरण की प्रक्रिया से भारतीय समाज में सम्पन्न होने वाले न केवल 16 संस्कारों में कमी आयी, बल्कि अपने समय, परिस्थिति के आधार पर इन्हें सम्पन्न करने में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। आज जहां विवाह से एक-दो दिन ही जनेऊ धारण कर उपनयन संस्कार को सम्पन्न करने की औपचारिकता का निर्वाह किया जाता है, वही विवाह संस्कार, कोई, मंदिर जैसे स्थानों में भी सम्पन्न करने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र है। (समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, अच्युतानंद एवं गोदावरी घिल्लियाल, 1987, पृ० 84-95)

कहने का तात्पर्य है कि लौकिकीकरण के प्रभाव से जहाँ एक ओर संस्कारों के महत्व को कम किया है वहीं इनकी संख्या में भी कमी आयी है।

3-धार्मिक जीवन में धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of secularization in Religious life)— धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण आज धार्मिक जीवन परिवर्तित हो रहा है। आज घण्टों पूजा-पाठ करने, पण्डितों को दान-दक्षिणा देने अपने पूर्व जन्मों के पापों का प्रायश्चित्त व अगले जन्म को सुधारने के लिए व्रत, उपवास करने के स्थान पर व्यक्ति ने धर्म को कर्म व जिम्मेदारी के रूप में स्वीकार किया है। दान-पुण्य देने में गरीबों की सहायता, अनाथ आश्रम, विधवा आश्रम, वृद्धाश्रमों, चिकित्सालयों में दान देने की वैचारिकता में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार आधुनिक नवीन संचार साधनों के माध्यम से विभिन्न प्रकार की धार्मिक कथाएँ, गाथाएँ, सीरियल, भजन, घर बैठे सुनकर लोग जहाँ समय की बचत करते हैं वहीं पण्डितों के आधिपत्य में भी कमी आयी है। इसका पूरा श्रेय धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को ही जाता है।

4-जाति संरचना पर धर्म निरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of secularization in caste structure)— भारत में जाति प्रथा का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जो जन्म पर आधारित है और इसमें संस्तरण होने के कारण श्रेष्ठता और निम्नता पायी जाती है। सभी जातियां भोजन, नातेदारी, व्यवसाय तथा सामाजिक सम्पर्क से पृथक्कृत होती है और इन जातियों में जजमानी जैसी व्यवस्था पायी जाती है। वर्तमान में जाति के प्रति पूर्ववत् श्रद्धा की भावना समाप्त हुई हैं। ब्रिटिश शासन ने शिक्षा पद्धति को धर्मनिरपेक्ष बनाया, जिससे कानून के समक्ष व्यक्तियों की समानता, राज्य के सभी नागरिकों के लिए समान अधिकार, पेशे की स्वतंत्रता, नई शिक्षा पद्धति विकसित होने के कारण व्यक्ति जन्म पर आधारित समाज के विभाजन को अवैज्ञानिक मानने लगे हैं। महात्मा गाँधी के हरिजन आन्दोलन के न केवल स्वस्थ जनमत का निर्माण किया, बल्कि सरकार को भी हरिजनों के उत्थान के लिए प्रयत्नशील बनाया। आज अपनी योग्यता सत्ता, क्षमता के माध्यम से कोई भी जाति अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। यह धर्मनिरपेक्षीकरण की देन है।

5-परिवार पर धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of Sacularization in Family)—संघ में बहुत बड़ी शक्ति होती है। भारत अतिप्राचीन काल से कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि उत्पादन में वृद्धि, पशुपालन और यज्ञ आदि कार्यों के सम्पादन के लिए संघ-समूह या सहकारिता की आवश्यकता हुई। अतः परिवार के विस्तृत रूप होने पर पारस्परिक सहयोग की भावनाओं ने संयुक्त परिवार को जन्म दिया। जिसका अपना एक महत्व है। इसमें संगठन, जीवन निर्वाह, अधिक लोगों के लिए अधिक संग्रह करने की भावना, अनुशासन और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का सुन्दर व सुव्यवस्थित रूप देखा जा सकता है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय लाभ निहित था, जनसंख्या की तुलना में

प्रति परिवार पर जमीन का अधिक होना भी संयुक्तता से रहने का महत्वपूर्ण कारक था, लेकिन परिवर्तित परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार विघटित होते जा रहे हैं। जनसंख्या की अधिकता, पारिवारिक कार्यों का संस्था व समितियों को हस्तांतरित होना, प्राचीन मूल्य एवं नैतिकता का हनन, पीढ़ियों के वैचारिक अन्तराल की दूरियों का बढ़ना, आधुनिक शिक्षा, औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य व आधुनिक शिक्षा, जल, जंगल, जमीन का शोषण, जानवरों का आतंक, पलायन की मार, व्यक्तिवादिता स्वार्थ का बोलबाला आदि के कारण संयुक्त परिवार एकांकी परिवार में परिवर्तित होते जा रहे हैं, जहाँ हम की भावना में परिवर्तित दिखायी पड़ती है। अतः स्पष्ट है कि परिवार पर भी लौकिकीकरण के प्रभाव से बहुत परिवर्तन आया है।

ग्रामीण समुदाय में धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of secularization in Rural community)-

जहाँ एक ओर नगरों में पर्याप्त लौकिकीकरण हुआ है वहीं ग्रामीण समुदाय में भी इसका प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। गांवों में जाति पंचायत की शक्तियाँ घटती जा रही हैं और उनका स्थान जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों से गठित पंचायतों ने ले लिया है। जैसा कि श्रीनिवास ने लिखा है—“ग्रामीण समुदायों में राजनीतिकरण की प्रक्रिया चल रही है। आज गाँव का प्रत्येक व्यक्ति राजनीति में सक्रिय भागीदारी का इच्छुक है। देश-विदेश की राजनीतिक बातों का ज्ञान करने की सभी की उत्कृष्ट इच्छा रहती है। शाम को चौपाल पर धार्मिक या सामाजिक विषयों पर विचार करने की अपेक्षा राजनैतिक बातों पर बहस होती है और साहूकार के राजनैतिक अधिकार समाप्त हो गये हैं।”

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से ग्रामीण समुदाय की परम्परागत सत्ता विघटित हुई है। समुदाय के निर्णय अब कानून व संविधान के हाथ संचालित हो रहे हैं शिक्षा के प्रसार से स्त्रियाँ घर की चौखट से बाहर आकर सभी क्षेत्रों में अपनी सक्रिय भागीदारी का प्रदर्शन कर रही हैं, जिसे धर्मनिरपेक्षीकरण का सकारात्मक पहलू कहा जा सकता है।

14.15 आधुनिकीकरण (Modernization)

आधुनिक युग में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में परिवर्तन के कारण जीवन के प्रत्येक पहलू सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि में भी परिवर्तन हुए हैं, जो निरंतर रूप से विश्व स्तर पर आज भी चल रहे हैं। इसी परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए करने के लिए सामाजिक वैज्ञानिकों ने आधुनिकीकरण जैसी अवधारणा का प्रयोग किया है। औद्योगिकीकरण की अवधारणा का प्रयोग विशेष तौर पर समाज में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगिकीकरण के कारण पश्चिमी देशों में आये परिवर्तनों को समझने के लिए किया गया है। भारतीय समाज के संदर्भ में आधुनिकीकरण परम्परागत जीवन तरीकों में आधुनिक तत्वों के सम्मिलित होने का एक प्रक्रिया है।

4.16 आधुनिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of Modernization)

आधुनिकीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसमें कुछ परिवर्तनशील मूल्यों का समावेश होता है। यह परिवर्तनशील मूल्य विकास, सार्वभौमिकता तथा तार्किकता की दिशा में होते हैं यदि हम इतिहास के

पृष्ठों को पलटें तो पाते हैं कि भारतीय समाज को परम्परावादी समाज के रूप में देखा जाता रहा है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय जीवन शैली तथा सामाजिक संस्थाओं में जब पश्चिमी सभ्यता का समावेश होना प्रारम्भ हुआ, तब यहाँ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेजी से बढ़ने लगी। “आधुनिकीकरण वह प्रक्रिया है। जो परम्परागत या अर्द्ध परम्परागत अवस्था से प्रौद्योगिकी के किन्हीं इच्छित प्रारूपों तथा उनसे जुड़ी हुई संरचना के स्वरूपों, मूल्यों, प्रेरणाओं एवं सामाजिक आदर्श नियमों की ओर ले जाने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करती हैं।” (दूबे, एस0सी0, 1971) समाजशास्त्रियों ने आधुनिकीकरण को विभेदीकरण की एक प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट किया है। जिसके अन्तर्गत पुरानी संरचना के स्थान पर नयी संरचना का उदय, नये व्यवसायों के बढ़ने से सामाजिक संरचना में विभेदीकरण, नयी शैक्षणिक संस्थाओं का विकास तथा नये समुदायों की उत्पत्ति आदि की विशेषताएं समाज में स्पष्ट होने लगती है।

यहां पर आधुनिकीकरण के संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये विचारों को परिभाषाओं के आधार पर समझने का प्रयास किया जायेगा।

डेनियल लर्नर—“किसी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण किसी गैर पश्चिमी देश में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों के लिए आधुनिकीकरण शब्द ही अधिक उपयुक्त है।

एस0 सी0 दूबे, “आधुनिकीकरण की परिभाषा शक्ति को जड़ स्रोतों के उपयोग तथा इससे संबंधित प्रयत्नों के प्रभाव में वृद्धि करने वाले उपकरणों के उपभोग से संबंधित है।

योगेन्द्र सिंह—“आधुनिकीकरण सांस्कृतिक क्रियाओं का एक विशेष रूप है जिसमें मुख्य रूप से सार्वभौमिक व विकासवादी लक्षणों का समावेश होता है। यह लक्षण अति मानवता से संबंधित होने के साथ ही सजातीयता व वैचारिक आधार से परे होते हैं।”

एम0 एन0 श्रीनिवास— “किसी गैर पश्चिमी देश में एक पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले परिवर्तन का नाम आधुनिकीकरण है।”

एस0 एन0 आइजनटीड— “ऐतिहासिक रूप से आधुनिकीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जो पश्चिम यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में विकसित होने वाले सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की दिशा में देखने को मिलती है।

जी0 ई0 ब्लैक— आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ऐतिहासिक रूप में सम्बद्ध संस्थाएँ परिवर्तित होते हुए नवीन कार्यों की तीव्रता से अपनाती हैं। जिससे व्यक्तियों के ज्ञान में वृद्धि होती है और जो वैज्ञानिक ज्ञान को प्रोत्साहित करती हैं।

एडिटा बजास— “आधुनिकीकरण आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में विविध अन्तः संबंधित परिवर्तनों की एक ऐसी प्रक्रिया है। जिसके माध्यम से कम विकसित समाज अधिक विकसित समाजों की विशेषताओं को प्राप्त कर लेते हैं।

अतः आधुनिकीकरण की उर्पयुक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि आधुनिकीकरण परिवर्तन की वह प्रक्रिया है। जो किसी परम्परागत अथवा पिछड़े हुए समाज में प्रौद्योगिक विकास, धर्मनिरपेक्षता, लौकिकता, स्वतंत्रता एवं गतिशीलता जैसी विशेषताओं के प्रभाव में वृद्धि करने लगती है।

4.17 आधुनिकीकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Modernization)–

यहाँ पर हम आधुनिकीकरण की कुछ सामान्य विशेषताओं को संक्षेप में वर्णन करेंगे–

1. **उद्योगीकरण (Industrialization)**– यदि देखा जाए तो आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का सबसे प्रमुख लक्षण औद्योगीकरण है, जिसमें नवीनतम प्रौद्योगिकी के आधार पर उद्योगों का विकास कर मशीनों के प्रयोग से उत्पादन को बड़े पैमाने में करता है। इससे वाणिज्य, व्यापार, रोजगार के साधन, राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्धि तथा जीवन स्तर में उच्चता आती है।
2. **नगरीकरण (Urbanization)**– नगरीकरण औद्योगीकरण का परिणाम है, जहाँ उद्योग, व्यापार और वाणिज्य केन्द्रित होती हैं। वहाँ स्वतः ही धीरे-धीरे नगर स्थापित होने लगते हैं। नगरों की संख्या व आकार में वृद्धि होती है। विभिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति के लोगों का मिलना होता है और यातायात साधनों की उन्नति होने के कारण नगरवासियों का सम्पर्क सारे देश व विश्व में हाता है। इसी कारण नगरों विशेषकर बड़े नगरों के आधुनिकीकरण सभी लक्षण परिलक्षित होते हैं।
3. **प्रौद्योगिकीय प्रगति (Technological Progress)**– प्रौद्योगिक दृष्टिकोण से पिछड़े समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बहुत धीमी गति से क्रियाशील होती है। अतः नवीनतम प्रौद्योगिकी को अपनाना आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक होता है। अतः यह भी आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण में से एक है।
4. **विज्ञान की प्रगति (process of science)**– आज निरन्तर विज्ञान की प्रगति, नवीन वैज्ञानिक प्रयोग, नये आविष्कारों के कारण, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है। विज्ञान के कारण ज्ञान भण्डार में वृद्धि, सामाजिक-आर्थिक उन्नति, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का विकास, रोगों पर विजय समीप होती है।
5. **सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि (Increase in Social Mobility)**– आधुनिकीकरण का एक उल्लेखनीय लक्षण सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि का माना जाता सकता है। इस प्रक्रिया की क्रियाशीलता के कारण उस समाज के सदस्यों का एक दूसरे स्थान में आना-जाना, एक-दूसरे के पेशे को अपनाना, एक स्थिति (Status) से दूसरी स्थिति को जाना अधिक देखने को मिलता है।
6. **सामाजिक विभेदीकरण (social differentiation)**– आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण ही विभिन्न समूह, संस्था, समितियों में विभेद निरन्तर बढ़ता जाता है, जिससे श्रम विभाजन व विशेषीकरण का आधिक्य देखने को मिलता है। नये व्यवसाय, नये उत्पादन की इकाईयाँ, नयी राजनैतिक पार्टियाँ, नये व्यवसायी समूह, स्वार्थ समूह विकसित होते हैं जो सभी आधुनिकीकरण के लक्षण माने जाते हैं।
7. **परम्परागत मूल्यों तथा आदर्शों में परिवर्तन–(changes in traditional values and ideas)**–सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का एक अन्य लक्षण परम्परागत मूल्यों व आदर्शों के स्थान पर नवीन आदर्श मूल्यों का पनपना है। परिवार, विवाह, धर्म, शिक्षा, साहित्य, लोकगीत, नृत्य, गाथा, राजनीति सभी से संबंधित परम्परागत मूल्य व आदर्श के स्थान पर नवीनता व्यक्ति की आवश्यकता बनती जा रही है। जैसे-बाल विवाह अनुचित, विधवा पुनर्विवाह उचित, कन्या भ्रुण हत्या अपराध, विवाह के अटूट बंधन की अनिवार्यता में कमी, विवाह-विच्छेद आवश्यकतानुसार उचित, धार्मिक दिखावा व कुसंस्कार अनुचित आदि नवीन आदर्श आधुनिकीकरण की परिचायक हैं

8. शिक्षा का प्रसार (Spread of Education) आज सभी के लिए शिक्षा की अनिवार्यता ने व्यक्ति की उचित-अनुचित को समझने संबंधित विचारों में विस्तार किया है। सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायों से संबंधित शिक्षा के कारण लोगों के जीवन का ढंग बदला है। लोगों को व्यवसाय व रोजगार भी उपलब्ध हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास (Development of International co-opretive)—आज व्यक्ति का जीवन अपने देश, राज्य, समाज तक ही सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप लेता जा रहा है। जिससे विभिन्न राष्ट्रों के बीच सहयोग बढ़ रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समितियों व संगठनों की स्थापना की जाती हैं संयुक्त राष्ट्र संगठन (U.N.O) इसका उत्तम उदाहरण है।

उपर्युक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि जहाँ आधुनिकीकरण के कारण प्रगति, विकास, शिक्षा का प्रसार, रोजगार की उपलब्धता आदि प्राप्त हुई है, वहीं परम्परागत आदर्श, मूल्यों का भी ह्रास हुआ है।

4.18 भारत में आधुनिकीकरण (Modernization in India)

भारतीय समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है जो भारत के नगरीय समुदायों में अधिक विकसित हैं, क्योंकि भारत के नगरों में बड़े-बड़े उद्योग व कारखानों की स्थापना हो गयी। जहाँ आधुनिक जटिल मशीने व तकनीकी सहायता से उत्पादन कार्य सम्पन्न होता है। विज्ञान की प्रगति, सामान्य व तकनीकी दोनों प्रकार की शिक्षा का प्रसार तेजी से बढ़ता जा रहा है। सामाजिक गतिशीलता व विभेदीकरण, धार्मिक आडम्बर में कमी, सामाजिक परम्परागत कुरीतियों का अन्त, संकीर्ण जातीय नियमों में शिथिलता, समानता के कारण सभी को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व वैधानिक अधिकारों की प्राप्ति, संविधान व कानून पर विश्वास, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रगाढ़ता। नवीन विचार, मूल्य, आदर्शों की स्थापना, संस्कृति का आदान-प्रदान इत्यादि सभी भारतीय जीवन के आधार बन चुके हैं।

नगरीय समुदायों के साथ-साथ ग्रामीण समुदायों में भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है। परम्परागत कृषि के स्थान पर वैज्ञानिक तकनीकी से खेती, अच्छे व उन्नत बीज, वैज्ञानिक खाद, ट्रैक्टर, नवीन मशीनें, बेमौसमी फल एवं सब्जी का उत्पादन, किसानों को समय-समय पर दिया जाने वाला प्रशिक्षण, संचार साधनों के माध्यमों से अच्छे उत्पादन के सुझाव आदि समय-समय पर प्राप्त होने से ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई है। छोटे-छोटे बच्चों के लिए स्कूली शिक्षा, प्रौढ शिक्षा, स्त्री शिक्षा, कन्या बचाओ, कन्या पढ़ाओ आदि जैसे विचारों की सार्थकता से ग्रामीण परिवेश बदला है। ग्रामीण उद्योगों का मशीनीकरण हो रहा है। कुप्रथाओं, कुसंस्कारों, पुरुष प्रधान मासिकता का अन्त करने के लिए रेडियो-टेलीविजन द्वारा प्रचार-प्रसार कर ग्रामीणों को रूढ़ियों से बाहर निकलने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। आवागमन के साधनों से पारस्परिक सम्पर्कों में बढ़ोत्तरी रहन-सहन के स्तर में सकारात्मकता, पर्दाप्रथा का अन्त, अंधविश्वासों में कमी ग्रामीण समाज को आधुनिकीकरण की ओर ले जा रहा है। जाति व्यवस्था व धर्म संबंधी अनेक अंधविश्वासों के प्रति आज ग्रामीणों को सचेत होते हुए देखा जा सकता है। केवल आधुनिक विचारों को ही नहीं, अपितु आधुनिक व्यवहार, प्रतिमानों, खान-पान, रहन-सहन के ढंग, फैशन आदि का विस्तार ग्रामीण समुदायों में हो रहा है।

जिससे स्पष्ट होता है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया केवल भारत के नगरीय समुदायों में ही नहीं, बल्कि ग्रामीण समुदायों में भी क्रांतिकारी तरीके से अपनी ओर प्रभावित कर रहा है।

4.19 भारत में आधुनिकीकरण के कारक (factors of Modernization in India)

यहाँ भारत में आधुनिकीकरण के कारणों को निम्नवत् संक्षिप्त रूप में समझने का प्रयास करेंगे—

1. औद्योगिकीकरण (Industralization)
2. नगरीकरण (Urbanization)
3. पश्चिमीकरण (westernization)
4. आधुनिक शिक्षा (modern Education)
5. लौकिकीकरण (secularization)
6. लोकतंत्रीकरण (Democratization)
7. संस्कृतिकरण (sanskritization)

उपरोक्त सभी कारकों का पूर्व में विस्तार किया जा चुका है।

4.20 भारत में आधुनिकीकरण के परिणाम—(consequences of Modernization in India)

यहाँ आधुनिकीकरण की क्रियाशील प्रक्रिया से उत्पन्न अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के परिणामों की चर्चा करेंगे—

1—आर्थिक दशाओं में सुधार— आर्थिक क्रियाशीलता के कारण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से उत्पादन, व्यापार, वाणिज्य सभी विकसित होते हैं, जिससे औद्योगिक विकास की सार्थकता के कारण रोजगार के अवसरों व प्रति व्यक्ति आय से वृद्धि होती है और आर्थिक दशाओं में सुधार होता है।

2—कृषि तथा ग्रामोद्योग में उन्नति— यदि कृषि एवं ग्रामोद्योगों को देखा जाए तो इसमें आधुनिकीकरण के सकारात्मक परिणाम परिलक्षित होते हैं। आधुनिक मशीनों, वैज्ञानिक सोच, नवीन तकनीक व उपकरणों के माध्यम से बंजर भूमि पर भी अच्छी फसल उत्पन्न की जाती है और कुटीर उद्योगों के उत्पादन के स्तर का भी ऊँचा उठा जाता है, जिससे ग्रामीण निर्धनता व बेरोजगारी में सहायता मिलती है।

3—आधुनिक ज्ञान—विज्ञान की दुनियाँ से संपर्क— आधुनिकीकरण की प्रक्रिया हमारा सम्पर्क ज्ञान—विज्ञान की दुनिया से कराकर नवीन ज्ञान, प्रविधि, आविष्कार, विचार, वैज्ञानिकता व तार्किकता से सोचने समझने की शक्ति को विकसित करती हैं।

4—अन्तर्राष्ट्रीय आदान—प्रदान का व्यापक क्षेत्र— यातायात व संचार साधनों की निरन्तर वृद्धि के कारण प्रचार—प्रसार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक, तकनीकी, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदान—पदान या सहयोग बढ़ता है। और देश लाभान्वित भी होता है।

5—संकीर्णता व रूढ़िवादिता का हास— आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से प्राप्त नवीन मूल्य, नैतिकता, आदर्श, तार्किकता व वैज्ञानिकता के कारण धार्मिक अंधविश्वास, कुसंस्कार, कुप्रथाओं में कमी आती है तथा व्यक्ति जागरूक होकर भाग्य की अपेक्षा कर्म पर विश्वास करने लगता है।

6—बेरोजगारी व आर्थिक संकट— आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के केवल सकारात्मक परिणाम ही होते हैं। ऐसा नहीं है। मशीनीकरण ने जहाँ श्रम बचाने वालों (Labour Saving) यंत्रों का प्रयोग अधिक होने से देश में बेरोजगारी बढ़ती है। मशीनीकरण के प्रभाव से लघु उद्योग धंधों में भी निरंतरता गिरावट आ रही है।

7—शिल्पकारिता का ह्रास — आधुनिक समाज का हर काम मशीनों पर आधारित व निर्भर होने के कारण जहाँ शिल्पकारिता का ह्रास होता है। वहीं दुनिया में अपनी कारीगरी के लिए विख्यात करीगरों के हुनर व हस्तशिल्प की सार्वजनिक स्वीकृति भी नष्ट होती जा रही है।

8—संस्कृति का निरादर .आधुनिकीकरण की क्रियाशील प्रक्रिया ने जीवन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप कर भारतीय संस्कृति को भी प्रभावित किया है। आज हमारा खान-पान, रहन-सहन, भाषा-बोली, परम्परागत मूल्य, आदर्श, संगीत, साहित्य सभी में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। यह आने वाली पीढ़ी के लिए अपनी संस्कृति को जानने व बनाये रखने के लिए एक बड़ी चुनौती है।

9—अपराध, व्याभिचार और भ्रष्टाचार में वृद्धि - आधुनिकीकरण, नगरीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों से अपराधिक प्रवृत्तियों के ग्राफ में निरन्तर वृद्धि हो रही है जो केवल नगरों तक सीमित न रहकर ग्रामीण क्षेत्रों तक जा चुकी है। मनोरंजन का व्यापारीकरण, पश्चिमी संस्कृति का अनुकरण, संचार साधनों की वृद्धि आदि के कारण नशा, बलात्कार, मर्डर, हिंसा जैसी प्रवृत्तियों का बोलबाला व भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भ्रष्ट तरीकों से धन कमाने की प्रवृत्ति में वृद्धि होती जा रही है।

10—औपचारिकता में वृद्धि आधुनिकीकरण के कारण आज व्यक्ति की व्यस्तता में वृद्धि से स्नेह, अनुकूलता, मित्रता में कमी आयी है। पीढ़ियों का अन्तराल काफी बढ़ चुका है। दिखावे व्यक्तिगत व स्वार्थ से भरी-भावनाएं एक-दूसरे की दूरियों को बढ़ाने का कार्य कर रही है। इसलिए कहा जाता है कि आधुनिकीकरण एक ठण्डे जगत (cold world) की सृष्टि में सहायक हुआ है।

उपरोक्त आधुनिकीकरण के सकारात्मक व नकारात्मक परिणामों का अध्ययन करने से हमने पाया कि यह प्रक्रिया अपने आप में बहु सुव्यवस्थित है, जब जानबूझकर इसकी प्रक्रिया को छोड़ा जाता है या विकृत किया जाता है तो ये बुरी बन जाती है, क्योंकि यदि देखा जाए तो आधुनिकीकरण के कारण मुख्य रूप से प्रौद्योगिक विकास, जीवन स्तर में सुधार, कृषि का आधुनिकीकरण, समाजसुधार को प्रोत्साहन, अन्तर्जातीय संबंधों में परिवर्तन, शिक्षा का प्रचार-प्रसार, लोकतांत्रिक नेतृत्व का विकास तथा सामाजिक मूल्य व मनोवृत्तियों प्रभावित हुई हैं, जिससे भारतीय समाज विकसित समाज की ओर अपने कदम बढ़ाने में सक्षम हो रहा है।

4.21 पश्चिमीकरण (Westernization)

आधुनिक भारत विशेषकर ग्रामीण भारत में परिवर्तन लाने के लिए जिन प्रक्रियाओं व सामाजिक शक्तियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनमें पश्चिमीकरण की प्रक्रिया विशेष उल्लेखनीय रही है। अंग्रेजी शासन काल में पाश्चात्य संस्कृति ने अपने प्रभाव से भारतीय समाज में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन किये, जिससे भारतीय जनजीवन में परिवर्तन की गति तेज हो गयी। अर्थात् पश्चिमीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न परिवर्तन ग्रामीण व नगरीय दोनों समाजों में देखे गये। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए पहले इसके अर्थ को समझेंगे।

पश्चिमीकरण का अर्थ (Meaning of westernization)

पश्चिमीकरण का तात्पर्य पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति के अनुकरण से है। अर्थात् पश्चिमीकरण परिवर्तन की उस प्रक्रिया का द्योतक है। जो कि भारतीय जन-जीवन व संस्कृति के विभिन्न पक्षों में उस पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई जिसे कि अंग्रेज शासक अपने साथ लाये थे। इसमें प्रौद्योगिकी से लेकर जाति प्रथा, संयुक्त परिवार, विवाह, धर्म, कला, परम्परा, मूल्य, आदर्श साहित्य, संगीत, विचार और लक्ष्य इत्यादि सभी पर पश्चिमी संस्कृति की एक अमिट छाप लग गयी। हम पश्चिम के रंग में रंगते चले गये। यहीं पश्चिमीकरण की प्रक्रिया है

पश्चिमीकरण के परिभाषाओं को निम्नवत् समझेंगे—

एम०एन०श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण के विषय में लिखा है—“भारत समाज व संस्कृति में डेढ़ सौ वर्ष से अधिक के अंग्रेजी शासन काल के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए परिवर्तन, जिसमें विभिन्न स्तरों जैसे—प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधाराओं व मूल्यों में परिवर्तन शामिल हैं पश्चिमीकरण है।”

प्रो० योगेन्द्र सिंह के अनुसार—“मानवतावाद तथा तार्किकतावाद, पश्चिमीकरण के महत्वपूर्ण हिस्से हैं, जिसके फलस्वरूप भारत में अनेक संस्थात्मक व सामाजिक श्रृंखलाबद्ध सुधार हुए हैं। वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी एवं शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रवाद का उदय, देश में नयी राजनैतिक संस्कृति व नेतृत्व सभी पश्चिमीकरण के अधिउत्पादक हैं।”

जे० पी० सिंह के अनुसार—“पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को पूर्वीकरण (orientalization) के नाम से पहचाना जाना चाहिए।” एक अन्य विचार प्रस्तुत करते हुए योगेन्द्र सिंह ने लिखा है—“संस्कृतिकरण भारतीय संस्कृति में परिवर्तन का आन्तरिक कारक है और पश्चिमीकरण बाह्य।”

हरिकृष्ण रावत के समाजशास्त्र विश्वकोश के अनुसार—“पाश्चात्य संस्कृति के संघात द्वारा उत्पन्न सामाजिक प्रक्रिया को पश्चिमीकरण की संज्ञा दी गयी है। यह प्रक्रिया पाश्चात्य संस्कृति के तत्वों को अंगीकार करके तथा पश्चिमी जीवन के अनुरूप सामाजिक नैतिक और आर्थिक व्यवहारों में परिवर्तन को इंगित करती है।”

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि पश्चिमीकरण सभ्यता व संस्कृति का अनुकरण करने की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसे हम अंग्रेजी शासन काल से अंगीकार कर रहे हैं। प्रारम्भ में इसकी गति मन्द थी, लेकिन वर्तमान में कुछ दशकों से इसमें क्रान्तिकारी तीव्रता परिलक्षित होने के साथ-साथ परिवर्तनात्मक लहर दिखायी पड़ती है।”

4.22 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (characteristics of westernization)

पश्चिमीकरण की विशेषताओं का उल्लेख निम्नवत् किया गया है—

1. **पश्चिमीकरण एक प्रक्रिया है (westernization is a process)-** एक प्रक्रिया के रूप में पश्चिमीकरण एक ऐसी स्थिति को स्पष्ट करती है। जिसमें कुछ समूह पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति को अपनाने लगते हैं। इसके दो पक्ष हैं—चेतन व अचेतन। अर्थात् कभी तो व्यक्ति चेतन रूप से

अर्थात् अपनी इच्छानुसार इसे अपनाता है और कभी अचेतन रूप से पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता को ग्रहण कर लेता है।

2. **एक जटिल अवधारणा** – पश्चिमीकरण की प्रक्रिया जटिल है। इसमें उन सभी परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है जो पाश्चात्य प्रौद्योगिकी और आधुनिक विज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। कई बार व्यक्ति नवीन व्यवहार प्रतिमानों से सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया गांवों की तुलना में नगरों में अधिक प्रभावी रही हैं, लेकिन गाँवों में भी उच्च सामाजिक, आर्थिक स्थिति के लोगों में पश्चिमीकरण के प्रभाव को आसानी से देखा जा सकता है।
3. **एक तटस्थ अवधारणा (A Complex concept)**- पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में इस अर्थ में तटस्थ है कि यह पश्चिमी के प्रभाव से उत्पन्न किसी अच्छे या बुरे परिवर्तन को स्पष्ट करने में अधिक रुचि नहीं लेती, बल्कि इसका संबंध सभी प्रकार के परिवर्तन को स्पष्ट करने में अधिक रुचि नहीं लेती, बल्कि इसका संबंध सभी प्रकार के परिवर्तनों को व्यक्त करने से है। श्रीनिवास के शब्दों में—“पश्चिमीकरण शब्द नैतिक दृष्टि से तटस्थ है। इसका प्रयोग किसी परिवर्तन के अच्छे या बुरे होने को सूचित नहीं करता, बल्कि यह प्रत्येक ऐसे परिवर्तन से संबद्ध है जो पश्चिमी समाज के अनुकरण को अभिव्यक्त करता है।”
4. **किसी निश्चित प्रारूप का अभाव (Lack of a Specific Model)**- पश्चिमीकरण का तात्पर्य किसी भी पश्चिमी समाज के उस प्रभाव से है जो किसी गैर पश्चिमी समाज पर पड़ता है। कुछ वर्ष पूर्व तक जहाँ पश्चिमीकरण में इंग्लैण्ड का प्रभाव था, वहीं भारतीयों का लगाव इस क्षेत्र से कम होने के कारण अमेरिका व रूस के महत्व में वृद्धि होने लगी और इससे पश्चिमीकरण के प्रारूप में भी परिवर्तन हो गया। अतः इसके किसी निश्चित प्रारूप का उल्लेख नहीं किया जा सकता।
5. **सामान्य संस्कृति का अभाव (Lack of Common Culture)**– पश्चिमी समाजों की संस्कृति में समानता न होने के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न परिवर्तनों को ब्रिटिश संस्कृति का प्रतीक माना जाना चाहिए। श्रीनिवास के अनुसार—“वर्तमान समय में पश्चिमीकरण का तात्पर्य पश्चिमी देशों में से किसी की भी एक या अनेक सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करने से समझना चाहिए।” ब्रिटिश संस्कृति का ही प्रभाव है इस बात से श्रीनिवास सहमत नहीं हैं।
6. **अनेक अधिमान्य मूल्यों का समावेश (Inclusion of many preferential values)** वास्तविकता यह है कि पश्चिमीकरण अनेक मूल्यों का समन्वय है जो परम्परागत भारतीय विशेषताओं से अत्यधिक भिन्न रहे हैं अर्थात् तार्किक ज्ञान की प्रधानता, व्यक्तिवादिता, नवजागरण, स्वतंत्रता, समानता, उदारवादी दृष्टिकोण, विचारों की स्वतंत्रता तथा भौतिक आकर्षण पश्चिमीकरण के प्रमुख तत्व हैं और इनमें निर्मित नवीन मूल्य व्यवस्था ही पश्चिमीकरण का आधार हैं। उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि यदि कोई भी समाज इन तत्वों या विशेषताओं पर आधारित वैचारिक तथा व्यवहारिक स्तर पर अपनी जीवन पद्धति में परिवर्तन करने लगता है तो इसे पश्चिमीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है।

4.23 पश्चिमीकरण एवं परिवर्तन (westernization and change)

पश्चिमीकरण के प्रभाव से होने वाले परिवर्तनों को अनेक रूपों में देखा जा सकता है, लेकिन यहाँ पर मुख्य रूप से सामाजिक धार्मिक व राजनैतिक जीवन में पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा की जायेगी।

सामाजिक जीवन और संस्थाओं में परिवर्तन (change in social life and institutions)- सामाजिक संस्थाओं में पश्चिमीकरण द्वारा उत्पन्न परिवर्तन में सर्वप्रथम जाति प्रथा में व्याप्त परिवर्तन का उल्लेख करेंगे-

1) जाति प्रथा (Caste system)- जैसा कि सर्वविदित है कि भारत में व्यवस्था जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण और खण्ड विभाजन की एक गतिशील व्यवस्था हुई थी। अंग्रेजी शासन काल के पश्चात अनेक प्रकार के कारक व शक्तियों ने विकसित होकर जातिप्रथा के संरचनात्मक तथा संस्थात्मक दोनों ही पहलुओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर प्रतिबन्धित कठोर नियमों को शिथिल किया। औद्योगिकीकरण के साथ ग्रामीण आत्मनिर्भरता का पतन हुआ तथा हजारों की संख्या में श्रमिक रोजी रोटी की लालसा से नगरों की ओर अग्रसर हुए। नगरी पर्यावरण विभिन्न जातियों के लोगों का केन्द्र होने के कारण जाति प्रथा की रूढ़िवादी मानसिकता कम होने लगी। विभिन्न जातियों का साथ रहना, खान-पान व सम्पर्क से जातिगत दूरियां कम होती गयीं। अंग्रेजों द्वारा यहां मुद्रा व्यवस्था संगठित करने के कारण धन का महत्व बढ़ने लगा। वाणिज्य, व्यापार के विस्तार के साथ ही शासन संबंधी नवीन व्यवस्था ने नये-नये पेशों को विकसित कर विभिन्न जाति के लोगों को उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें चुनने के अवसर दिये। अतः जाति आधारित पेशों के चयन की समाप्ति हो गयी। यातायात संचार साधनों का सभी के द्वारा प्रयोग किये जाने के कारण छुआछूत की भावना भी कम होने लगी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भी जाति प्रथा में उत्पन्न क्रान्तिकारी परिवर्तन को देखा जा सकता है। जहाँ भारतीय परम्परागत शिक्षा ब्राह्मणों के हाथों की कठपुतली के रूप में कार्यरत् थी, वहीं पाश्चात्य शिक्षा धर्मनिरपेक्ष अर्थात् सबके लिए थी, जिससे निम्न जातियों के वंचित लोगों में भी शिक्षा का प्रसार होने लगा। शिक्षित व्यक्तियों में धर्म, जाति, अन्धविश्वास, रूढ़िवादी मानसिकता का स्तर घटने लगा। अंग्रेजी शिक्षा प्रजातंत्रवाद, समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व के पश्चात मूल्यों को भी विद्यार्थियों में विकसित कर देती थी, जिसके कारण जाति प्रथा दुर्बल होती गयी।

वैज्ञानिक विचार, सामाजिक-धार्मिक आंदोलन, सह-शिक्षा, विवाह के नियमों में शिथिलता, उद्योग-धंधे, वाणिज्य, व्यापार, राजनैतिक संगठन इत्यादि ऐसे आधार रहे हैं, जिन्होंने विभिन्न जातियों को साथ रहने, खाने, एक-दूसरे की संस्कृति को जानने। साथ यात्रा, साथ शिक्षा आदि के कारण व्यक्तिगत पहचान को धूमिल किया और जातीय कठोर प्रतिबंधों को तोड़ दिया। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर बंगाल की यह कहावत-“जाति मारले तीन सेन-स्टेसेने विलसेने और केशवसेने।” अर्थात् तीन सेन लोगों ने जाति प्रथा को समाप्त किया। स्टेशन अर्थात् रेलवे स्टेशन, विलसन अर्थात् कोलकता का एक प्रसिद्ध होटल मालिक तथा ब्रह्म समाज के संस्थापक केशवचंद्र ने। अतः स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण के प्रभाव से जातिगत शिथिलता में सामाजिक दूरियां उत्पन्न कर महत्वपूर्ण कार्य किया है।

2) अस्पृश्यता (Untouchability)- अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए महात्मा गाँधी के साथ-साथ, आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, लेकिन पाश्चात्य मूल्यों एवं शिक्षा के कारण समानता के सिद्धान्त ने समाज को एक स्वस्थ व सकारात्मक वातावरण देकर छुआ-छूत को दूर करने में सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया है। अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1953 पारित होने के लिए समाज सुधारकों द्वारा जो प्रयास किये गये उसमें पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव को आसानी से देखा जा सकता है।

3) **विवाह (Marriage)**- एक सामाजिक, धार्मिक संस्था के रूप में विवाह को धार्मिक संस्कार माना जाता रहा है। जिसमें जातिगत नियमों के साथ अनेक प्रतिबंधों का पालन आवश्यक था, लेकिन पश्चिमीकरण की जटिल व तटस्थ प्रक्रिया के कारण अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह, प्रेम विवाह, विवाह विच्छेद की सुविधा, विधवा पुनर्विवाह आदि की स्वतंत्रता के साथ ही बाल विवाह, बेमेल विवाह, बहु विवाह जैसी प्रचलित कुप्रथाओं का अन्त व एक विवाह की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया, जिसे एक सार्थक परिवर्तन माना जा सकता है।

4) **स्त्रियों की स्थिति (Status of women)**- स्त्रियों की स्थिति का मूल्यांकन इस बात को इंगित करता है कि उनकी स्थिति को संतोषप्रद नहीं माना जाता और बात यदि भारतीय परम्परागत समाज की करें तो स्थिति अत्यधिक गंभीर व भयावह थी, लेकिन पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने एक नयी सोच, आदर्श व जागृति पैदा की। समानता व स्वतंत्रता के प्रगतिवादी विचारधारा, नवीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने उनमें आन्दोलनों की भावना का विकास किया। जिस से आज वे घर-परिवार के साथ-साथ आर्थिक रूप में सहयोगी बनकर दोहरी भूमिका का बखूबी से निर्वहन कर रही हैं। मां, बहिन, पत्नी या घर की दासी से बाहर निकलकर अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार कर वे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विस्तृत हो चुकी हैं इसे पश्चिमीकरण का ही प्रभाव कहा जायेगा।

5) **रीति-नीति और प्रथा (Usages and customs)**- पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भारतीय जीवन के हर क्षेत्र, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा, बोलचाल, जीवन जीने का ढंग, संस्कृति, साहित्य, संगीत इत्यादि में दिखायी पड़ता है। जिसने भारतीय रीति-नीति और प्रथाओं को परिवर्तित कर उन्हें नवीन मूल्य व विचारधारा में चलने के लिए प्रेरित किया है।

6) **राष्ट्रीयता (Nationality)** पाश्चात्य संस्कृति के कारण ही हम आज राष्ट्रीय जीवन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय विभिन्न समूहों के सम्पर्क में आकर वहाँ व्याप्त मूल्यों से परिचित होते हैं इससे राष्ट्रीय समानता, एकता पनपती है। उन्नतिशील संदेशवाहक और यातायात के साधनों के कारण राष्ट्रीय नेताओं को भी संगठित करने का अवसर मिला।

7) **संयुक्त परिवार (Joint Family)**- भारतीय समाज कृषि प्रधान होने के कारण यहाँ संयुक्त परिवारों की व्यवस्था रही है। जहाँ प्रत्येक क्षेत्र में सामूहिकता व संयुक्तता की विशेषता निहित है। पाश्चात्य आदर्शों ने त्याग व कर्तव्य से हटकर अधिकार, सुख व समानता के लिए प्रेरित किया, जिससे संयुक्त परिवार विघटित होने लगे, अर्थात् पाश्चात्य शिक्षा, संयुक्त परिवार के अनुकूल नहीं था, क्योंकि उसमें छोटा परिवार, व्यक्तिवाद, स्त्रियों की स्वतंत्रता पर बल दिया गया है और, क्योंकि वर्तमान में भारतीय समाज इसका अनुकरण कर रहा है। इसलिए भारतीय समाज में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ है।

ख-धार्मिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Religious life)- भारतीय जीवन में धर्म का अत्यधिक प्रभाव रहा है। जिसके कारण असंख्या धार्मिक, अविश्वास, कुप्रथाएँ, जाति-पाति के भेदभाव का बोलबाला रहा। लेकिन पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय धार्मिक जीवन को परिवर्तित किया, जिसमें समाज सुधारकों की अहम् भूमिका रही है। पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में आने से धार्मिक विधियों, कर्मकाण्डों में कमी के साथ-साथ ब्राह्मणों के प्रभुत्व में भी कमी आयी। हिन्दू धर्म की संकीर्ण मानसिकता के कारण लोगों ने ईसाई धर्म को अपनाना शुरू कर दिया। भौतिकवाद व बुद्धिवाद के प्रभाव के धार्मिक विधियों तथा कर्मकाण्ड का खंडन होने लगा। हिन्दू धर्म के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से नये धार्मिक सिद्धान्तों को जनता के सम्मुख रखा गया। राजा राममोहन राय, महर्षि देवन्द्रनाथ टाकूर तथा केशवचंद्र सेन से ब्रह्म समाज का संचालन का काम जोरों से चलने लगा।

वेद-वेदांत के प्रचार में वृद्धि हुई। सन् 1861 में श्री सेन ने नवयुवक साथियों के साथ मिलकर 'संगत सभा' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य आध्यात्मवाद का प्रचार करना था। ब्रह्म समाज, आर्य समाज की स्थापना ने भी जाति-पाति का भेद, बाह्य आडम्बर, कुप्रथाओं व कुसंस्कारों का अन्त कर पाश्चात्य खुले विचारों को अपनाने के लिए प्रचार-प्रसार किया।

1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के प्रमुख दस सिद्धान्तों में से सम्पूर्ण सत् विद्या और सत् विद्या से जो पदार्थ पाये जाते हैं। सब का मूल परमेश्वर है और ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, न्यायकारी, दयालु, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना योग्य है। जैसे दो प्रमुख सिद्धान्तों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। जाति प्रथा के स्थान पर कर्म के महत्व, वर्ण व्यवस्था के संकीर्ण स्वरूप में परिवर्तन कर वेदान्त को एक नया स्वरूप प्रदान किया। पाश्चात्य संस्कृति का स्वामी विवेकानन्द पर भी गहरता प्रभाव पड़ा। जिसके कारण उन्होंने देशसेवा, जनसेवा, मातृत्व भाव, समानता, प्रेम आदि को भारतीय समाज के समक्ष रखा। उनका मानना था कि वास्तविक धर्म का पालन देश की सेवा करना है। उनका संदेश आत्मशक्ति, सामाजिक प्रगति व समाजसुधार की नींव पर आधारित है। अतः सामाजिक समानता, विश्वबंधुत्व, सर्वव्यापक धर्म तथा जनसेवा इन्हीं सब आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने 1899 में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। सन् 1909 में इस मिशन को गर्वनर जनरल ने कानूनी मान्यता प्रदान की। अतः पश्चिमीकरण ने भारतीय धार्मिक जीवन को भी परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

3- राजनैतिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Political Life)- ब्रिटिश काल के परिणामस्वरूप राजनैतिक क्षेत्र में भी चेतना आयी। समाज सुधारक महापुरुषों ने ब्रिटिश परम्परा के मानवतावादी तार्किक लौकिक मूल्यों को अपनाकर राष्ट्रीय भावना तथा राजनैतिक चेतना को प्रेरित किया। 15 अगस्त 1947 भारत के स्वतंत्र होने पर प्रजातांत्रिक, समाजवाद के आधार पर विकास व प्रगति का मार्ग चुना। 26 जनवरी 1950 को नवीन संविधान लागू किया गया, जिसमें पश्चिमी नीतियों को ध्यान में रखते हुए भारत में समाजवाद को प्रमुखता प्रदान करते हुए राज के लिए नीति-निर्देशक सिद्धान्तों तथा नागरिकों के मूल अधिकारों को भी संविधान में सम्मिलित किया गया। वर्तमान में राजनीति में पश्चिमीकरण का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है, जहाँ एक ओर राजनीतिक गतिविधियों में वृद्धि हुई है। वहीं भ्रष्टाचार जैसी प्रवृत्तियाँ भी विकसित हुई हैं।

4- साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में परिवर्तन (Changes in the field of Literature and Culture)- विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य व संस्कृति पर भी पश्चिमीकरण के प्रभाव को देखा जा सकता है। वर्तमान में अंग्रेजी साहित्य संसार के सब आधुनिक साहित्यों में काफी समृद्ध माना जाता है। इसके साथ ही शिक्षा, संगीत, खान-पान आधुनिक कला, मनोरंजन के साधनों पर भी इसका प्रभाव सहज स्पष्ट होता है। योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक **"Modernization in Indian Tradition"** में कहा है—“पाश्चात्य प्रभाव न केवल नैतिकता और दर्शन तक सीमित रहा था, अपितु कुछ क्षेत्रों में विशेषतः उच्च मध्यम वर्ग के सदस्यों में यह आदतों और प्रथाओं में भी देखने को मिलता है” अर्थात् संस्कृति के साथ-साथ विदेशी साहित्य का अध्ययन भी भारतीयों की रुचि में शामिल होता गया। विभिन्न मराठी लेखकों ने अंग्रेजी कवियों व लेखकों जैसे-शेक्सपीयर, जॉनसन आदि के विचारों का अनुवाद किया। अन्य भाषा के लेखक भी इसका अनुकरण कर रहे हैं। साहित्य में अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद जैसी विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रयोग पश्चिमीकरण का ही परिणाम है। संगीत का

पाश्चात्यकरण, वाद्य यंत्रों की प्रचुरता, स्थापत्य कला व वास्तुकला, चलचित्र, मनोरंजन सभी में पश्चिमीकरण उजागर होता है।

5) आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन (Changes in Economic Field)- अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद भारत के आर्थिक ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। पूर्व में आत्मनिर्भर होने के कारण व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता था। यातायात साधनों की उन्नति के बाद उद्योग स्थापित हुए और गाँवों की आत्मनिर्भर प्रणाली में कमी आने लगी। कृषि का व्यापारीकरण, कच्चे माल की बाजार, जमींदारी प्रथा का अन्त, गृह उद्योगों में कमी के साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। बड़े-बड़े मिल-कारखाने स्थापित होकर उत्पादन की प्रक्रिया में बढ़ोत्तरी कते प्रतीक बन गये। अंतर्प्रान्तीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि, प्रतियोगिता रोजगार में बढ़ोत्तरी तो हुई, लेकिन श्रमिक समस्याएँ भी बढ़ने लगी, बाल श्रमिक, बाल श्रमिकों का शोषण, औद्योगिक झगड़े, आन्दोलन, श्रमिक संघ, मालिक संघ बनाये जाने लगे। इसे पश्चिमीकरण का प्रभाव ही माना जा सकता है।

श्रम अधिनियम, बाल श्रम निरोधक अधिनियम निर्मित हुए और साम्यवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्था के आदर्शों तथा विचारों के प्रसार में मदद मिली। विशेषकर कार्लमार्क्स के क्रान्तिकारी व साम्यवादी आर्थिक विचारों का प्रभाव भारतवासियों पर पड़ा।

6- वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक क्षेत्र में परिवर्तन (Changes in Technological and Scientific field)- पश्चिमीकरण ने वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक क्षेत्र में विकास कर नए सामाजिक-सांस्कृतिक युग का सूत्रपात किया। संचार के क्षेत्र में नये तथा क्षेत्रीय भाषाओं में समाचार-पत्रों, डाक सेवाओं एवं रेडियो आदि का प्रारम्भ भी। इस काल में देखने को मिलते हैं जो कि निश्चित रूप से पश्चिमीकरण का प्रभाव था।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि पश्चिमीकरण प्रक्रिया ने भारतीय समाज व संस्कृति में परिवर्तन कर समानता, तार्किकता, वैज्ञानिकता, लौकिकता इत्यादि को प्रचारित किया, वहीं भारतीय नैतिक मूल्यों व आदर्शों को भी परिवर्तित कर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

4.24 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि संस्कृतिकरण की व्याख्या एम0एन0श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'सोशल चेन्ज इन मार्टन इण्डिया' (**Social Change in Modern India**) 1976 में मैसूर के रामपुरा नामक ग्राम का अध्ययन करते समय की थी।

संस्कृतिकरण की अवधारणा को पहले 'ब्राह्मणीकरण' कहा गया, लेकिन संस्कृतिकरण अधिक व्यापक होने के कारण व्यवहार में लाया गया।

संस्कृतिकरण एक सार्वभौमिक व बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सामाजिक पद में परिवर्तन के लिए निम्न जाति अपना संबंध किसी उच्च जाति से जोड़ती है। यह सामाजिक-सांस्कृति परिवर्तन की सूचक है।

प्रभु जाति की अवधारणा भी सर्वप्रथम एम0एन0 श्रीनिवास ने 1959 में मैसूर के रामपुरा गांव का अध्ययन करनते समय प्रतिपादित की थी, जिसमें अधिक भू-स्वामित्व अधिक जनसंख्या और जाति

संस्तरण में उचित स्थान, आधुनिक शिक्षा, प्रशासनिक स्थिति, आर्थिक सम्पन्नता, विकास योजनाओं के साथ की सीमा, राजनीतिक प्रभुत्व आदि को प्रभु जाति क निर्धारक तत्वों के रूप में प्रस्तुत किया है।

‘धर्मनिरपेक्षीकरण का विकास 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन में जी०के०होल्के के नेतृत्व में हुआ था, धीरे-धीरे भारत में इसका इसका प्रचलन बढ़ा और एक क्रांतिकारी परिवर्तन सामने आया। धर्मनिरपेक्षीकरण का तात्पर्य उस सामाजिक विचार या प्रवृत्ति के रूप में समझा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत धार्मिक प्रधानता या परम्परागत व्यवहारों में धीरे-धीरे तार्किकता, वैज्ञानिकता व व्यवहारिकता लाने का प्रयास किया जाता है। इसके प्रमुख कारणों में नगरीकरण, आधुनिक नवीन यातायात व संचार साधन, आधुनिक व पाश्चात्य शिक्षा, सरकारी प्रयत्न प्रमुख हैं, जिनके फलस्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था चाहे वे धर्म हो जाति हो, समुदाय हो, परिवार हो संस्कार हो या अन्य क्षेत्र प्रभावित हो रहे हैं।

4.25 शब्दावली

सामूहिक प्रक्रिया (coprate process)– जिस प्रक्रिया का संबंध व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है। सामाजिक स्थिति (Social position)– समाज में व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति का निर्धारण सामाजिक नियमों से अलग नहीं है।

ब्राह्मणीकरण–Brahminization– ब्राह्मणों की संस्कृति व सभ्यता का अनुकरण जीवन के ढंग (way of life) जीवन जीने की प्रक्रिया उच्च स्थित (higher status) सामाजिक सोपान या उतार-चढ़ाव के क्रम में उच्च स्थिति प्राप्त करना। प्रभु जाति (Dominant caste) अपना प्रभुत्व जमाने वाली जाति भू-स्वामित्व (land ownership) कृषि योग्य भूमि के एक बड़े भाग का स्वामित्व

जनसंख्यात्मक शक्ति (Numerical Strength) सदस्यों की अधिक संख्या प्रत्याशी सामाजीकरण (anticipatory socialization) जिसमें निम्न जाति उच्च जाति की संस्कृति को इस आशा से अपनाती हैं। ताकि उसे उस जाति की सदस्यता या सामाजिक स्थिति मिल जाएगी।

Orientalization–	पूर्वीकरण–पूर्व का अनुकरण
Humanitarianism rationalism–	मानवतावाद तथा तार्किकतावाद
By producer–	अधि उत्पादन
Importance of National Interest–	राष्ट्रहित की प्रधानता–जहां राष्ट्रहित को सर्वोपरि समझा जाए।
Stable Economy–	सुदृढ़ अर्थव्यवस्था

4.26 अभ्यास प्रश्न

1–संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के प्रवर्तक कौन हैं?

(क) योगेन्द्र सिंह

(ख) एस० सी० दूबे

(ग) एम० एन० श्रीनिवास

(घ) के० एम० पाणिककर

2— निम्न में से किसने संस्कृतिकरण को प्रत्याशी सामाजीकरण की प्रक्रिया माना है?

(क) डी० एन० मजूमदार (ख) एम० एन० श्रीनिवास (ग) योगेन्द्र सिंह (घ) हैरल्ड गूल्ड

3— यह कथन किसका है—“आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया है जो परम्परागत समाज से प्रौद्योगिकीकरण पर आधारित समाज की ओर अग्रसर होती है”—

(क) एस० सी० दुबे (ख) योगेन्द्र सिंह (ग) एम० एन० श्रीनिवास (घ) एम० एफ० गोरे

4— एक व्यवस्थित अवधारणा के रूप में पश्चिमीकरण की विवेचना में मुख्य योगदान है—

(क) राबर्ट रेडफील्ड (ब) डेनियल लर्नर (स) एम० एन० श्रीनिवास (द) योगेन्द्र सिंह

5— संस्कृतिकरण शब्द से पूर्व इसे किस नाम से जाना जाता था?

(क) लौकिकीकरण (ख) पाश्चात्यकरण (ग) आधुनिकीकरण (घ) ब्राह्मणीकरण

6— इनमें से कौन से कारक संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को बढ़ाने में सहायक है?

(क) यातायात एवं संचार साधन (ख) सामाजिक सुधार आन्दोलन

(ग) भारतीय कानून एवं संविधान (घ) उपरोक्त सभी

7— निम्न में से कौन सी पुस्तक एम० एन० श्रीनिवास द्वारा नहीं लिखी गयी है?

(क) इण्डियन विलेजेज (Indian villages)

(ख) मैरिज एण्ड फॅमिली इन मैसूर (Marriage and family in Mysore)

(ग) ह्यूमन सोसाइटी (Human society)

(घ) सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया (Social change in Modern India)

8— ब्रह्म समाज की स्थापना किसने की?

(क) स्वामी विवेकानन्द (ख) केशवचन्द्र सेन

(ग) राजारायमोहन राय (घ) दयानन्द सरस्वती

9— अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' कब पारित हुआ?

(क) 1872 (ख) 1949 (ग) 1829 (घ) 1955

10— धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व कौन से हैं?

(क) विभेदीकरण की प्रक्रिया (ख) तार्किकता (ग) धार्मिक संकीर्णता का ह्रास (घ) उक्त सभी

निम्नलिखित के आगे सत्य/असत्य लिखिये?

- (11) बंगाल सती नियम' 1829 में पारित हुआ—
- (12) अवैज्ञानिकता एवं अतार्किकता धार्मिक निरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व हैं—
- (13) मजूमदार के अनुसार 'संस्कृतिकरण की अपेक्षा असंस्कृतिकरण की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट है'—
- (14) सामाजिक विभेदीकरण का तात्पर्य सामाजिक विभिन्नताओं से है—
- (15) संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया है—
- (16) उपलब्ध स्थानीय कृषि भूमि के एक बड़े भाग पर स्वामित्व होना प्रभु जाति की विशेषताएँ हैं—
- 17—'मार्डनाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन' पुस्तक श्रीनिवास द्वारा लिखी गयी है—
- (18) योगेन्द्र सिंह ने रामपुरा गाँव का अध्ययन करते समय ओक्कलिंगा जाति को प्रभु जाति के रूप में पाया—

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- 1—ग 2—ग 3—ख 4—स 5—घ 6—घ 7—ग 8—ग 9—घ 10—घ 11—सत्य 12
असत्य 13—सत्य 14—सत्य 15—सत्य 16—सत्य 17—असत्य 18—असत्य

4.27 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- श्रीनिवास, एम0एन0, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, पटना, 2003, पृ0
19—51
- यादव राम गणेश (मु0सं0), भारतीय समाज, ओरियेंट ब्लैक स्वान, प्रा0 लिमि0, दिल्ली, 2014,
पृ0सं0—213—214
- यादव राम गणेश (मु0सं0), भारतीय समाज, ओरियेंट ब्लैक स्वान, प्रा0लिमि0, दिल्ली, 2014,
पृ0सं0—165—170
- अग्रवाल जी0 के0 एवं पाण्डे एस0एस, ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य पब्लिकेशन, आगरा, 1999,
पृ0सं0—204—211
- यादव राम, गणेश, भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास, 2014, पृ0सं0 50—75, ओरियेंट
ब्लैकस्वान, प्रा0लिमि0दिल्ली।
- मुखर्जी रवीन्द्रनाथ, भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2001, पृ0सं0—66—83
- मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक परिवर्तन, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ0सं0—181—206
- मदान, जी0 आर0, परिवर्तन एवं विकास का समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ0सं0
137—142
- अग्रवाल जी0 के0 सामाजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन, साहित्य भवन, आगरा—1999, प10सं0 428—431
- घिल्डियाल अच्युतानान्द एवं गोदावरी, समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, गौरीशंकर प्रेस,
वाराणसी, 1987, 143—145
- दूबे एस0सी0, एक्फ्लेशेशन एण्ड मैनेजमेंट ऑफ चेंज, टाटा मैकग्रोहिल, 1977, पृ0सं0—67—68
- Lerner D., The Passing of Traditional Society, Free Press, NewYork-1958, page-45-49
- Levi M.J., Countrasing Factors in the Modernization of China and Japan, page 27
- Singh Yogender, Modernization of Indian Tradition Delhi Thomson Press, 1973, p.61

4.28 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री—

- 1—M.N.Srinivas- social change in Modern India, रामकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003 पृ0सं0
19—51,107—128।
- 2—Singh yogender, social stratification and change in India, Manohar Publication and
Distributors, New Delhi, 1997, P.144
4. आहूजा राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001

4.29 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- संस्कृतिकरण को परिभाषित कीजिए तथा इसके सहायक कारकों का वर्णन कीजिए?
- 2- एम0 एन0 श्रीनिवास द्वारा संस्कृतिकरण पर दिये गये विचारों पर एक निबन्ध लिखिए?
- 3- धर्मनिरपेक्षीकरण को परिभाषित कर इसके तत्वों पर प्रकाश डालिए?
- 4- भारतीय समाज पर धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रभाव व इससे उत्पन्न परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए?
- 5- 'प्रभुजाति' की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। भारतीय गाँवों की शक्ति संरचना को समझने में इसका क्या महत्व है?
- 6- 'प्रभुजाति' के निर्धारक तत्व कौन से हैं? किसी एक प्रभु जाति की प्रकृति का वर्णन कीजिए?
- 7- आधुनिकीकरण से आप क्या समझते हैं? आधुनिकीकरण के प्रमुख कारकों की विवेचना कीजिए।
- 9- भारत में आधुनिकीकरण के प्रभावों की चर्चा कीजिए?
- 10- हिन्दू विवाह और सामाजिक संस्थाओं पर पश्चिमीकरण के प्रभाव का उल्लेख कीजिए।
- 11- भारतीय सामाजिक व राजनैतिक जीवन पर पश्चिमीकरण के प्रभाव पर एक निबंध लिखिए?

इकाई-05

श्यामाचरण दुबे (S.C.Dube)

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 श्यामाचरण दुबे का जीवन परिचय एवं कृतियाँ
- 5.3 भारतीय ग्राम
- 5.4 शमीरपेट गाँव की भौगोलिक स्थिति व पृष्ठभूमि

- 5.5 शमीरपेट गाँव की सामाजिक संरचना
- 5.6 परम्परा
- 5.7 परम्परा की विशेषताएँ
- 5.8 भारतीय परम्परा की विभिन्न धाराएँ
- 5.9 आधुनिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
- 5.10 आधुनिकीकरण के प्रमुख पाँच आयाम
- 5.11 आधुनिकीकरण के कारण
- 5.12 आधुनिकीकरण के संबंध में श्यामाचरण दुबे के विचार
- 5.13 आधुनिकीकृत व्यक्तित्व की विशेषताएँ
- 5.14 आधुनिकता के लक्षण
- 5.15 आधुनिकीकरण की बाधाएँ व अवरोध
- 5.16 विकास का अर्थ एवं परिभाषा
- 5.17 विकास की विशेषताएँ
- 5.18 विकास पर दुबे के विचार
- 5.19 विकास के सिद्धान्त
- 5.20 परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध
- 5.21 साँस्कृतिक संक्रमण की समस्या
- 5.22 सारांश
- 5.23 शब्दावली
- 5.24 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 5.25 सहायक/उपयोगी-पाठ्य सामग्री

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप समझ पाएंगे—

- प्रो० श्यामाचरण दुबे का जीवन परिचय, उनका कृतित्व।
- भारतीय ग्राम रचना के आधार पर ग्रामीण सामाजिक संरचना का वैज्ञानिक अध्ययन।
- परम्परा संबंधी दुबे जी के विस्तृत विचार।
- आधुनिकीकरण क्या है? इसके लक्षण, इसमें उत्पन्न बाधाएँ।
- विकास संबंधी दुबे जी की अवधारणा।
- परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध व
- साँस्कृतिक संक्रमण की पीड़ा संबंधी दुबे जी के विचार।

5.1 प्रस्तावना—

श्यामाचरण दुबे का नाम भारत के अग्रणी समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों व साहित्यकारों में हमेशा सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्हें एक कुशल प्रशासक और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सलाहकार के रूप में याद किया जाता है। छोटी सी आयु में अपनी लेखनी को हिन्दी पत्रकारिता के माध्यम से प्रारम्भ कर अंग्रेजी के बड़े ग्रंथों तक पहुँचाया। ग्रामीण परिवेश में पढ़ने के पश्चात् भी अपने अभूतपूर्व योगदान से समाजशास्त्र, मानवशास्त्र व साहित्य को एक नयी दिशा देने का कार्य

प्रत्येक क्षेत्र में सराहनीय व महत्वपूर्ण है। अतः उनके व्यक्तित्व व कृतित्व की चर्चा करना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक होगा।

5.2 श्यामाचरण दुबे का जीवन परिचय एवं कृतियाँ

श्यामाचरण दुबे का जन्म 25 जुलाई 1922 को मध्यप्रदेश के नरसिंगापुर में हुआ था। उनकी माता राष्ट्रवादी थीं और पिताजी कोर्ट ऑफ वार्डस के प्रबंधक थे। जब वे 7-8वर्ष के थे, तभी उनकी माता जी का देहान्त हो गया। पिता के संरक्षण में पलते बढ़ते उनका समय पढ़ने में व्यतीत होने लगा। जब वे 10वीं कक्षा में थे, तभी से उन्होंने हिन्दी पत्रिकाओं में कई लेखों का प्रकाशन किया, जो आगे चलकर अंग्रेजी के ग्रंथों तक पहुंच गया।

गाँव के प्राथमिक विद्यालय में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की जहाँ टाट पट्टी पर बैठकर पढ़ाई की जाती थी। नागपुर से राजनीति विज्ञान में ऑनर्स प्रथम श्रेणी में प्राप्त कर उच्च शिक्षा प्राप्त की। मानव विज्ञान को शोध के विषय रूप में चयनित कर विशेष रूप से छत्तीसगढ़ (मध्यप्रदेश) की 'कमार' जनजाति को अपना अध्ययन का केन्द्र बनाया। व्यवसायिक जीवन को प्रारम्भ नागपुर के हिस्लोप कॉलेज के एक प्राध्यापक के रूप में करने के पश्चात् लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। यहाँ डी0 एन0 मजूमदार के साथ उन्होंने 'द इस्टर्न एन्थ्रोपॉलिजिस्ट' नामक पत्रिका का प्रकाशन व सम्पादन किया। तत्पश्चात् उस्मानिया एवं सागर विश्वविद्यालय में अध्ययन अध्यापन का कार्य जारी रखा, जिसमें उनका परिप्रेक्ष्य संरचनात्मक प्रकार्यात्मक रहा। इन्होंने इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी, शिमला-1972-1977 (**Indian Institute of Advance Study, shimla**) के निदेशक जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति (1978-83), यूनेस्को और यूनाइटेड नेशंस की विभिन्न राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और समितियों के विभिन्न पदों को सुशोभित किया तथा 1976 में 'अखिल भारतीय समाजशास्त्री परिषद् के अध्यक्ष भी रहे।

इनके लेखन के मुख्य विषय भारतीय ग्राम व्यवस्था के साथ-साथ परम्परा, विकास, परिवर्तन व आधुनिकीकरण भी रहे हैं। इनके द्वारा लिखित 'इण्डियन विलेज' (**Indian village 1955**) ने इन्हें सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पहचान दिलायी।

इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं-द कमार (1954), इण्डियन विलेज (1955), इण्डियाज चेंजिंग विलेजेज (1958), ऐसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन (1971), एकप्लेशन एण्ड मैनेजमेंट ऑफ चेंज (1971), ट्राइबल हैरिटेज ऑफ इण्डिया (संपादित 1977), माडर्नाइजेशन एण्ड डेवलपमेंट (1988), ऑन क्राइसिस एण्ड कमिटमेंट इन सोशल वैल्यूज, इंडियन सोसाइटी (1992), मानव और संस्कृति (1993), भारतीय ग्राम (1975), विकास का समाजशास्त्र, समय और संस्कृति, संक्रमण की पीड़ा, परम्परा और परिवर्तन, इतिहास बोध और संस्कृति (1993)। ज्ञान पीठ पुरस्कार व मूर्ति देवी पुरस्कार से आप सम्मानित रहे। अतः स्पष्ट है कि दुबे जी का समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के क्षेत्र में दिया गया योगदान अविस्मरणीय है।

5.3 भारतीय ग्राम (Indian village)

व्यक्तित्व कृतित्व का अध्ययन करने के पश्चात् भारतीय ग्राम (**Indian village**) जो आंध्र प्रदेश के हैदराबाद के निकट 'शमीरपेट' गाँव के वर्णनात्मक शोध पर आधारित है, का अध्ययन किया जा रहा है। जिसका प्रारम्भ 1951-52 में किया गया। लेकिन पुस्तक के रूप में यह 1953 में सामने आयी। यह

उस्मानिया विश्वविद्यालय के तत्वावधान में आयोजित समाजसेवा विस्तार योजना तथा समाजशास्त्र एवं एवं मानवशास्त्र के संयुक्त अध्ययन का प्रतिफल है। ग्रामीण अध्ययन के क्षेत्र में यह कृति अत्यधिक उपयोगी व महत्वपूर्ण मानी जाती है। क्योंकि यह कृति अत्यधिक उपयोगी व महत्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि इसमें ग्रामीण जनजीवन को सरलता के साथ गहराई से प्रस्तुत किया गया है—

5.4 शमीरपेट गाँव की भौगोलिक स्थिति व पृष्ठभूमि

यह गाँव भारत के दक्षिण पठार में स्थित हैदराबाद और सिकंदराबाद से लगभग 25 मील की दूरी पर बसा हुआ है। उपजाऊ खेतों, वीरान चट्टानों, तालों, झीलों व मंदिरों के तेलंगाना क्षेत्र का यह गाँव ऐसे ही एक तलाब शाहगीर के किनारे बसा हुआ है। एक स्वतंत्र सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक इकाई के रूप में सामुदायिक जीवन के कई पक्षों में यह गाँव आत्मपूर्ण है। सामाजिक नियंत्रण के महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में एक अर्द्धन्यायिक पंचायत भी है।

1951 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 508 परिवारों में बंटी हुई थी। जिनमें सर्वाधिक ऊँची हिन्दू जातियाँ 1434 अस्पृश्य/अनुसूचित 680 मुसलमान हैं। यहाँ अधिकांश तेलुगु व उर्दू बोलने वाले द्विभाषी थे।

5.5 शमीरपेट की सामाजिक संरचना

इस गाँव की सामाजिक संरचना को दुबे जी ने तीन प्रमुख इकाईयों—ग्राम समुदाय में जाति व्यवस्था, आंतरिक गठन (सत्ता और न्याय), अंतर जातीय व अनंतर ग्रामीण संगठन में विभाजित किया है।

1) ग्राम समुदाय में जाति व्यवस्था—यहाँ हिन्दू—मुसलमान दोनों हैं और सभी मुसलमान सुन्नी सम्प्रदाय से हैं। इनका समूह सामाजिक—धार्मिक आधार पर संगठित है। सम्पत्ति—पूँजी के आधार पर समान है। यहाँ हिन्दुओं की कठोर व स्तरीकृत जाति व्यवस्थाप से मुसलमानों भी प्रभावित हैं, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं ने स्वयं से उन्हें नीचे माना है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व द्विज वर्णों में विभक्त इस गाँव में अनेक ऐसी जातियाँ हैं, जिन्हें अस्पृश्य नहीं गिना जाता। अतः जाति की श्रेष्ठता की दृष्टि से शमीरपेट की विभिन्न जातियों का क्रम निम्नवत् है—

द्विज जातियाँ—	ब्राह्मण (पुराहित), कोमटि (व्यापारी)		
व्यवसायिक जातियाँ—	कृषक, कारीगर, मजदूर		
कापुरेड्डी	कुम्भरि	गोल्ला	कापु मुत्तरासी
(कृषक)	(कुम्हार)	(चरवाहे)	(कृषक)
साले	गाओण्डा	साकली मंगली	
(जुलाहा)	(तांड़ी बनाने वाले)	(धोबी)	(नाई)

बड़डार	एकरकला	पिच्च-कुटला
(पत्थर तोड़ने वाले)	(शिकारी व चटाई बनाने वाले)	(जाति-गोत्र का गुणगान करने वाले भाट)

अस्पृश्य जातियाँ— माला, मादिगा

हिन्दुओं में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि है।

2) **आन्तरिक गठन:** सत्ता व न्याय—इस गाँव के आन्तरिक गठन को भी सामाजिक-धार्मिक तथा प्रशासनिक गठन दो रूपों में देखा जाता है। जहाँ सामाजिक-धार्मिक गठन के आधार पर वंशानुगत मुखिया सर्वाधिक सम्मानित व प्रभावशाली व्यक्ति माना जाता है। जिसका निर्णय सर्वमान्य होता है और जो झगड़े निवारण, त्योहारों का कार्यक्रम, धार्मिक अनुष्ठान, चंदे का एकत्रीकरण, सार्वजनिक कार्यों के लिए विचार विमर्श, सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध शिकायत करने जैसे कार्यों का सम्पादन करता है। वहीं प्रशासनिक सत्ता में पुलिस प्रमुख होती है। आपराधिक गतिविधियों पर नजर रखना, जन्म-मरण संबंधी रिकार्ड रखना जैसे कार्यों का सम्पादन इसमें किया जाता है। जिसके लिए इन्हें प्रतिमाह वेतन दिया जाता है।

3) **अन्तरजातीय व अन्तर ग्रामीण संगठन**—सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में जाति का विस्तार व्यापक है। सामान्यतया अधिकांश जातियाँ अपना आदान-प्रदान तेलंगाना तक ही रखती हैं। मुसलमानों का संबंध क्षेत्र विस्तृत है। हिन्दू जाति के लोग पड़ोसी गाँव के साथ मिलकर एक अर्द्धसरकारी स्थानीय समूह बनाते हैं।

संस्कारात्मक गतिविधियाँ—यहाँ प्रचलित संस्कारों को निम्नवत् देखा गया है—

अ-धर्म का स्वरूप—यह मुख्यतः एक हिन्दू गाँव है। समस्त मुसलमान सुन्नी हैं। न तो ये पाँच समय की नमाज पढ़ने के लिए नियम का पालन करते हैं, न ही हिन्दुओं में विशेष पर्वों के अतिरिक्त प्रतिदिन मंदिर जाने की परम्परा है। पर्व-त्योहार नियमानुसार मनाये जाते हैं युवाओं में धार्मिक अनुभव प्राप्ति का उत्साह बहुत कम है। ये सभी भाग्यवादी हैं। भाग्य 'कर्म व पुनर्जन्म' के विचार से जुड़ा है। यहाँ के लोग परम्परागत नियमानुसार कार्य करना पसंद करते हैं। मृत्यु व आत्मा की अवधारणा को मानते हैं, भूत-प्रेतों पर विश्वास करते हैं।

विश्वास—शमीरपेट के प्रायः सभी मुसलमान हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमान हैं। जो भूत-प्रेत व आत्माओं पर विश्वास रखते हैं। गाँवों में मनाये जाने वाले त्यौहार-पर्वों में उनकी सहभागिता होती है तथा विपरित परिस्थितियों, समस्याओं के समाधान हेतु देवी-देवता की पूजा को आवश्यक मानते हैं।

हिन्दू-त्योहार—व्रत और भोज हिन्दुओं के धार्मिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं। उगादी, रामनवमी, टोली एकादशी, नागुल पंचमी, कृष्ण अष्टमी, पितृमास, दसरा, तिलसंक्रान्ति, शिवरात्रि व होली हिन्दुओं के तो मुहर्रम, मीलाद शरीफ, ग्यारहवीं शरीफ, शबे मीराज, शबे बारात, रमजान, ईदउल जुआ आदि मुसलमानों के प्रमुख त्योहार हैं। पोच्चमा, मैसम्मा, जलाल मियां का उर्स इत्यादि ग्रामीण त्यौहार के रूप में मनाये जाते हैं।

जीवन यात्रा संबंधी संस्कार—इनमें मुख्यतः जनम, युवा होने से पूर्व, वयः संधि, विवाह एवं मृत्यु संस्कारों की परम्परा है। जिनका उद्देश्य व्यक्ति की आत्मोन्नति एवं दूषण को दूर करके शुद्धिकरण करना है। नामकरण युवा होने पर हिन्दुओं में यज्ञोपवीत, मुसलमानों में खतना व अक्षर ज्ञान के लिए बिसमिल्लाह, विवाह आदि संस्कारों की प्रमुखता पायी जाती है। सामान्यतया हिन्दू, मुसलमान दोनों ही शवों को दफनाते हैं ब्राह्मण व कोमटि अपने मृतकों को जलाते हैं।

उपरोक्त भारतीय ग्राम नाम कृति में डॉ० दुबे ने सूक्ष्मता से शमीरपेट की सामाजिक संरचना को प्रस्तुत किया है।

5.6 परम्परा (Tradition)

एस० सी० दुबे ने परम्परा, विकास, आधुनिकता के अन्तर्संबंध पर समय—समय पर लेख लिखे, व्याख्यान दिये जिनका संकलित रूप इनकी पुस्तक परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति, परम्परा और परिवर्तन, विकास का समाजशास्त्र, समय व संस्कृति में देखने को मिलता है। अतः इन विषयों पर आगे चर्चा की जायेगी।

परम्परा को परिभाषित करना अत्यधिक जटिल है। साहित्य से लेकर विज्ञान तक इसे अलग—अलग ढंग से परिभाषित किया गया है। अधिकांशतः परम्परा व आधुनिकता को समान माना जाता है। कोई भी चीज कब तक परम्परागत मानी जाती रहेगी या किसी चीज में आधुनिकता कब प्रारम्भ होती है इस बात का निश्चितिकरण समाज वैज्ञानिकों के लिए कठिन है। ये दोनों ही द्विभाजक (dichotomous) शब्द नहीं हैं, बल्कि इनके बीच एक अनवरतता (continuum) की स्थिति है। परम्परा एक सापेक्षिक शब्द है। यदि कोई एक चीज एक समाज के लिए भी परम्परागत है तो कोई जरूरी नहीं कि दूसरे समाज के लिए भी परम्परागत ही होगी।

अतः परम्परा को समझने के लिए इन्हें विद्वानों द्वारा कहे गये कथनों के अनुसार निम्नवत् समझे—

निकोलस एबरक्रॉमी (Nicholas Abercrombie) के अनुसार—“शाब्दिक अर्थ में परम्परा से अभिप्राय एक ऐसी मानवीय प्रथा, विश्वास, संस्था या मानवाकृति से है। जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है।”

एस० सी० दुबे (S.C.Dube)- “शाब्दिक अर्थ में ऐसे विचार, प्रथाएँ व्यवहार, प्रकार, जीवन मूल्य और संस्थानिक रूप जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिये जाते हैं। परम्परा की परिधि में आती हैं।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि परम्परा एक अमूर्त सामाजिक रचना है, जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी होते हुए समाज को स्थायित्व मिलता है। लोगों के आचरण का निर्धारण व उसे वैधता प्राप्त होती है, अर्थात् यह एक प्रकार की सामाजिक विरासत है।

अमूर्त स्वरूप सापेक्षिक अवधारणा, अभौतिक संस्कृति, धीमी गति, सामाजिक विरासत के रूप में, स्थायित्व प्रदान करने व व्यवहार नियंत्रण जैसी सम्पूर्ण विशेषताओं को परम्पराओं में देख जा सकता है। एस० सी० दुबे के परम्परा संबंधी विचारों को निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है—

पृष्ठभूमि (Background)- द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पुराने उपनिवेशों के स्थान पर धीरे-धीरे नव स्वाधीन राष्ट्रों के उदय ने अपने देशों के विकास हेतु नियोजित आर्थिक विकास का रास्ता अपनाया और अपेक्षित परिणाम या लाभ न होने की स्थिति में परम्पराओं को उसका दोषी ठहराया। इन परिस्थितियों में लम्बे समय से चले आ रहे सांस्थानिक ढाँचे, अभिवृत्तियों एवं मूल्यों को बदलने की मांग की जाने लगी। जबकि देखा जाए तो इन परिवर्तनों से जहाँ विकास का समूचा एजेण्डा अस्त-व्यस्त हो सकता था, वहीं नियोजन प्रबंधन, संचार नीति के दोषों से विकास की गति अवरुद्ध हो सकती थी। इस प्रकार समसामयिक संवाद में परम्परा केन्द्रीय बिन्दु बन गयी और संस्कृति की पुर्नरचना, राजनीतिकरण और सैनिकीकरण व्यवस्था के लिए गम्भीर प्रश्न व भविष्य के लिए चुनौती बनने लगे। जैसा कि ऊपर चर्चा की गयी है कि दुबे जी ने लिखा है—“शाब्दिक अर्थ में ऐसे विचार, प्रथाएँ व्यवहार, जीवन मूल्य और सांस्थानिक रूप जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिए जाते हैं। परम्परा की परिधि में आते हैं।”

दुबे के अनुसार परम्परा मात्र इन तत्वों का संकलन नहीं है, बल्कि एकीकरण और समाकलन की प्रक्रिया द्वारा यह संगठित होकर आन्तरिक संबंधों को विकसित कर एक स्वतंत्र छवि के रूप में हमारे सामने आती है। अपने लेख ‘परम्परा कुछ विचार कुछ प्रश्न’ में आपने लिखा है—“किसी भी समाज की जड़ें अतीत में होती हैं। परन्तु वह समाज वर्तमान में जीता है और भविष्य की चिन्ता और प्रावधान करता है। परम्पराएँ अतीत को वर्तमान, वर्तमान को अतीत से जोड़ती हैं। उसके माध्यम जीवन को निरन्तरता मिलती है और उसका स्वरूप निर्धारित होता है।

5.7 परम्परा की विशेषताएँ (characteristics of Traditions)

परम्पराएँ अभौतिक संस्कृति के रूप में स्वभाविक रूप से विकसित होकर व्यक्ति के व्यवहार व आचरण को निर्धारित व नियंत्रित करती हैं। दुबे जी ने इसमें व्याप्त विशेषताओं की चर्चा निम्नवत् की है—

1—परम्परा व संस्कृति शब्द समान नहीं हैं—संस्कृति अत्यधिक व्यापक एवं विस्तृत अवधारणा है। परम्पराएँ किसी भी संस्कृति के निर्माण में आवश्यक हैं, किन्तु इससे ही पूरी संस्कृति को नहीं समझा जा सकता। दुबे का मानना था कि संस्कृति की जटिल रचना को भली-भाँति समझने के लिए बहुमुखी अध्ययन आवश्यक है। संस्कृति क्षेत्र के अध्ययन से हमें उसके विस्तार एवं व्यापकता का बोझ होता है, जबकि परम्पराएँ संस्कृति की धारणाएँ होती हैं। अतः दोनों को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता।

2—परम्पराएँ जाति स्मृति का अंग होती हैं—परम्पराएँ जातीय स्मृति का अंग होने के पश्चात् भी इनका चयन समाज स्वयं जीवन के बदलते संदर्भों और तात्कालिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करता है। विशेष परिस्थितियों में प्राचीन परम्पराओं को भुलाकर नयी परम्पराएँ भी गढ़ी जाती हैं।

3—परम्पराओं में अन्तर होता है—परम्परा एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। लेकिन इनमें अन्तर परिलक्षित होता है और ये अन्तर छोटे-छोटे कबीलों में भी स्थान, गोत्र, वंश आधार पर देखा जा सकता है। संश्लिष्ट व जटिल संरचना की संस्कृतियों में परम्पराओं के भेद और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं भारत के अधिकांश भागों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के साथ मातृसत्तात्मक बहुपति विवाह के साथ बहुपत्नी विवाह परम्परा भी पायी जाती है। दुबे का मानना है कि वैचारिक परम्पराएँ जितनी विस्तृत होंगी, वैचारिक संस्कृति उतनी ही समृद्ध होगी।

4—परम्परा गत्यात्मक व परिवर्तनशील होती है—परम्पराएँ सामाजिक विकास एवं ह्रास से संबद्ध रहती हैं एवं इन प्रक्रियाओं से उनपके स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। भिन्न परम्पराओं में आदान प्रदान होता है। परम्पराएँ स्वयं भी समय—समय पर अपना मूल्यांकन कर अपनी दिशा बदलती हैं। परम्परा की इस आन्तरिक गतिशीलता को स्वीकार किये बिना न उसके स्वरूप को न ही उसकी भूमिका को समझा जा सकता है।

5—परम्पराएँ मिथक होती हैं न इतिहास—परम्परा में मिथक व इतिहास दोनों के तत्व घुले—मिले होते हैं। अनुभवजन्य तथ्य भी इसके स्वरूप को प्रभावित करते हैं। और अत्यंत रहस्यमयता इसके स्वरूप को विकृत कर देती हैं।

6—सामाजिक उर्जा के सशक्त स्रोत के रूप में परम्पराएँ—परम्पराएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करती हैं तथा आचरण का निर्धारण भी। व्यक्ति इन परम्पराओं के साथ—साथ विवेक व दूसरों के विचार संप्रेषण को भी व्यवहार में सम्मिलित करता है। अलग—अलग समाजों में इन निर्देशों को अनुपात भिन्न—भिन्न हो सकता है।

परम्पराएँ बाह्य दबाव व शक्ति प्रयोग द्वारा बदली गयी परम्पराओं को आन्तरिक रूप से स्वीकार करना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में परम्पराएँ भारतीय अस्मिता से जुड़ जाती हैं।

5.8 भारतीय परम्परा की विभिन्न धाराएँ

राबर्ट रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर 'वृहद एवं लघु' परम्पराओं को अवधारणाओं और मैकिम मैरिएट की लोक व्यापीकरण और स्थानीकीकरण की प्रक्रियाओं पर विचार करने के पश्चात् भारतीय परम्परा की धाराओं हेतु दुबे जी ने भारतीय परम्परा की की धाराओं हेतु अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये। जिसे समझने के लिए पहले संक्षिप्त रूप 'वृहद—लघु परम्परा' व स्थानीकीकरण और लोकव्यापीकरण को संक्षेप में चर्चा करनी आवश्यक है।

लघु परम्परा— लघु परम्परा का एक स्थानीय क्षेत्र होता है, अर्थात् एक छोटे क्षेत्र के अंदर जो विश्वास धीरे—धीरे विकसित होते हैं। उन्हें धीरे—धीरे धार्मिक कृत्य का रूप मिल जाता है और यही विश्वास और धार्मिक कृत्य लघु परम्परा का स्वरूप धारण कर लेते हैं। रेडफील्ड ने लिखा है—“सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन से संबंधित यदि किसी परम्परा का मूल धर्मग्रंथों से कोई संबंध न हो, वह परम्परा एक छोटे क्षेत्र में प्रचलित हो तथा अधिकांश व्यक्ति उसके अर्थ को न समझते हों, तब ऐसी परम्परा को हम लघु परम्परा कहते हैं।”

वृहद परम्परा— जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है कि वृहद परम्पराएँ अधिक विस्तृत, प्राचीन मौलिक धर्मग्रंथों से संबंधित चिन्तनशील अभिजात वर्ग से संबद्ध, व्यवस्थित तथा शास्त्रीय विषय वस्तु पर आधारित होती हैं। मैकिम मैरियट ने लिखा है—“यदि कोई परम्परा प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में बताये गये व्यवहारों के अनुरूप होती है तथा उसका प्रसार सम्पूर्ण समाज में होता है तो उसे वृहद परम्परा कहते हैं।”

एस0 सी0 दुबे का विचार है कि वृहद परम्पराओं का तात्पर्य विश्वासों, कर्मकाण्डों तथा सामाजिक प्रतिमानों की उस संयुक्तता से समझा जाता है जो नियमबद्ध व पवित्र ग्रंथों से संबद्ध है।”

स्थानीयकरण (Parochialization)—कोई भी वह प्रक्रिया जो समूह की भावना को संकीर्ण बनाती हैं, अथवा समूह में ग्रामों की स्थानीय विशेषताओं को उत्पन्न करती हैं और जिसमें स्थानीय धार्मिक विश्वासों को विशेष महत्व होता है। वह स्थानीयकरण कहलाती हैं।

सर्वव्यापीकरण (Universalization)—मैकिम मैरिएट के अनुसार—“सर्वव्यापीकरण की प्रक्रिया का तात्पर्य वृहद् परम्परा का उन तत्वों में निर्मित होना है। जो छोटी परम्पराओं में पहले से ही विद्यमान होती हैं और जिनसे वृहद् परम्पराएँ आच्छादित रहती हैं।

उपरोक्त तथ्यों का अवलोकन करने के पश्चात् दूबे द्वारा भारतीय परम्परा की विभिन्न धाराओं को सरलता से समझा जा सकता है। जो निम्नवत् है—

एस० सी० दुबे का मानना था कि परम्पराओं के प्रति लगाव सार्वदेशिक व सार्वकालिक है। इसकी पुष्टि उन्होंने पाँच धाराओं में वर्गीकृत कर की है।

1—देशजीकरण एवं परम्पराएँ—डॉ० दुबे के अनुसार इसके अन्तर्गत बाध्य सांस्कृतिक तत्वों, प्रथाओं और मूल्यों का उन्मूलन किया जाता है। परम्परा अपने मूल रूप को कैसे प्राप्त कर पाए इसके लिए प्रयास किया जाता है। जिसे अंग्रेजी में मिलनेरिज्म (milnerism) या विभाविष्यवाद कहा जाता है। इसमें दो तत्वों की प्रधानता होती है—

अ—अदेशज जो बाहरी हो ऐसे तत्वों का विनाश।

ब—एक नये युग—पुरुष या मसीहा की प्रतीक्षा।

यह विश्वास किया जाता है यह मसीहा या युग पुरुष देशज व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए सुख समृद्धि के द्वापर खोल देगा और ऐसे तत्वों का विनाश करेगा, जो अदेशज हों। यह प्रक्रिया विभिन्न समाजों व युगों से चली आ रही है। जो पुनरुत्थानवाद की प्रकृति को जन्म देती है। इसमें प्रयत्न किया जाता है कि परम्परागत मूल्य, व्यवहार, प्रकार और सामाजिक गठन के रूप पुनः प्रतिष्ठित किये जायें, जिससे समाज को उसकी खोई हुई गरिमा पुनः प्राप्त हो सके।

2—जीवनीकरण एवं परम्पराएँ—इसके अन्तर्गत परम्परा को एक नवीन जीवन शक्ति प्रदान करने के लिए बाध्य सांस्कृतिक तत्वों का स्वागत किया जाता है। दुबे के अनुसार—यदि देखा जाए तो संसार के प्रत्येक समाज द्वारा पर सांस्कृतिक प्रभाव प्रत्यक्ष—अप्रत्यक्ष रूप में थोड़ा या अधिक मात्रा में ग्रहण किये गये हैं। लेकिन कुछ समाजों ने सजग रूप से प्रयत्नपूर्वक उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ जापान, जहाँ नये तत्वों का चयन समाज स्वयं करता है।

3—पुनर्व्याख्या एवं परम्पराएँ—इसमें नए तत्वों को पुराने व पुराने तत्वों के नए ढाँचे में परखकर, उन्हें न्यायसंगत ठहराने का प्रयास किया जाता है। नाभिकीय विस्फोटों को ब्रह्म अस्त्र या अग्नि अस्त्र के समकक्ष समझना इस प्रवृत्ति का उदाहरण है।

4—जातीय भावना एवं परम्पराएँ—इसकी प्रेरणा, प्रजाति, भाषा, धर्म या संस्कृति या इनमें से किन्हीं दो तत्वों के मिले जुले योग से होती हैं। पिछले दो दशकों में इसका जबरदस्त राजनीतिकरण हुआ है। जातीय भावना की इस पृष्ठभूमि में परम्परा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

5—मूल तत्वों की ओर वापसी एवं परम्पराएँ—परम्परा धार्मिक भावना के साथ मिलकर इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध, सिख और अपने आप को सहिष्णु कहे जाने वाले हिन्दू धर्म में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः इस प्रवृत्ति के संबंध में सकारात्मक—नकारात्मक दोनों ही पक्ष हैं।

परम्परा विषय डॉ० दुबे के विचारों की चर्चा के पश्चात आधुनिकता पर उनके विचारों पर प्रकाश डालेंगे—

प्रो० दुबे के अनुसार—“मानव की स्थिति और नियति के बारे में वर्तमान में प्रचलित बहस में आधुनिकीकरण व विकास प्रमुख हैं। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में मानसिक अभिवृत्तियों तथा संस्थागत संरचनाएँ मूल तत्व होती हैं। जिसमें समाज के स्तर में होने वाली बदलाव की एक श्रृंखला छिपी होती है। यहाँ दुबे के आधुनिकीकरण की चर्चा को विस्तार से समझने का प्रयास किया जायेगा।

आधुनिकीकरण को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न—भिन्न रूपों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। लेकिन सभी विचार इस बात पर केन्द्रित हैं कि आधुनिकीकरण का संबंध वैज्ञानिक मूल्यों से है। यह किसी समाज व संस्कृति के घेरे में बंद नहीं है।

आधुनिकीकरण को व्यक्ति, समूह, समाज, राजनीति, शिक्षा, प्रौद्योगिकी, प्रशासन इत्यादि आधधारों में देखा जा सकता है।

5.9 आधुनिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

आधुनिकीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है। जिसके अन्तर्गत शिक्षा ज्ञान, विज्ञान प्रौद्योगिकीय आदि का विकास किया जाता है। जहाँ यंत्रिकरण, विशाल उद्योगों की स्थापना, ज्ञान, विज्ञान का प्रसार तथा आर्थिक प्रगति इसका भौतिक पक्ष है, वहीं नैतिक व साँस्कृतिक कोण से ये विशिष्ट मान्यताओं व आदर्शों का परिचायक है। अतः आधुनिकीकरण दूसरे के विचार और दृष्टिकोण को सहानुभूतिपूर्वक समझने के भाव तथा अपना विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता का विकास करता है।

विद्वानों द्वारा आधुनिकीकरण की परिभाषाओं को जानने का प्रयास निम्नवत् किया जायेगा—

आइजेनस्टॉट एस० एन० (Eisenstand S.N.)- ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में उन प्रकारों की दिशा में परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में विकसित हुए हैं और उसके पश्चात् जिनका विस्तार यूरोपीय देशों में 19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में दक्षिणी अमेरिका, एशिया, अफ्रिका के महाद्वीपों में हुआ है।”

लर्नर डी० (Lerner D.)—“आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का संबंध उन दशकों के निर्माण से है जिनमें कोई समाज व्यक्तिगत क्रियाओं और संस्थागत संरचना की दृष्टि से विभेदीकृत हो जाता है और उनमें विशेषीकरण बढ़ जाता है।

श्रीनिवास एम० एन (M.N.Srinivas)— अंग्रेजी राज्य के फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को आधुनिकीकरण से संबोधित किया जाता है। यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाएं विचारधारा और मूल्य आदि स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों को आत्मसात् करता है।”

दुबे, एस0सी0 (Dube S.C.) आधुनिकीकरण के फलस्वरूप व्यक्तियों में तक, परानुभूति, गतिशीलता एवं सहभागिता बढ़ती है।”

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसके आदर्श पश्चिमी देश एवं उनमें होने वाले परिवर्तन रहे हैं।”

आधुनिकीकरण की विशेषताएँ (characteristics of Modernization)

आधुनिकीकरण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् हैं—

1. वैज्ञानिक मिजाज (Scientific Temper)
2. तर्क एवं बुद्धिवाद (Reason and Rationalism)
3. वैयक्तिक विश्वास एवं धर्मनिरपेक्षता (Individual belief and secularism)
4. उच्च आकांक्षा एवं उपलब्धि (High Aspirations and achievement orientation)
5. साधारण समाज की आधारभूत मनोवृत्ति, मानदण्डों एवं मूल्यों में परिवर्तन (change in basic allitudes, norms and values of simple Society)
6. नयी प्रकार्यात्मक संस्थओं का गठन (functional Institutions)
7. मानव संसाधनों गुणात्मक वृद्धि में पूंजी निवेश (Investment in human resources)
8. विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था (Growth Oriented Economy)
9. राष्ट्रहित
10. समाज का खुलापन (Openness in society)
11. व्यक्तित्व में गतिशीलता (Mobility in Personality)

5.10 आधुनिकीकरण के प्रमुख पांच आयाम

(Main five Dimensions of Modernization)

- 1- प्रौद्योगिकी (Technology)
- 2- आर्थिक (Economic)
3. राजनीतिक (Political)
- 4- सामाजिक (Social)
5. मनोवैज्ञानिक (Psychological)

5.11 आधुनिकीकरण के कारण (factors of Modernization)

1. शिक्षा (Education)
2. संचार (Communication)
3. राष्ट्रीय विचारधारा (Nationalistic ideology)
4. करिश्माई नेतृत्व (Charismatic leadership)
5. अवपीड़क सरकारी प्राधिकार (Coercive Governmental authority)

उपरोक्त आधुनिकीकरण विषय में संक्षिप्त जानकारी के पश्चात् प्रो० श्यामाचरण दुबे द्वारा प्रतिपादित आधुनिकीकरण की चर्चा की जायेगी—

5.12 आधुनिकीकरण के संबंध में श्यामाचरण दुबे के विचार

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् तृतीय युद्ध के देशों द्वारा अपने देश में विकास प्रक्रिया प्रारम्भ करने के लिए नीति निर्माण का कार्य शुरू किया गया। इन देशों के लिए यूरोपीय व अमेरिका जैसे आर्थिक रूप से सम्पन्न किया गया। इन देशों के लिए यूरोपीय व अमेरिका जैसे आर्थिक रूप से सम्पन्न देश एक संदर्भ समूह के रूप में कार्य कर रहे थे। आधिक विकसित देशों में पारस्परिक लाभ देने वाले संबंधों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सीमित सहयोग के लिए हाथ बढ़ाने का निर्णय लिया गया। शोधकर्ताओं द्वारा विकास कार्यक्रमों के स्वरूप व संचालन के निर्माण के लिए आकर्षक प्रारूप निर्मित था, जो एक महत्वपूर्ण संभावना वाले मॉडल के रूप में स्वीकार किया गया।

यद्यपि यह मॉडल पश्चिमी देशों की नीतियों के अनुकरण पर आधारित था, फिर भी तृतीय दुनियाँ के देश अपने देशज मूल्यों, जीवन शैली व सांस्कृतिक सम्पदा से समझौता करने के पक्ष में नहीं थे। जिसके कारण पश्चिमी देशों का आदर्श स्वीकारना उनके लिए कठिन था। डॉ० दुबे का मानना था कि आधुनिकीकरण का विचार इन देशों की सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना के लिए घातक नहीं था।

दुबे ने 'आधुनिकीकरण पर पुनर्विचार' में लिखा है—“यह व्यवस्था एक तार्किक और वैज्ञानिक विश्वदृष्टि, आर्थिक वृद्धि तथा विज्ञान और तकनीकी के अधिकाधिक उपयोग पर आधारित है। नयी विश्वदृष्टि की आवश्यकता और उभरते हुए तकनीकी समाज के साथ निरंतरा अनुकूलन भी अनिवार्य शर्त है।”

दुबे के अनुसार—“आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में मानसिक अभिवृत्तियाँ तथा संस्थागत संस्थाएँ मूल तत्व होती हैं, तथा समाज के स्तर पर होने वाले बदलाव की एक श्रृंखला छिपी हुई होती है। पारम्परिक कृषि समाज में आरोपित, अनन्य और विकर्ण स्वरूप की प्रधानता होती है। उनके सुस्थिर व स्थानीय समूह होते हैं और अपने गाँव या क्षेत्र से बाहर सीमित गतिशीलता होती है। व्यवसाय का वर्गीकरण अपेक्षाकृत सरल और सुस्थिर होता है। तथा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था आस्था प्रधान होती है। जिसका प्रभाव बड़ा विस्तृत होता है।

प्रो० दुबे का मानना है कि भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में केवल लघु व वृहद परम्पराओं के आधार पर ही परम्पराओं को नहीं समझा जा सकता, बल्कि परम्पराओं को निम्नलिखित छः भागों में वर्गीकृत किया गया है।

- 1—शास्त्रीय परम्परा
- 2—राष्ट्रीय अविर्भावी परम्परा
- 3—क्षेत्रीय परम्परा
- 4—स्थानीय परम्परा
- 5—पश्चिमी देशों की परम्परा
- 6—सामाजिक समूह की स्थानीय उपसंस्कृति की परम्परा

उपरोक्त वर्गीकरण में जहाँ प्रो० दुबे ने प्राचीन समय से चली आ रही शास्त्री परम्पराओं का उल्लेख किया है। वहीं स्वतंत्रता आन्दोलन के समय राष्ट्रभावना जाग्रत करने वाली राष्ट्रीय परम्परा के वर्णन को भी व्यक्त किया है। विभिन्नता को प्रांतीय परम्परा के अन्तर्गत रखा ब्रिटिश शासन काल के दौर में यहाँ की जीवनशैली में पाश्चात्य परम्पराओं का प्रभाव दिखायी देने लगा। स्थानीय परम्परा के अंतर्गत छोटे-छोटे अनेकों उपसमूहों की पृथक अस्तित्व को स्वीकार किया।

प्रो० दुबे के अनुसार आधुनिकीकरण की मूल तीन स्थापनाएँ हैं—

1—मानव समस्याओं के समाधान और जीवन स्तर के निम्नवत् स्वीकार्य स्तर को बनाये रखने के लिए ऊर्जा के संसाधनों को अधिकाधिक दोहन जिसकी ऊपरी सीमा क्रमशः ऊपर उठेगी।

2—लक्ष्य की दिशा में वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही प्रकार के प्रयास आवश्यक हैं। सामूहिक सहयोग ही जटिल संगठनों को आधुनिकीकरण के मध्यम व उच्च स्तर तक पहुँचा सकता है।

3—जटिल संगठनों के निर्माण और संचालक के लिए क्रांतिकारी व्यक्ति परिवर्तन और सामाजिक संरचना तथा मूल्यों में परिवर्तन आवश्यक है।

5.13 आधुनिकृत व्यक्तित्व की विशेषताएँ

दुबे मानते हैं कि व्यक्तित्व स्तर पर आधुनिकीकरण, गतिशीलता और उच्च सहभागिता निहित है तथा लर्नर द्वारा प्रतिपादित परानुभूति, गतिशीलता तथा उच्च सहभागिता को भी उनके द्वारा आधुनिकृत व्यक्तित्व की विशेषताओं में निम्नवत् शामिल कर स्पष्ट किया गया है।

1. **तार्किक विचार की क्षमता**— तार्किकता व्यक्ति कते सोचने विचारने की प्रक्रिया में बदलाव लाती है। घटनाएँ व प्रक्रियाएँ कार्य और करण के रूप में समझी जाती हैं, जो लक्ष्य केन्द्रित होती हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिथ्या व कल्पना को नकारता है। यह बदलाव व्यक्ति की सोच से ऊपर संस्थाओं की क्रिया प्रणाली में भी देखा जा सकता है जो समाज को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने के तरीकों को निर्धारित करता है।
2. **परानुभूति**— आधुनिकीकृत व्यक्ति इस बात को ध्यान में रखते हुए कि समाज के अन्य व्यक्ति समाज में घटित घटनाओं और परिस्थितियों के बारे में किस तरह का प्रत्यक्षीकरण कर रहे हैं। अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। अर्थात् परानुभूति का तात्पर्य दूसरों की दृष्टि में स्थितियों को देखने की क्षमता से है।
3. **गतिशीलता**— आधुनिकीकृत समाज में एक खुली पदव्यवस्था होती है। जिससे अनुकूलन के लिए व्यक्ति में एक पद से दूसरे पद और संबंधित भूमिकाओं के अपनाने की क्षमता होनी चाहिए। गतिशीलता के अभाव में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बाधक होती है। अतः सामाजिक परिवर्तन के लिए मानसिक गतिशीलता आवश्यक है।
4. **उच्च स्तरीय सहभागिता**—परम्परागत सामाजिक ढांचे में परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि उन्हें स्वीकार करने व उनका उल्लंघन न करने के लिए व्यक्ति बाध्य था। लेकिन आधुनिक समाज में व्यक्ति सक्रिय और सहभागी होकर सामाजिक संस्कारों से जुड़ जाता है। निर्णय की

प्रक्रिया में भागीदार होता है, और लक्ष्य तक पहुँचने से जुड़े कार्यों में सक्रिय सहभागिता का निर्वाह करता है।

प्रो० दुबे ने अपनी पुस्तक 'विकास का समाजशास्त्र' में आधुनिकता के लिए निम्न आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डाला है—

1. उपलब्धि की प्रेरणा
2. संघर्ष की क्षमता
3. असन्तोष का मुखर होना
4. मानवीय क्षमता में विकास होना
5. जोखिम उठाने की नयी अभिवृत्ति का विकास
6. आधुनिकता का कल्याण और समृद्धि के साथ जुड़ाव
7. परिश्रम की प्रवृत्ति
8. साक्षरता की उच्च दर
9. परम्परागत ढाँचे की खामियों को स्वीकारा जाना
10. निवेश की प्रवृत्ति
11. जनसंचार माध्यमों का विकसित ढाँचा।

5.14 आधुनिकता के लक्षण

प्रो० दुबे ने आधुनिकता के लक्षणों पर प्रकाश डालने के लिए पारसंस के प्रतिमान चर का उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने माना है कि आधुनिकीकरण पारसन्स के तीन प्रतिमान चरों में परिवर्तन लाता है जो इस प्रकार हैं।

अ—आरोपित मापदण्ड के स्थान पर उपलब्धि के आधार पर प्रस्थिति निर्धारित होती है।

ब—अन्तःक्रिया का स्वरूप विशिष्ट मानकों के स्थान पर सार्वभौमिक मानकों द्वारा नियमित होता है।

स—व्यक्ति की भूमिकाएँ व कर्तव्य व कर्तव्य अधिक विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार दुबे के अनुसार आधुनिक समाज बोध की दृष्टि से विशिष्ट प्रकार्यों वाला, भावनात्मक दृष्टि से तटस्थ, लक्ष्य की दृष्टि से व्यक्ति केन्द्रित तथा स्तरीकरण की दृष्टि से श्रम विभाजित होता है। इसके साथ ही राजनैतिक आयाम में भी परिवर्तन आते हैं। सशक्त हित समूह बनते हैं और राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता संस्थागत रूप ले लेती हैं।

जटिल संगठनों की एक अपेक्षाकृत विशिष्ट, आत्मनिर्भर प्रकार्यात्मक स्वरूप श्रृंखला प्रभावी होती है। यह नए ज्ञान की खोज, मानव परिस्थितियाँ एवं समस्याओं के लिए उसका उपयोग, नयी परिस्थितियों एवं समस्याओं के लिए प्राचीन ज्ञान का अनुकूलन, संसाधनों का संचालन और विभाजन, परिवर्तन का प्रबंध, आपदा समाधान, उपयुक्त पूंजी निर्माण तथा प्रशासनिक व कानूनी संरचना का निर्माण एवं महत्वपूर्ण दिशा निर्देशों के निर्माण आदि में परिलक्षित होती है।

5.15 आधुनिकीकरण की बाधाएँ व अवरोध

दुबे मानते हैं कि जब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ तभी से अवरोध उत्पन्न होने लगे। जिसमें परम्परा, अकुशल, नियोजन, कुप्रबन्ध इसकी प्रगति में बाधा डाल सकते हैं। बाद के अनुभव में इन पूर्वाभासों की पुष्टि की गयी। परिणामों के अभाव ने व्यापक जनसमुदाय में विरक्ति व आक्रोश को जन्म दिया। अतः उन क्रियाओं पर ध्यान दिया जाने लगा, जो आधुनिकीकरण के लिए बाधा उत्पन्न कर रही थी। वे निम्नवत् हैं—

1. **संस्थागत बाधाएँ**— इस प्रक्रिया के अन्तर्गत इस आधार पर परम्परागत ढांचों में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया गया कि परम्परागत ढांचे आधुनिकीकरण के साथ स्वयं अनुकूलन कर लेंगे। इसके लिए किसी प्रकार की दिशा निर्देश की व्यवस्था न होने के कारण शिक्षा, जनसंचार व परिवहन जैसी सुविधाओं का विकास नहीं हो पाया। नेतृत्व व नौकरशाही दोनों ही विकास की प्रक्रिया की जटिलता को पूर्णतया समझ पाने में समर्थ रही।
2. **वैचारिक बाधाएँ**—उपनिवेश व साम्राज्य विरोधी संघर्षों ने तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर सके। विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ राष्ट्रवादी भावना ने अनेक विभाजन शील प्रवृत्तियों को अस्थायी रूप से दबा दिया था। स्वतंत्रता मिलने के बाद जातीय, भाषिक, क्षेत्रीय और धार्मिक आदि ने राष्ट्रीय एकता को कमजोर करने को कार्य किया, जिससे विकास की वैचारिक प्रेरणा में कमी आने लगी।
3. **प्रेरणादायक बाधाएँ**—आम जनता में इस प्रक्रिया में भागीदारी के लिए प्रेरणा का टीाव था। वे सोचते थे कि समाज बदलना चाहिए और बदला जा सकता है तथा इस प्रकार परिवर्तन वांछित और आवश्यक है। लेकिन यह विचार सफल होता नहीं दिखायी पड़ा। दृढ़ स्वीकृति और जोरदार कार्यान्वयन के अभाव में अनियमितता एवं संकीर्ण प्रवृत्तियाँ पनपीं। इस प्रवृत्ति ने आर्थिक विकास के राष्ट्रीय प्रयासों से जो कुछ भी थोड़ी बहुत उपलब्धि प्राप्त की गयी। उसे अंशतः व्यर्थ कर दिया।
4. **संगठनात्मक बाधाएँ**—तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में स्थानीय और राष्ट्रीय राजनैतिक प्रक्रियाएँ असंगठित, प्रशासनिक ढांचा पंगु रहा है। व्यवस्था की आवश्यकता के कारण नए राजनैतिक अभिजात वर्ग के अविचरित निर्देशों ने व्यवहारिक नियमों को शिथिल कर दिया। प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव, नियोजन व संचार के क्षेत्र की खामियों ने भी अवरोध उत्पन्न किया। विकास कार्यक्रमों में स्थानीय व क्षेत्रीय वरीयता के कोई मानक नहीं थे। अतः संगठनात्मक बाधाओं का जन्म होने लगा। यही कारण था कि उत्साह के साथ प्रारम्भ इस प्रक्रिया का 1970 के मध्य तक आते-आते आकर्षण समाप्त होने लगा।
5. **अस्पष्टताएँ एवं अनुपयुक्तता**— आधुनिकीकरण के मानवीय आयाम अस्पष्ट हैं। इसमें जीवन की गुणवत्ता, सामाजिक न्याय, समानता जैसे आयामों की कमी के कारण यह गरीब देश के स्वस्थ विकास की परिकल्पना से दूर है। इसमें परम्पराओं की भी अस्पष्ट व्याख्या की गयी है। दुबे के अनुसार—‘परम्पराएँ अल्पविकसित देशों में विभिन्न अवयव विभिन्न प्रकार्यों के लिए उपयोगी होने के कारण जीवित हैं। जब तक आधुनिकीकरण की आवश्यकताओं के अनुरूप कोई प्रकार्यात्मक ढाँचा उसका स्थान लेने के लिए तैयार न हो, परम्परा की समाप्ति एक शून्यता को जन्म देगी।’

इसके अतिरिक्त पर्यावरण असन्तुलन एक महत्वपूर्ण अवरोधक है। जिससे धरती की सतह, भूमि, जल, जंगल, जमीन, जलवायु प्रदूषण सभी परिस्थिति की अविवेकीपूर्ण आधुनिकीकरण की ही परिणति है।

उपरोक्त आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं में उत्पन्न बाधाओं पर प्रकाश डालने के उपरांत प्रो० एस०सी०दुबे के विकास संबंधी अवधारणा पर चर्चा की जाएगी—

5.16 विकास का अर्थ परिभाषा एवं विशेषताएँ

किसी अपेक्षित दिशा में होने वाले परिवर्तन को विकास कहा जाता है। यह परिवर्तन की उस गति को दर्शाता है। जिसमें एक अवस्था दूसरी अवस्था का स्थान लेती हुई अपेक्षित दिशा में आगे बढ़ती जाती है। इसमें एक के बाद दूसरी नयी अवस्थाएँ सामने आती जाती हैं। अतः अपेक्षित दिशा में नियोजित परिवर्तन को ही विकास कहते हैं।

विकास का क्षेत्र सामाजिक व आर्थिक भी हो सकता है। सामाजिक विकास का तात्पर्य सामाजिक जीवन में विकास की प्रक्रिया की क्रियाशीलता से है। यद्यपि आर्थिक विकास का भी प्रभाव सामाजिक विकास पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः विकास को परिवर्तन के तीसरे प्रमुख प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाता है।

बी०एस० डिसूजा (B. S. D-souza) के अनुसार— “सामाजिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा तुलनात्मक रूप से एक सरल समाज विकसित समाज के रूप में बदल सकता है।”

बॉटोमोर (T. B. Batomore) के अनुसार—“साधारणतया विकास शब्द का प्रयोग हम ‘उन्नति’ के अर्थ में अथवा किसी वस्तु की ‘अधिकतम जानकारी’ प्राप्त करने के अर्थ में करते हैं।”

सैमुएल्सन (P.A.Samualson)- विकास से संबंधित सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः आर्थिक वृद्धि से ही संबंधित है।”

5.17 विकास की विशेषताएँ

विकास की विभिन्न विशेषताओं का विद्वानों द्वारा उल्लेख किया गया है। विद्यार्थियों की जानकारी हेतु यह निम्नवत् हैं—

1. विकास आर्थिक व प्रौद्योगिकीय में होने वाला परिवर्तन है जो भौतिक पर्यावरण को नियंत्रित करने में मानव बढ़ती हुई क्षमता को स्पष्ट करता है।
2. विकास सार्वभौमिक अवधारणा है।
3. विकास के मुख्य आधार में आर्थिक तथा प्रौद्योगिक व गौण आधार में सामाजिक—सांस्कृतिक परिवर्तन को शामिल किया जाता है।
4. विकास अवैयक्तिक संबंधों पर निरंतर वृद्धि करता है।

5. विकास में गतिशीलता पायी जाती है।
6. विकास श्रम विभाजन, विशेषीकरण, शिक्षा में वृद्धि एवं धार्मिक मान्यताओं, परम्परागत मूल्यों को शिथिल करता है।

उपरोक्त विवेचना के पश्चात् दुबे विकास संबंधी अवधारणा की चर्चा करेंगे—

5.18 विकास पर दुबे के विचार (Dube view on Development)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद देशों के विकासहेतु विकास की नीति अपनायी गयी। उस समय विकास को राष्ट्र की स्थित अर्थव्यवस्था को सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि को बनाए रखने के रूप में देखा जाता था, लेकिन दुबे ने मात्र आर्थिक आधार पर विकास को परिभाषित करना उचित नहीं माना। उनका विचार था कि देश के विकास के लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। लेकिन यदि उसे सुस्पष्ट सामाजिक लक्ष्यों से नहीं जोड़ा जायेगा। यह अपने उद्देश्य में कभी सफल नहीं हो सकता। विकास की अवधारणा को जापान की तरह हमें भी सम्पूर्ण राष्ट्रीय कल्याण के आधार पर सोचना होगा।' उनके अनुसार नए उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है—

1. जीवन की गुणवत्ता के आधार पर सामाजिक लक्ष्यों की पुनः परिभाषा।
2. सामाजिक प्रवृत्तियों का निर्धारण और सामाजिक प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए संकेतों का प्रतिपादन।
3. नये सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु नुर्नवितरणात्मक संस्थात्मक संरचना का निर्माण।
4. लक्ष्यों की शीघ्र प्राप्ति हेतु संगठनात्मक मूल्य संबंधी परिवर्तन के लिए व्यापक नीति का विकास।

5.19 विकास के सिद्धान्त (theory of Deveolopment)

‘विकास के पुनर्विचार’ नामक अपने लेख में दुबे ने विभिन्न चिंतकों के विचारों को स्पष्ट किया है। दुबे के अनुसार—‘प्रारम्भिक चिंतकों में विकास का तात्पर्य केवल एक स्थिर और मन्द अर्थव्यवस्था में 5 से 7 प्रतिशत की दर से सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वार्षिक वृद्धि करने व उसको बनाये रखने की क्षमता के होने से था।

1—विकास का डब्ल्यू आर्थर लेविस मॉडल— इस सिद्धान्त द्वारा लेविस ने जनसंख्या के आधार पर प्रतिव्यक्ति उत्पादन की वृद्धि को महत्व देते थे, न कि वितरण को वे वितरण के बारे में तभी चिंतित होते थे, जब वृद्धि से उत्पन्न धन पुनः उत्पादक तक नहीं पहुँच पाता। इसकी सीमाएँ परिलक्षित होने के बाद इसके महत्व में कभी अवश्य आयी पर यह समाप्त नहीं हुआ।

2—विकास का कींसियन मॉडल—कींस का मॉडल तीसरी दुनिया में विशेष रूप से प्रभावी था। इसने विकास के कई मॉडलों को बनाने के लिए प्रेरणा दी। इसके मॉडल का केन्द्र बिन्दु उच्च पूंजीवादी बाजार के अर्थतंत्र में संपूर्ण आय और रोजगार का निर्धारण करना था। 1930 में प्रस्तुत यह मॉडल आर्थिक मंदी व बेरोजगारी के कारणों के विश्लेषण के लिए था। कींस के सिद्धान्त का परोक्ष रूप से काफी प्रभाव देखा गया।

3—रोजस्टीन रोडन मॉडल— इसी प्रकार रोजस्टीन रोडन का 'धक्के का सिद्धान्त' आर्थिक विकासक के मुख्य उपाय के रूप में पूँजी निवेश पर बल देता है तथा कीस के विचारों से काफी प्रभावित भी है। हार्शमैन का 'असंतुलित विकास का सिद्धान्त', वाल्टर डब्ल्यू रोस्टोव का 'आर्थिक वृद्धि के चरणों का सिद्धान्त' इसी कोटि में आते हैं।

दुबे उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त माओं व गांधी जी की विकास संबंधित विचारधाराओं का उल्लेख करते हैं दोनों की कार्यशैली अलग थी। जहाँ गाँधी जी अहिंसावादी जबकि माओ मार्क्सवादी अर्थात् अहिंसावादी थे। लेकिन दोनों ही आम आदमी के लिए चिंतित थे। श्रम को महत्व देते थे। आत्मनिर्भरता की वकालत करते थे। निःसंदेह विकास की वैकल्पिक विचारधारा के रूप में दोनों का विशेष महत्व है।

दुबे ने आगे लिखा है कि आर्थिक विकास के बदले सामाजिक विकास का प्रत्यय या सिद्धान्त आर्थिक विकास को स्वयं में समेटे अधिक विस्तृत व व्यापक है। परंतु समस्या यह है कि सामाजिक लक्ष्यों, आदर्शों व सामाजिक विकास को ही ठीक ढंग से परिभाषित नहीं किया गया। इनके अनुसार—किसी भी देश के विकास के आंकलन के लिए सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन (G.N.P) के स्थान पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय कल्याण ;हण्डणूद्ध को पैमाना माना जाना चाहिए।

इसके लिए दुबे जी ने जिन नये लक्ष्यों की अपेक्षाएं की हैं वे इस प्रकार हैं—

- 1—बड़े समुदाय, जिसमें बहुसंख्यक गरीबी सम्मिलित है के विकास पर बलि देने की दिशा में बदलाव।
- 2—मानवीय आवश्यकताओं एवं जीवन की गुणवत्ता में सुधार के आधार पर सामाजिक लक्ष्यों को पुनः परिभाषित करना।
- 3—आर्थिक—सांस्कृतिक लक्ष्यों के पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखकर नियोजन व कार्यान्वयन की शैलियों में परिवर्तन।
- 4—नये सामाजिक लक्ष्यों को पाने के लिए पुनः वितरण की संस्थागत संरचना का निर्माण और संगठनात्मक और मूल्य संबंधी परिवर्तनों को लाने के लिए व्यापक युक्तियां विकसित करना।
- 5—सामाजिक प्रगति के मूल्यांकन और जन्म ले रही नयी प्रवृत्तियों को आंकने के लिए सूचकों का निर्माण।
- 6—वृद्धि के स्तर को बनाए रखने योग्य निगरानी की व्यवस्था।
- 7—वृद्धि से जुड़ी अन्य समस्याओं का पूर्वानुमान तथा उन्हें हल करने की तत्परता।
- 8—वर्तमान सामाजिक संरचनाओं की उपयुक्तता व औचित्य पर पुनर्विचार और पुनः रचना की दिशा में काम करने के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण।

दुबे मानते थे कि किसी समाज के स्वस्थ विकास के लिए निम्न तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। उनके द्वारा बतलाये गये तथ्यों पर निम्नवत् चर्चा की जा रही है—

अ-पर्यावरण का संरक्षण- जहाँ अतिविकसित देश पूंजी व तकनीक के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों की तीव्रता से दोहन कर रहे हैं, वहीं विकासशील देशी भी कम उपभोग स्तर होने के कारण पर्यावरण असन्तुलन के लिए विकसित देशों से जवाब मांग रहे हैं। स्वस्थ विकास के लिए पर्यावरण असन्तुलन व वायुमण्डल प्रदूषण उत्पन्न चुनौतियों के समाधान के लिए नयी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रक्रिया अपेक्षित है।

ब-समानता व न्याय पर आधारित विकास- पूंजी व तकनीक से जहाँ विकसित देश और अधिक विकसित होते जा रहे हैं और विकासशील देश गरीबी का दंभ झेलने को मजबूर हैं, जो विकसित और विकासशील देशों के बीच की दूरी को बढ़ाने का कार्य करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति सेवा निवेश के ऊपर हावी होती जा रही है। नकल की प्रवृत्ति बढ़ने से सामाजिक अन्याय व असमानता में वृद्धि हो रही है। अतः बहुसंख्यकों के श्रम पर अल्पसंख्यकों की पूंजी व तकनीक का हावी होना किसी समाज व देश के स्वास्थ्य विकास के लिए घातक है।

द-आवश्यकता की पूर्ति में सहायक- एस0सी0दूबे के अनुसार- विकासशील देश की गरीबी एक समस्या नहीं, बल्कि परस्पर जुड़ी समस्याओं की एक शृंखला है। अभिजात वर्ग की समाज में निम्नवर्ग के लिए मार्गदर्शन और संदर्भ मॉडल का काम करता है। इस प्रकार गरीबी होने पर भी समाज उपभोगतावाद को बढ़ावा देता है।

य-व्यक्ति मूल्य से सामाजिक मूल्यों की ओर अग्रसारित होने की दशा में- व्यक्तिपरक मूल्य समाजोन्मुख मूल्यों पर आधारित होने चाहिए। एक ऐसा स्वस्थ वातावरण तैयार हो जो वस्तुओं के स्थान पर सेवाओं तथा व्यक्तिगत उपभोग के स्थान पर सामूहिक कल्याण पर बल दे। स्वयं की आवश्यकता से अधिक सामाजिक आवश्यकता, नयी सामाजिक चेतना, आम व व्यवस्थित जीवन शैली पर विश्वास रखे जो न्याय, समानता पर आधारित व पूर्वाग्रहों से मुक्त हो।

र-सतत् विकास- एक विकसित समाज के लिए तात्कालिक लक्ष्यों की अपेक्षा दीर्घकालीन लक्ष्यों का ध्यान, समयबद्ध कार्यक्रमों की नियोजित रूपरेखा तैयार करना तथा मानव समुदाय को सशक्त बनाने के कदमों पर ध्यान देना आवश्यक है। पर्यावरण सुरक्षा, प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग केवल आवश्यकता के लिए तथा समाज को भविष्य की आवश्यकताओं के संदर्भ में आम सहमति के निर्माण तथा समस्या समाधान के उपाय पर सोचना होगा।

ल-अर्थ व कला का समन्वय- दुबे लिखते हैं कि हम मानवीय आवश्यकताओं को आधारभूत प्राणीशास्त्रीय मांगों की संतुष्टि तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। सृजन व सीखने दोनों प्रक्रियाएँ हमारे जैव मनोवैज्ञानिक स्वभाव में निहित होती हैं। हमें आर्थिक विकास की होड़ में परम्परा जैसे अवयवों को नजर अंदाज नहीं करना चाहिए। यह भी ध्यान देना होगा कि परम्परा के अधिक समर्थन देने के कारण हम कहीं सृजनात्मक व नवाचार से जुड़े मूल्यों की उपेक्षा तो नहीं कर रहे हैं। जिस किसी देश ने दोनों अवयवों में से मात्र एक के विकास पर बल दिया, उस देश के विकास में विकृति सामने आयी है।

प्रो0 दुबे के अनुसार समाज क स्वस्थ विकास के लिए पर्यावरण संरक्षण, समानता, न्याय, आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, सतत् विकास, अर्थ व कला का

समन्वय तथा व्यक्ति उन्मुख मूल्यों से समाजोन्मुख मूल्यों को बढ़ावा देना आवश्यक है। इसी आधार पर दुबे जी ने मानवीय तथा जीवन की गुणवत्ताओं की अपेक्षाओं की चर्चा निम्नवत् की है—

1—जीवन—यापन की आवश्यकताएँ— जिसमें पोषाहार, आवास, वस्त्र, परिवेश उपयुक्त जीविका, बीमारी की रोकथाम, उपचार की औषधी, जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा सम्मिलित है।

2—समाज स्तरीय आवश्यकताएँ— इसमें सामुदायिक भावना, द्वन्द के प्रभावशाली समाधान और सहमति के निर्माण के उपाय तथा सामाजिक शासन के मानकों का विकास संलग्न है।

3—सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ— इसके अन्तर्गत निजी स्वतंत्रता, वैयक्तिकता की व्यवस्था, अवकाश और रचनात्मक ढंग से उसके उपयोग का अवसर और उन्नति तथा सर्वोन्मुखी विकास का समान अवसर संलग्न है।

4—कल्याण की आवश्यकताएँ— इसमें दुर्बल वर्ग, विकलांग और असहाय लोगों की सहायता के लिए उपायों को सम्मिलित किया गया है।

5—अनुकूलन की आवश्यकताएँ— इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक वातावरण के साथ सामन्जस्य के उपाय सम्मिलित हैं।

6—प्रगति की आवश्यकताएँ— इनमें समस्याओं के पूर्वानुमान और उनके समाधान की क्षमताओं को बढ़ाना, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शोध में वृद्धि और मानव यांत्रिकी के कौशलों का विकास सम्मिलित है।

प्रो० दुबे का मानना था कि मानवीय तथा जीवन की गुणवत्ता की अपेक्षाएँ उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ही परिपूर्ण हो सकती हैं। अब दुबे जी की परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध निम्नवत् स्पष्ट किया जायेगा—

5.20 परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध

आधुनिकीकरण व विकास, क्रान्तिकारी प्रक्रियाएँ हैं। इनके तकनीकी और सांस्कृतिक परिणाम उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितनी नव लौह क्रान्ति के थे। दोनों की प्रक्रियाएँ बहुआयामी, जटिल, व्यापक, दीर्घकालीन तथा प्रगतिशील प्रक्रियाएँ हैं। प्रारम्भ से ही यह विवाद का विषय रहा है कि वास्तव में परम्पराएँ विशेषकर पारम्परिक सामाजिक संरचना और उससे जुड़ी मूल व्यवस्था विकास व आधुनिकता के लिए अवरोधक है। सामान्यतया विकास के पर्याय आर्थिकी वृद्धि की स्वीकृति के साथ परम्परा को जड़ और विकास को गतिमान मानने की चेतना नीति नियंताओं के मन मस्तिष्क में दृढ़ होती गयी। अपने लेख 'विकास एवं सांस्कृतिक आयाम' में दुबे ने लिखा है— प्रारम्भ में विकासीय सोच में सांस्कृतिक लक्ष्य या साधन के रूप में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। लेकिन 19वीं शताब्दी में उत्पन्न शक्तिशाली सोच ने परम्परा को आधुनिकीकरण में अवरोधक माना, क्योंकि परम्परागत मूल्य तथा संस्थाएँ व परम्परागत समाज का स्वयमेव रेखीय गति से विकास होता रहा है। लेकिन थोड़े से परिवर्तन के साथ पहली विचारधारा मान्य रही।

इस प्रकार आर्थिक प्रगति और विकास को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया और यह भी स्वीकृत किया गया कि यदि संस्कृति और परम्पराएँ उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा डालती हैं। तो परम्पराओं

और सामाजिक संस्थाओं को बदलना होगा विकसित देशों से विकासशील देशों को आधुनिक प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण की आवश्यकता के साथ सामाजिक ढाँचे और सांस्कृतिक मूल्यों को बदलने पर भी बल दिया गया।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डेनियल लर्नर के विचारों का अपने लेख 'परम्परा और विकास' में उल्लेख करते हुए दुबे ने लिखा है—लर्नर जैसे विद्वान समाजशास्त्री ने तो प्रौद्योगिकी के साथ परिचय की संस्थानिक संरचना के स्थानान्तरण का अविवेकी और असंभव प्रस्ताव भी कर डाला। यहाँ तक की नुन्नार मिर्डल के विशाल ग्रंथ 'एशियन ड्रामा' का एक निष्कर्ष भी परम्पराओं से जुड़े समाजों का आधुनिकीकरण तब तक नहीं होना बतलाया गया था, जब तक की वे आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी सामाजिक संस्थाओं, विश्वासों और मूल्यों को नहीं बदलते, पर यह कैसे संभव है। इस पर कोई चर्चा नहीं है। अतः परम्पराएं विकास व आधुनिकता की प्रतिस्पर्द्धा भूमिका के रूप में सामने आयी।

उपरोक्त से स्पष्ट होता है कि —

1— विकास की केन्द्रित अवधारणा राष्ट्रीय उत्पान वृद्धि पर बल तो देती है जो उपयोगितावादी दर्शन पर आधारित है।

2—विकास समृद्धि को बढ़ाकर पीड़ा को कम करने का कार्य करती है, पर यह समृद्धि व पीड़ा व्यक्ति की है या छोटे वर्ग की स्पष्ट नहीं है।

3— दुबे का मानना है कि आर्थिक वृद्धि ही सब कुछ होती तो, क्यों पश्चिम यूरोप और अमेरिका की नवीन पीढी में प्रति-संस्कृति का उदय होता। नये आध्यात्मिक व रहस्यवादी और आध्यात्मवादी दर्शनों की ओर झुकाव क्यों होता?

4—यदि आर्थिक वृद्धि ही विकास के लिए सर्वोपरि है तो धार्मिक कट्टरवादिता और जातीय भावना क्यों विस्फोट के रूप में नये राज्यों के निर्माण के लिए लालायित होती। अतः विकास एवं परम्परा के अन्तःसंबंधों पर एक नयी बहस फिर से शुरू हो गयी है।

प्र० दुबे का मानना है कि —

1. विकास के लिए परम्पराओं को अति महामण्डित करना गलत है।
2. परम्पराओं के नाम पर समाज में व्याप्त संकीर्ण कुप्रथाओं को उचित नहीं ठहराया जा सकता, चाहे वे सती प्रथा हो, बाल विवाह, अस्पृश्यता, कन्याभ्रूण हत्या, स्त्री उत्पीड़न या अन्य समाज से संबंधित समस्याएँ।
3. विकास के प्रभावशाली आर्थिक व्यूह रचना, सांस्कृतिक संवेदना, सामाजिक न्याय और पर्यावरण बोध चार प्रमुख तत्व हैं।
4. इनमें सामाजिक समाकलन, निर्णय तथा कार्यान्वयन जैसे दो तत्वों को जोड़कर इसे गति दी जा सकती है। जिसमें प्रत्येक को परम्परा में अन्तर्निहित ऊर्जा की आवश्यकता होती है
5. परम्परा हमें साधन भी देती है और लक्ष्य भी।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि परम्परा व विकास के अन्तः संबंध समयाग्रस्त हैं इनमें से किसी को भी छोड़ पाना असंभव व जटिल कार्य है। परम्परा में भी अदम्य जीवन शक्ति है जो अपने आपको को विकास की राह में प्रमाणित करती रहती है।

5.21 सांस्कृतिक संक्रमण की समस्याएँ

अपनी पुस्तक 'संक्रमण की पीड़ा' में प्रो० दुबे ने परिवर्तन की तीव्रगति से सांस्कृतिक संक्रमण की पीड़ा का दर्शाया है। यह कैसे और क्यों होता है, या हो रहा है। इस पर उनके विचारों को बिन्दुवार चर्चा की जा रही है। दुबे के अनुसार—

1. परिवर्तन की गति अत्यधिक तीव्रता ज्ञान-विज्ञान का भण्डार दोगुना होता जा रहा है।
2. जीवन के बदलते आयामों से सुख सुविधाओं के नए मार्ग प्रशस्त होकर अमीर-गरीब, सम्पन्नता, विपन्नता की दरार को चौड़ा करने का कार्य करते हैं।
3. जनसंचार के बढ़ते उपयोग व वृद्धि से नवीन जीवन शैली विकसित हो रही है। बढ़ती आकांक्षाएँ हताशारूपी महाक्रांति को जन्म देती है।
4. मानव के उपभोक्तावादी दृष्टिकोण में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।
5. पारिवारिक विघटन, पीढ़ियों की संवदेनहीनता तथा स्त्री शक्ति की अभिव्यक्ति ने सामाजिक संरचना के संतुलन को गड़बड़ा दिया है। मर्यादाएँ टूट रही हैं, सामाजिक सरोकार क्षीण हो रहे हैं।
6. भ्रष्टाचार व व्याभिचार सर्वत्र व्याप्त है।
7. मनोरंजन के क्षेत्र में अपसंस्कृति का सैलाब आ गया है। मादक द्रव्यों के उपयोग में चिन्ताजनक वृद्धि हुई है।
8. कुत्सित साहित्य, युवाओं में भटकाव, कृषक असन्तोष सर्वत्र व्याप्त है।
9. पर्यावरण असन्तुलन से जल, जंगल, जमीन के अस्तित्व को खतरा होता जा रहा है। विकासशील देशों के लिए इस प्रकार की पीड़ा को सहन करना असहनीय होता है—
 1. इन समाजों में लोक तत्वों की प्रधानता होती है।
 2. लोकसंस्कृति आधुनिकीकरण के तीव्र झटकों के लिए तैयार नहीं है।
 3. सामुदायिकता का ह्रास उन्हीं मानसिक आघात पहुँचाता है।
 4. परिवर्तन की प्रक्रिया उनके विश्वासों को आधारहीन बनाती है तथा आस्थाओं का क्षरण करती हैं।
 5. धुरीहीन और दिशाहीन विचार लक्ष्य व साधनों में भटकाव उत्पन्न करते हैं। व्यक्ति केन्द्रिकता स्वार्थ और लिप्सावाद को जन्म देती है।
 6. लोकतांत्रिक सामाजिक नियंत्रण धर्मनिरपेक्षता, धर्म विमुखता बन जाती हैं।
 7. समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक अराजकता उत्पन्न हो जाती है।

अपने उपरोक्त संक्रमण की पीड़ा लेख के माध्यम से दुबे विचारशील पाठकों से इस संक्रमण की समस्या को दूर करने की अपेक्षा रखते हैं।

5.22 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान चुके हैं—प्रो० एस० सी० दुबे के व्यक्तित्व का परिचय उनके द्वारा समाजशास्त्र में दिए गये अमूल्य योगदान का विस्तृत वर्णन। सर्वप्रथम उनकी भारतीय ग्राम संबंधी अवधारणा के माध्यम से यह बतलाने का प्रयास किया गया कि किसी भी गाँव की सामाजिक संरचना का अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर किस प्रकार किया जा सकता है। यह शोधार्थियों के लिए अत्यधिक उपयोगी है। तत्पश्चात् परम्परा के विषय में उनके विचारों को इसकी विशेषता, विभिन्न धाराओं के आधार पर स्पष्ट किया गया। आधुनिकीकरण में उनके विचार, लक्षण, बाधाओं संबंधी व्याख्या की गयी है। विकास, विकास के सिद्धान्त, लक्ष्य की अपेक्षाएँ, स्वस्थ विकास के साधन तथा मानवीय तथा जीवन की गुणवत्ता की प्रमुखता पर चर्चा की गयी है। परम्परा, विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध तथा सांस्कृतिक संक्रमण संबंधी उनके विचारों का उल्लेख कर इकाई की समाप्ति की गयी है।

5.23 शब्दावली

द्विभाजक—	दो भागों में बांटने वाला
अनवरतता—	जो लगातार चलता रहे, क्रमशः निरन्तरता।
संस्थानिक ढांचे—	संस्था संबंधी संरचना
एकीकरण—	सम्मिलित होना, एकत्रीभूत
समाकलन—	मूल्यांकन
संश्लिष्ट—	जुड़ा हुआ, चिपका हुआ।
आच्छादित—	ढका हुआ।
स्थानीयकरण—	स्थानीय रूप में
सर्वव्यापीकरण—	सर्वत्र व्याप्त होने का भाव
देशजीकरण—	स्थान विषय से संबंधित
जीवनीकरण—	जीवन से संबंधित भाव
पुर्नव्याख्या—	दुबारा बखरव्या करना
सार्वदेशिक—	सभी देशों में व्याप्त
सार्वकालिक—	सभी कालों में व्याप्त
विभेदीकृत—	भेद करना
विशेषीकरण—	विशिष्टता बताना
बहुआयामी—	अनेक विध
विकर्ण—	तिरछी रेखा में
अविर्भावी—	पैदा होने वाला
परानुभूति—	दूसरे की अनुभूति

अभ्यास प्रश्न

- 1—श्यामाचारण दुबे का जन्म—
अ—25 जुलाई, 1922 में हुआ।
ब—26 जुलाई, 1922 में हुआ।
स—28 जुलाई, 1922 में हुआ।
द—24 जुलाई, 1922 में हुआ।

2—इनमें से दुबे की कृति कौन सी है—

अ—द कमार

ब—मानव और संस्कृति
स—विकास का समाजशास्त्र
द—उपरोक्त सभी।

3—भारतीय ग्राम किस गांव की सामाजिक संरचना से संबंधित हैं—
अ—मोहाना गाँव
ब—श्रीपुरम गाँव
स—रामपुरा गाँव
द—शमीरपेट गाँव

3—जो परम्पराएँ छोटे क्षेत्र में प्रचलित होती हैं, उन्हें कहते हैं—
अ—वृहद परम्परा
ब—बड़ी परम्परा
स—लघु परम्परा
द—छोटी परम्परा।

4—वे परम्परा जो प्राचीन धर्म ग्रंथों में बताये गये व्यवहारों के अनुरूप होती हैं को कहते हैं—
अ—वृहद परम्परा।
ब—विस्तृत परम्परा
स—बड़ी परम्परा
द—स्थानीय परम्परा

5—इनमें से कौन सी विशेषता सामाजिक विकास की नहीं है—
अ—सार्वभौमिकता
ब—निरंतरता
स—व्यापकता
द—निजी लाभ

6—सामाजिक विकास के प्रमुख कारक हैं—
अ—सामंजस्य
ब—आविष्कार
स—प्रसार
द—उपरोक्त सभी

7—कौन सी विशेषता सामाजिक विकास से संबंधित नहीं है—
अ—सामाजिक विकास प्रगति के प्रतिकूल है
ब—समाज में असमानता लाना
स—विशेषीकरण का अभाव
द—उपरोक्त सभी

8 बड़े सर्विस क्लास वाला समाज है—

- अ—अर्द्धविकसित समाज
 ब—विकसित समाज
 स—विकासशील समाज
 द—तीसरी दुनिया का समाज

9—कौन सा कथन सत्य है—

- अ—स्थानीयकरण व सर्वव्यापीकरण समान प्रक्रियाएँ हैं—
 ब—आज के संसार में परिवर्तन की गति बहुत मंद है—
 स—लोक संस्कृतियाँ आधुनिकीकरण के तीव्र झटकों के लिए तैयार नहीं है—
 द—परिवर्तन के वर्तमान दौर में ज्ञान, विज्ञान व आविष्कार में कमी आ रही है—

प्रत्येक के आगे सत्य/असत्य लिखिए—

- 10—परम्परा न मिथक होती हैं न इतिहास— सत्य/असत्य
 11—परम्परा और संस्कृति पर्यायवाची शब्द नहीं हैं— सत्य/असत्य
 12—प्रौद्योगिकी को आधुनिकीकरण के आयामों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है—सत्य/असत्य
 13—दुबे ने आधुनिकीकरण को मूल्यों से मुक्त माना है— सत्य/असत्य
 14—आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन पुस्तक दुबे द्वारा लिखी गयी है—सत्य/असत्य
 15— आधुनिकीकरण अनेक पहलुओं का एक ताना—बाना है— सत्य/असत्य
 16—सामाजिक विकास की अवधारणा में आर्थिक विकास को भी सम्मिलित किया जाता है—
 सत्य/असत्य
 17—जनसंख्या विस्फोट विकास के लिए एक अवरोध है— सत्य/असत्य
 18— दुबे के अनुसार परम्पराओं के नाम पर कुप्रथाओं को उचित नहीं ठहराया जा सकता—सत्य/असत्य
 19— आधुनिकीकरण व विकास एक क्रान्तिकारी प्रक्रियाएँ हैं— सत्य/असत्य

बोध प्रश्नों के उत्तर—

- 1—अ 2—द 3—द 4—स 5—द 6—द 7—द 8—ब 9—स 10—सत्य 11—सत्य
 12—असत्य 13—सत्य 14—असत्य 15—सत्य 16—सत्य 17—सत्य
 18—सत्य 19—सत्य

5.24 संदर्भ ग्रंथ सूची

- यादव राम गणेश, भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिंतक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड मुंबई, पृ0सं0 107 से 132।
 दुबे, श्यामाचरण, विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन, 2000, पृ0सं0 25—31 व 42—45।
 पचौरी, जे0पी0 एवं लवानिया एम0एम0, विकास एवं नियोजन का समाजशास्त्र रिसर्च पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ0सं0 44—46
 सिंह, जे0पी0, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, प्रेंटिस, हाल ऑफ इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, 2005, पृ0सं0 306—321

दुबे, श्यामाचरण, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1995, पृ0सं0 75–83
 मदन, जी0 आर0, विकास का समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ0सं0 229–236
 अग्रवाल एवं पाण्डे, ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, 1999, पृ0सं0 93–106
 दुबे, श्यामाचरण–संक्रमण की पीड़ा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1994, पृ0सं0 1 02
 यादव, राम गणेश, भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास, ओरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, 2014, पृ0सं0 21
 पाण्डेय, चित्रा पाण्डे, विकास का समाजशास्त्र, प्रकाश बुक डिपो, 2003, पृ0सं0 148–160

5.25 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Singh Yogendra, Eassyas on Modernization in India, Manohar book Service, New Delhi, 1978

Lerner Daniel, The Passing away of Traditionoal society, free press, new York, 1958

आहूजा, राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशनन्स दिल्ली, 2000

दुबे, श्यामाचरण, भारतीय समाज (अनुवादक वंदना मिश्र) नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 2001

मदन जी0आर0, परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, लखनऊ, 2006

निबंधात्मक प्रश्न

1. श्यामाचरण दुबे के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए?
2. दुबे द्वारा प्रतिपादित भारतीय ग्राम में शमीरपेट की सामाजिक संरचना को विस्तार से समझाइये?
3. परम्परा को परिभाषित कर दुबे द्वारा वर्णित परम्परा की विशेषता एवं विभिन्न आधारों का वर्णन कीजिए?
4. आधुनिकीकरण से आप क्या समझते हैं, आधुनिकीकृत व्यक्तित्व की विशेषताएँ क्या हैं?
5. आधुनिकीकरण को परिभाषित कर इसके लक्षण व इसमें उत्पन्न बाधाओं पर प्रकाश डालिए?
6. समाज के स्वस्थ विकास पर दुबे जी के विचारों की चर्चा कीजिए?
7. परम्परा का विकास व आधुनिकता से अंतर्संबंध पर दुबे के विचारों को स्पष्ट कीजिए?
8. दुबे जी की सांस्कृतिक संक्रमण की पीड़ा का क्या अभिप्राय है—स्पष्ट कीजिए?

इकाई-6

मैकिम मैरियट

इकाई की रूपरेखा—

- 6 उद्देश्य
- 6.1 प्रस्तावना
 - 6.1.1 जीवन परिचय
- 6.2 पद्धतिशास्त्र
 - 6.2.1 समुदाय और परम्परा

- 6.3 ग्रामीण भारत
- 6.4 लघु परम्परा एवं महान परम्परा
 - 6.4.1 लघु परम्परा
 - 6.4.2 महान परम्परा
 - 6.4.3 लघु परम्परा एवं महान परम्परा के बीच अन्तर
 - 6.4.4 लघु एवं महान परम्परा के बीच अन्तःक्रिया
- 6.5 सार्वभौमिकरण एवं स्थानीयकरण
 - 6.5.1 भारत में सार्वभौमिकरण की प्रक्रिया का आधार
 - 6.5.2 स्थानीयकरण
 - 6.5.3 भारत में स्थानीयकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कारक
 - 6.5.4 धर्म एवं धार्मिक कृतव्यों का स्थानीकरण
- 6.6 सामाजिक स्तरीकरण
- 6.7 निष्कर्ष
- 6.8 भावी अध्ययन
- 6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं—

1. मैकिम मैरियट के कार्य प्रणाली को समझना।
2. मानव विज्ञान एवं समाजशास्त्र पर मैकिम मैरियट के शोधकार्यों के प्रभाव को समझना।
3. मैकिम मैरियट के विचार तरीकों एवं दृष्टिकोण का अध्ययन।
4. ग्राम भारत के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट के विचार को जानना।
5. छोटी एवं महान परम्पराओं में होने वाले परिवर्तन जानना।
6. संकुचितकरण एवं सार्वभौमिकरण के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट के विचार को जानना।
7. भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अर्तगत सामाजिक स्तुतीकरण के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट के विचार को जानना।
8. मैकिम मैरियट द्वारा भारत एवं पाकिस्तान में जाति रैंकिंग / श्रेणीबद्धता का अध्ययन का जानना।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज की विशेषता रही है ग्रामीण जीवन पद्धति। आज भी भारत में लगभग 2011 के जनगणा के अनुसार 69 प्रतिशत लोग भारत के गाँवों में निवास करते हैं। मैकिम मैरियट को भारतीय ग्रामीण जीवन एवं संस्कृति ने बहुत प्रभावित किया तथा इन्हें भारतीय ग्रामीण जीवन का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। मैकिम मैरियट भारत के उत्तर प्रदेश एवं महाराष्ट्र के गाँवों का अध्ययन कि प्रेरणा मिल्टन सिंगर तथा रॉबर्ट रेडफिल्ड से प्राप्त करते हैं और रॉबर्ट रेडफिल्ड से प्रभावित होकर भारत में लघु एवं दीर्घ परम्परा का अध्ययन करते हैं और बताते हैं कि कैसे ये परम्पराएँ भारत में परिवर्तन लाती है। मैकिम मैरियट ने अपने संकुचितीकरण एवं सार्वभौमिकीकरण की अवधारणा में भारत में चक्रीय परिवर्तन के बारे में बताते हैं कि संकुचितीकरण एवं सार्वभौमिकीकरण को लघु एवं दीर्घ परम्परा से जोड़ कर भारतीय गाँव में अंतःक्रियाओं के स्वरूप की चर्चा करते हैं। मैकिम मैरियट का मानना है कि लघु परम्परा के बीच निरन्तर अंतःक्रिया होती रहती है।

6.1.1 जीवन परिचय

मैकिम मैरियट ने शिकागो विश्वविद्यालय से पी-एचडी (मानवशास्त्र) किया एवं शिकागो विश्वविद्यालय में कॉलेनियर डिवीजन के सोशल साइंस माग में मानवशास्त्र के प्रोफेसर बने। आपकी रुची ग्रामीण जीवन के अध्ययन एवं उसमें होने वाले परिवर्तन में रही। यही कारण था कि आप ने अपने अध्ययन के लिए भारत के उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र को चुना एवं इन दोनों राज्यों में आपने क्षेत्रीय कार्य किया। आप ने उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी नामक गाँव का अध्ययन कर लघु एवं वृहद परम्पराओं के बीच होने वी परस्पर अंतःक्रियाओं के आधार पर सार्वभौमिकरण एवं संकुचितीकरण नाम दो जुड़वा अवधारणा का विकास किया। आपके द्वारा विपेज इंडिया का सम्पादन किया गया और इस पुस्तक के माध्यम से ग्रामीण सामाजिक परिवर्तन पर प्रकाश डाला गया। आपने न सिर्फ भारत में समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र को विकसित करने का प्रयास किया बल्कि जापान तथा अन्य देशों में भी आपके कार्य सराहनीय रहे। आपके द्वारा लिखी गई पुस्तकें निम्न हैं—

1—Village India : Studies in the Little Community (1955)

2—Caste Ranking and Community Structure in the Five Regions of India and Pakistan (1960)

3—India Through Hindu Categories (1960)

6.2 पद्धतिशास्त्र

मैकिम मैरियट ने भारत के गाँव का अध्ययन करने के लिए संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का प्रयोग किया। संरचनात्मक उपागम भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन का एक ऐसा तरीका है जो सम्पूर्ण भारत समाज का अध्ययन उसके प्रमुख संरचनात्मक इकाई जाति व्यवस्था के माध्यम से करता है। इस

उपागम के प्रमुख समर्थक एम0एन0 श्रीनिवास माने जाते हैं। यद्यपि आधुनिक समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह, दीपांकर गुप्ता इत्यादि जैसे विद्वानों ने इसका समर्थन किया है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का प्रयोग भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए एम0 एन0 श्रीनिवास तथा एस0 सी0 दूबे ने किया है। मैकिम मैरियट एवं रॉबर्ट रेडफील्ड की अवधारणा लघु-समुदाय तथा मिल्टन सिंगर की लघु परम्परा एवं दीर्घ परम्परा से प्रभावित थे। मैरियट इन दोनों विचारकों के विचार से प्रभावित होकर अपनी अवधारणा संकुचितीकरण एवं सार्वभौमिकीकरण की अवधारणा देते हैं एवं इसके माध्यम से ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तन का अध्ययन करते हैं।

6.2.1 समुदाय और परम्परा

इस इकाई के अन्तर्गत हम समुदाय एवं परम्परा के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। सामान्य अर्थ में लोग समुदाय को धर्म के साथ जोड़ते हैं जैसे हिन्दू समुदाय, मुस्लिम समुदाय, सिक्ख समुदाय आदि। लेकिन समाजशास्त्र के भाषा में ये समुदाय नहीं है बल्कि समुदाय कि एक कि निश्चित परिभाषा एवं विशेषता बताई गई। समाजशास्त्रीय साहित्य में, समुदाय शब्द का प्रयोग बहुधा व्यक्तियों के एक समूह, सामाजिक साहचार्य के ऐसे रूप के लिए किया जाता है जिसके सदस्य एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहते हैं, और जिनमें पारस्परिक हम की भावना, अन्तर्पारस्परिकता साझा संस्कृति तथा संगठित क्रिया कलापों की भाषना सर्वोपरि होती है। समुदाय कि परिभाषा देते हुए कहते हैं कि—

पारसंस ने समुदाय को एकजुटता के व्यापक सम्बन्धों द्वारा निर्मित एक ऐसी सत्ता माना है जिसका सरोकार जीवन के कई क्षेत्रों हितों से होता है। रॉबर्ट रेडफील्ड समुदाय के सम्बन्ध में लोक संस्कृति की अवधारणा देते हैं। लोक संस्कृति की अवधारणा को सर्वप्रथम प्रयोग रॉबर्ट रेडफील्ड, मैक्सिको के युकाटन लोगों के अपने अध्ययन में करते हैं। इस अध्ययन ने इन्होंने लोक संस्कृति को नगरीय औद्योगिक संस्कृति में रूप में प्रदर्शित किया जाता है तथा जिनमें श्रमविभाजन केवल लिंग और आय के आधार पर होता है। ऐसे समाजों में सामाजिक सम्बन्धों का आधार मुख्यतः नातेदारी और बन्धुत्व होता है तथा जिनमें मानवताओं की अभिव्यक्ति और सामाजिक स्वीकृति का मुख्य माध्यम धर्म होता है। जैसे टॉनीज तथा इमाइल दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों ने जिस प्रकार से समुदायों के बीच अंतर बताए हैं जैसे टॉनीज का गेमिनशैफ्ट एवं गैसिलशॉफ्ट या दुर्खीम का यांत्रिक सुदृढ़ता एवं सावयवी सुदृढ़ता। ठीक उसी प्रकार से समुदायों के बीच का एक अंतर लघु समुदाय है। लघु समुदाय की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग रॉबर्ट रेडफील्ड ने कृषक समुदायों के अपने अध्ययन में किया। रेडफील्ड ने लघुसमुदाय के चार विशेषताएँ बतायी हैं—

- (1) लघुता
- (2) विशिष्टता
- (3) समानरूपता और (आत्म निर्भरता)

मैकिम मैरियट ने ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों के बीच परस्पर अंतसम्बन्धों को देखा। एक स्वदेशी सभ्यता में लघु समुदाय। मैकिम मैरियट का निबन्ध लिटिल कम्युनिटी इन एन इंडीजिनस सिविलाइजेशन में इन्होंने स्थानीय जाति व्यवस्था और राज्य और सभ्यता के विस्तृत आधार के बीच सम्बन्धों की चर्चा की परम्परा की धारणा "जैसा है" को अपनाने की प्रवृत्ति पर जोर देती है। यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है जिसके कारण समाज में यह विश्वास पैदा होता है कि यह समाज की एकता एवं अखण्डता के लिए जरूरी है। रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा दो जुड़वा अवधारणा महान परम्परा और लघु परम्परा का प्रतिपादन किया गया। इस अवधारणा का प्रयोग रेडफील्ड ने कृषक समुदायों के सांस्कृतिक जीवन के विश्लेषण के संदर्भ में किया गया। इनके अनुसार महान परम्परा से तात्पर्य ऐसे उच्च एवं बौद्धिक विचारों से है जिनका जन्म और विकास विद्यालयों तथा देवालयों में होता है दार्शनिकों, चिन्तकों तथा साहित्यकारों की परम्पराएँ आदि महान परम्परा का ही भाग होती हैं, का सृजन एवं हस्तान्तरण सचेतन प्रयासों द्वारा होता है। महान परम्परा को नगरीय परम्परा या अभिजन परम्परा भी कहते हैं। महान परम्परा सदैव परिवर्तनशील होती है जबकि लघु परम्परा को लोक परम्परा के नाम से जाना जाता है। लघु परम्परा का विकास का सम्बन्ध स्थानीय संस्कृति से है। इस प्रकार की परम्परा का विकास ग्रामीण समुदायों में रहने वाले अप्रबुद्ध एवं सामान्य जनों के बीच स्वतः होता है लघु एवं महान परम्परा दोनों परस्पर निर्भर है। ये दोनों अलग होते हुए भी कभी एक-दूसरे के साथ मिलकर तो कभी अलग अलग हो निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। मैकिम मैरियट अपने लेख में लघु एवं महान समुदायों में ऐतिहासिक सम्बन्धों को ढूढने का प्रयास करते हैं।

6.3 ग्रामीण भारत

मैकिम मैरियट द्वारा सम्पादित 'विलेज इंडिया: स्टडीज इन लिटिल कम्युनिटी' (1955) ग्रामीण अध्ययन की सबसे प्रसिद्ध संग्रह में से एक है और आज भी इसे विशिष्ट रूप से प्रासंगिक माना जाता है। इस पुस्तक में विदेशी एवं भारतीय दोनों प्रकार के मानवशास्त्रियों के लेख को शामिल किया गया है। इस प्रकार से इस पुस्तक में देशी एवं विदेशी मानवशास्त्रियों का योगदान है। इस पुस्तक का उद्देश्य भारतीय सभ्यता की जटिलताओं में भारतीय गाँवों को समझना है। हालाँकि मैकिम मैरियट का एवं अन्य मानवशास्त्रियों का पद्धति संरचनात्मक प्रकार्यात्मिक है। इस पुस्तक में जाति की अवधारणा का पुनर्परीक्षण किया गया है और जाति को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

हमारा मुख्य उद्देश्य यहाँ मैकिम मैरियट के लेख लिटिल कम्युनिटी इन इंडीजिनस सिविलाइजेशन पर चर्चा करना है, जिसका योगदान ग्रामीण भारत में है। मैकिम मैरियट ने दिसम्बर 1950 से अप्रैल 1952 तक उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले के अर्तगत किशनगढ़ी गाँव का अध्ययन किया। मैरियट के अनुसार किशनगढ़ी पूरी तरह से अलग गाँव नहीं है, लेकिन यह अपने आप में एक विश्व है अर्थात् इसकी अपनी एक अलग दुनिया है। आर्थिक हितों के आधार पर यह गाँव समूहों में विभाजित है। इस गाँव में ऐसी फसल का उत्पादन की जाती है जो गाँव के बाहर बेची जाती है। इसके कारण कई आर्थिक सम्बन्ध गाँव के बाहर से जुड़ गए हैं। इस गाँव में विवाह एवं नातेदारी के आधार पर भी विभाजन है। गुटों के मामले में गाँव को राजनीति रूप से भी विभाजित किया गया है। मैकिम मैरियट ने कहा “इन संरचनात्मक तथ्यों को किशनगढ़ी मूल भाव से पृथक पुरे से बहुत कम लगते हैं।” हालाँकि किशनगढ़ी को अलग-अलग किया जा सकता है। मैकिम मैरियट आगे लिखते हैं। “लेकिन फिर भी मुझे यह कहने पर मजबूर होना पड़ रहा है कि किशनगढ़ी गाँव एक जीवित चीज की तरह है, इसकी एक निश्चित संरचना है, अवधारणात्मक रूप से इसकी विशिष्ट पहचान है इसकी एक प्रणाली है भले ही यह कई उपप्रणालियों में से एक है बड़े सामाजिक, राजनीति, धार्मिक, आर्थिक प्रणाली के भीतर जहाँ यह मौजूद है। मैकिम मैरियट के अनुसार किशनगढ़ी गाँव के लोगों का संरचनात्मक पहलू कुछ सांस्कृतिक प्रथाओं, मानदण्डों और शिष्टाचार आदि पर निर्भर है। यह तथ्य सिद्ध करने के लिए है कि किशनगढ़ी अलग है। प्रश्न यह है कि उपरोक्त विचार और प्रथा गाँव के जीवन के लिए कितना महत्व है? क्या वे सामाजिक संरचना उपरी भाग नहीं हैं? हमारे लिए मैरियट के आश्चर्यजनक नृविज्ञान/प्रघटनाशास्त्र एक पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण के रूप में कुछ सतही दिखाई देता है।

अपने लेख में मैकिम मैरियट सीधे एक बड़े गाँव के साथ-साथ एक गाँव के सम्बन्धों का प्रश्न उठाते हैं मैरियट का प्रयास इसे सभ्यता के साथ जोड़ने का भी है। जिसमें यह गाँव एक स्थानीय तथा छोटा सा हिस्सा है अलीगढ़ जिले के इस गाँव की अपनी दुनिया और आस-पास के अन्य समुदायों के साथ उसके सम्बन्धों की व्याख्या इस लेख में मैरियट के अन्य लेखों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। लेकिन विषय यहाँ केवल परिचयात्मक है। लेविस का विचार है कि किशनगढ़ी की स्थिति तथा उसके बाह्य परिवेश को बहुत विस्तार से जोड़ा है। भारतीय सभ्यता के विकास के साथ इसको जोड़ा गया है। सरकार और संस्कृति किशनगढ़ी से प्रारम्भ होकर हजारों अन्य गाँवों तक जा पहुँची है। सरकार और विकास के प्रतिबिम्बों ने किशनगढ़ी पर प्रभाव डाला है। ग्राम से ऊपर राज्य और सभ्यता की संस्थाएँ तथा विचार और फिर स्थानीय स्तर पर राज्य और सभ्यता के विचारों का प्रभावी आधार उस संस्तरणात्मक प्रक्रिया को जानने का प्रयास है जो ग्रामीण जीवन के आधार पर सभ्यता को समझने का प्रयास करता है।

6.4 लघु परम्परा एवं महान परम्परा

रॉबर्ट रेडफील्ड ने पहली बार अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि प्रत्येक सभ्यता परम्पराओं द्वारा निर्मित होती है। रेडफील्ड के अनुसार एक ओर अभिजात लोगों की या थोड़े से चिन्तनशील लोगों की परम्परायें आती हैं तो दूसरी ओर लोक या निरन्तर कृषकों की परम्पराएँ। अभिजात लोगों के परम्परा को महान परम्परा तथा निरन्तर कृषकों के परम्परा को लघु परम्परा के नाम से जाना जाता है। रेडफील्ड के अनुसार प्रत्येक परम्परा का स्वयं का सामाजिक संगठन होता है। दोनों परम्पराएँ एक ऐसी विश्व दृष्टि के प्रतीक के रूप में समझी जाती हैं जो सभ्यता की एकता का प्रतिनिधित्व करती हैं। भारतीय ग्रामीण समाज में हो रहे परिवर्तनों को समझने के लिए मैं दोनों ही अवधारणा कारगर सिद्ध हुई हैं। भारत तथा महान परम्पराओं की अवधारणा गाँव में जाति व्यवस्था के परिवर्तनों पर भी लागू होती है इन अवधारणाओं का प्रयोग मिल्टन सिंगा तथा मैकिम मैरियट दोनों ने की है। लघु परम्परा एवं दीर्घ/महान परम्परा का प्रतिपादन रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा सर्वप्रथम मैक्सिको के युकाटन गाँव के अध्ययन के दौरान किया गया। इस इकाई में हम लघु एवं महान परम्परा के अर्थ को समझाते हुए दोनों के बीच सम्बन्धों की चर्चा करेंगे।

6.4.1 लघु परम्परा

लघु परम्परा से तात्पर्य ऐसे विचारों से है जिनका उद्गम गाँवों में होता है। इस प्रकार की परम्परा का विकास ग्रामीण समुदायों में रहने वाले अशिक्षित एवं सामान्य जनों के बीच स्वतः होता है इसे लोक परम्परा के नाम से भी जानते हैं। रेडफील्ड के अनुसार छोटे गाँव में पाई जाने वाली जीवन उपार्जन की क्रियाओं एवं शिल्प गाँव व उसके सम्बन्धित संगठन तथा प्राकृतिक पर आधारित धर्म को लघु परम्परा होती है जो स्वयं सिद्ध मानी जाती है जिनका विशेष परिमार्जन और सुधार नहीं किया जाता रेडफील्ड के अनुसार वे देवी-देवता, धार्मिक अनुष्ठान, रीति-रिवाज, मेले, लोक-गीत तथा विविध सांस्कृतिक तत्व जिनका वर्णन अखिल भारतीय धर्मग्रन्थों एवं अन्य पुस्तकों में लिखित रूप में मिलता है और जो मुख्यतः मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं, लघु परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। रेडफील्ड निरक्षर किसानों की परम्परा को लघु परम्परा कहते हैं जिनका विकास अशिक्षित कृषक समुदायों में होता है और वहीं उन्हें स्थायित्व प्राप्त होता है।

6.4.2 महान परम्परा

रॉबर्ट रेडफील्ड ने मैक्सिको की यात्रा संस्कृति के मंदिरों एवं प्रसादों के विशाल प्रस्तुत निर्मित वस्तु-शिल्प, परिष्कृत कला, खगोल विज्ञान, पंचांग, चित्रलिपि में लिखित साहित्य, देवताओं एवं प्राकृतिक

शक्तियों तथा धर्म पर आधारित राज्य व्यवस्थाओं को महान परम्परा कहा है। रॉबर्ट रेडफील्ड के अनुसार वृहत परम्परा स्कूलों एवं मंदिरों में पोषित होती है। यह दार्शनिक, विद्वान तथा साहित्यिक लोगों की परम्परा है जो विचार पूर्वक बनाया एवं हस्तान्तरित होता है। मैकिम मैरियट के अनुसार यदि कोई परम्परा प्राचीन धर्म ग्रंथों में बताये गए व्यवहारों के अनुरूप होती है तथा उसका प्रसार सम्पूर्ण समाज में होता है तो उसे हम महान परम्परा कहेंगे। भारत के संदर्भ में वृहत परम्परा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि देवी-देवता, धार्मिक क्रियाकलाप, व्यवहार तथा विभिन्न सांस्कृतिक तत्व जिनका वर्णन रामायण, महाभारत, पुराण, आदि धार्मिक ग्रन्थों में लिखित रूप में मिलता है, महान परम्परा के अर्तगत आते हैं। जैसे राम, हनुमान, कृष्ण, शिव, विष्णु, सीता, राधा, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवी-देवताओं तथा होली दीपावली, दशहरा, रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि त्यौहारों एवं उत्सवों का वर्णन प्राचीन धर्म ग्रन्थों में मानते एवं मनाया जाता है। इस लिए इन देवी-देवताओं को तथा त्यौहारों एवं उत्सवों को महान परम्परा का अंग मानते हैं।

6.4.3 लघु परम्परा एवं महान परम्परा के बीच अन्तर

भारत में लघु एवं महान दोनों परम्परायें अति प्राचीन दिख पड़ती हैं तथा इन दोनों की अपनी-अपनी विशिष्ट विशेषतायें हैं। ये दोनों परम्परायें एक दूसरे के काफी निकट रही हैं। इनसे सम्बन्धित लोग एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहे हैं अतः इन दोनों परम्पराओं में निरन्तर अन्तःक्रिया का होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। रेडफील्ड लिखते हैं कि लघु और महान परम्पराओं पर मौलिक मूल्यों तथा विश्व-दृष्टि के रूप में विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये समान ही हैं, फिर भी भिन्नता पायी जाती है। भारत की लघु परम्पराओं की विश्व दृष्टि बहुदेववादी, जादूवादी तथा अदार्शनिक जबकि महान वैदिक परम्पराओं की विभिन्न धाराओं का बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिकोण इनसे भिन्न प्रकार का है। डॉ० बी० आर० चौहान ने महान एवं लघु परम्पराओं को भिन्न प्रकार से सारणीबद्ध किया है—

महान परम्पराएँ	लघु परम्पराएँ
1—राष्ट्रीय	1—स्थानीय
2—लिखित	2—अलिखित
3—विषय-वस्तु में शास्त्रीय तथा सांस्कृतिक	3—अशास्त्रीय
4—अधिक व्यवस्थित	4—कम व्यवस्थित
5—अधिक चिन्तनशील	5—कम चिन्तनशील

6.4.4 लघु एवं महान परम्परा के बीच अन्तःक्रिया

लघु परम्परा एवं महान परम्परा एक दूसरे को प्रभावित करती है। मिल्टन सिंगर तथा मैकिम मैरियट ने लघु तथा महान परम्परा दोनों ही अवधारणाओं का प्रयोग भारतीय गाँवों के अध्ययन में किया तथा इन दोनों ही परम्पराओं की पारस्परिक अंतःक्रियाओं का भी उल्लेख किया। इनके अनुसार ये दोनों ही परम्पराएँ आंतरिक एवं बाह्य दो सम्पर्कों द्वारा अंतःक्रिया करती है। प्रथम स्तर पर जनसाधारण एवं निरक्षर कृषकों के द्वारा अंतःक्रिया एवं द्वितीय स्तर पर अभिजात एवं चिन्तनशील व्यक्तियों द्वारा इन दोनों का सम्पर्क होता है। प्रथम स्तर के अर्तगत आने वाली सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ लघु परम्परा को तथा दूसरे स्तर के अतर्गत आने वाली सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ महान परम्परा को निर्मित करती है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार परम्पराओं के इन दोनों स्तरों पर निरन्तर अंतःक्रिया होती रहती है। लघु एवं महान परम्पराएँ जहाँ एक तरफ स्वयं देशज उद्विकास और दूसरी ओर अन्य सभ्यताओं के साथ बाहरी सम्पर्क के द्वारा विकसित एवं परिवर्तित होती हैं। इसके साथ ही इन दोनों ही परम्पराओं में परस्पर आदान-प्रदान भी होता रहता है योगेन्द्र सिंह के अनुसार सभी संस्थाएँ अपने स्वयं के स्थानीय सांस्कृतिक संगठन के स्तर से प्रारम्भ होती है और धीरे-धीरे विकास प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप विकसित होती है। अन्य सभ्यताओं के साथ बाहरी सम्पर्क के कारण इनमें विभिन्नता उत्पन्न हो जाते हैं। परिवर्तन की यह दिशा ग्रामीण से नगरीय संस्कृति संरचना और संगठन की ओर होती है। और अंत में यह संस्कृति सार्वभौमिक प्रतिमान के रूप में विकसित हो जाती है, विशेषतः सभ्यताओं के बढ़ते हुए अन्तर-सम्पर्कों के द्वारा मैकिम मैरियट ने परम्परा के इन दोनों प्रकारों को मान्यता प्रदान की है। मैकिम मैरियट के अनुसार प्रथम कृषक समाज के स्तर पर लघु परम्पराएँ और द्वितीय नगरीय समाज के स्तर पर महान परम्पराएँ पाई जाती हैं। इन दोनों परम्पराओं में निरन्तर अंतःक्रिया चलती रहती है साथ ही ये दोनों परम्पराएँ एक दूसरे को काफी लम्बे समय से प्रभावित करती रही है और आज भी कर रही है।

महान परम्परा कैसे लघु परम्परा से सम्बन्धित लोगों तक पहुँचती है, इस सम्बन्ध में वी० राघवन ने लिखा है कि हिन्दू राजा अपने द्वारा बनाये गए मंदिरों में हिन्दू महाकाव्यों का गाने के लिए बड़ी-बड़ी निधियाँ स्थापित करते थे। साथ ही हिन्दू महाकाव्यों विशेषतः रामायण के पाठ के लिए दान देते थे। इन कथाओं का न सिर्फ पाठ होता था बल्कि इसका प्रचार-प्रसार भी कराया जाता था। राघवन कहते हैं कि “ऐसा कोई दिन शायद ही होता होगा जबकि कोई मधुर स्वर वाला उत्कृष्ट गायक मन्दिर, मठ अथवा सार्वजनिक सभा भवन में अथवा किसी घर के सामने बैठकर सैकड़ों-हजारों लोगों को राम की धर्म रक्षा द्वारा रावण के अधर्म नाश की कथा नहीं सुनाता हो।” अतः इससे स्पष्ट होता है दार्शनिकों, धार्मिक विचारकों, साधु-संतों एवं कथा वाचकों के द्वारा परम्परा को गाँवों में पहुँचाया जाता है।

भारत में महान परम्परा से सम्बन्धित प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रंथ रामायण है जिसका भारतीय ग्राम में व्यापक प्रभाव है। रॉबर्ट रेडफील्ड बताते हैं कि महान परम्परा का विकास कैसे होता है और फिर उस परम्परा के सांस्कृतिक तत्व लघुपरम्परा के रूप में गांवों तक कैसे पहुँचते हैं। रेडफील्ड रामायण का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि बाल्मीकि ने दन्त कथाओं के आधार पर महाकाव्य की रचना की और यह कथा भारत की उच्च परम्परा का अंग बन गई। नवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक इसका अनुवाद भारत की अनेक स्थानीय भाषाओं में हुआ और इन अनुदित रूपों में इसका सांस्कृतिक संरचना के व्यावसायिक गायकों ने गायन एवं प्रचार किया। सोलहवीं शताब्दी में तुलसीदास ने इसे हिन्दी भाषा में लिखा जो अनेक ग्रामों और त्यौहारों के अवसर पर पढ़ी जाने लगी। धीरे-धीरे यह भारतीय ग्रामों में बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया। किन्तु समय बीतने के साथ ग्रामीणों के लिए तुलसीदास ही हिन्दी कठिन हो गई क्योंकि ग्रामीणों ने अपने स्थानीय प्रचलित शब्दों को इसमें मिला लिया। अब इस मूल ग्रंथ की समझने के लिए व्याख्याकार की आवश्यकता होती है। महान परम्परा की ओर से एक व्यक्ति मंच पर आता है और उस रामायण को पढ़ता है और इसकी व्याख्या करता है। यह ग्रंथ एक पवित्र ग्रंथ माना जाता है इसलिए इसे पढ़ना आवश्यक है। भारत में महान एवं लघु परम्परा के बीच निरन्तर अंतःक्रिया होती है। महान परम्परा को प्रभाव हमें लघु परम्परा से सम्बन्धित ग्रामीण समाजों के त्यौहारों एवं अनुष्ठानों पर स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सिर्फ लघु परम्परा ही महान परम्परा से ग्रहण करती है और यह अपने में समाहित कर लेती है बल्कि महान परम्परा भी लघु परम्परा से अनेक तत्वों को ग्रहण करती है। इतना अवश्य है कि वर्तमान में लघु परम्परा महान परम्परा से तुलनात्मक दृष्टि से अधिक ग्रहण कर रही है। लघु परम्परा से सम्बन्धित ग्रामीण समाज के लोगों ने महान परम्परा से सम्बन्धित अभिजात वर्ग के लोगों से अनेक भौतिक सुख-सुविधाओं की वस्तुओं को ग्रहण किया है ऊपर अभिजात संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। धार्मिक क्षेत्र में कुछ तत्व जैसे पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क, आत्मा, पुर्नजन्म आदि महान परम्परा के तत्व हैं जिन्हें लघु परम्परा ने अपने में आत्मसात किया है। रामायण और भारत से सम्बन्धित अनेक कथाओं से लेकर ग्रामीण क्षेत्र में प्रदर्शित होने वाले नाटक महान परम्परा के तत्व से लघु परम्परा की ओर सांस्कृति प्रवाह को व्यक्त करता है।

सांस्कृतिक प्रवाह केवल महान परम्परा से लघु परम्परा की ओर ही नहीं होता बल्कि महान परम्परा भी लघु परम्परा के तत्वों को ग्रहण करती है। अभिजात लोगों की पोशाक, वेश-भूषा, उनके खेल-कूद, गायन, नृत्य, विश्वास, अंधविश्वास तथा जीवन से सम्बन्धित अनेक क्षेत्रों के अवलोकन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि कृषक समाजों से सम्बन्धित लघु परम्परा से महान परम्परा कुछ ग्रहण किया है। वर्तमान समय में ग्रामीणों का पहनावा, लोकगीत एवं नृत्य अभिजात लोगों में बहुत लोकप्रिय होते जा रहे हैं। लघु परम्परा में प्रचलित विश्वास एवं अन्धविश्वासों का स्पष्ट प्रभाव है। जैसे अभिजात लोग नवीन प्रकार

से अपने बंगले बनाते हैं एवं उसे नजर से बचाने के लिए उनके ऊपर कोई काला मुखौटा लगा देते हैं। अभिजात लोग भी ग्रामीणों की भाँति शकुन-अपशकुन में विश्वास करते हैं और अपने भविष्य को जानने के लिए और उसे बेहतर बनाने के लिए पंडितों से पूजा करवाते हैं। अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति का प्रवाह महान परम्परा से लघु परम्परा की ओर होता रहता है। इतना अवश्य है कि लघु परम्परा महान परम्परा से जितना ग्रहण नहीं करती।

रॉबर्ट रेडफील्ड के अनुसार सभ्यताएँ और उनकी सामाजिक संरचना भी इन बाह्य सम्पर्कों के माध्यम से परिवर्तित होती हैं। इनके अनुसार सभी सभ्यताएँ अपनी स्वयं की रचनात्मक शक्ति के आधार पर उत्पन्न होती हैं और बाह्य सम्पर्क से इनमें परिवर्तन होता है। रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा प्रस्तावित इस विश्लेषण का प्रयोग मिल्टन सिंगर, मैकिम मैरियट तथा उनके सहयोगियों ने भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने हेतु किया है। मैकिम मैरियट के अनुसार ग्रामीण संस्कृति की संरचना और उसके संगठन में जो लघु परम्परा एवं महान परम्परा के तत्वों से मिलकर बनी है, सांस्कृतिक स्वरूपों के बीच निरन्तर अंतःक्रिया होती रहती है, मैरियट ने अपने किशनगढ़ी के अध्ययन के आधार पर महान परम्परा और लघु परम्पराओं के बीच होने वाली अंतःक्रिया को सार्वभौमिकरण एवं स्थानीयकरण की अवधारणा द्वारा समझाने का प्रयास किया है।

6.5 सार्वभौमिकरण एवं स्थानीयकरण

मैकिम मैरियट ने लघु एवं महान परम्पराओं के मध्य सम्प्रेषण की प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने हेतु सार्वभौमिकरण एवं स्थानीयकरण की दो अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है कि मैं इस पद का प्रयोग न केवल सांस्कृतिक चेतना अपितु सांस्कृतिक विषय वस्तुओं को आगे तथा ऊपर ले जाने की प्रक्रिया के लिए करता हूँ। जब लघु परम्परा के तत्व जैसे देवी-देवता, प्रथाएँ, धार्मिक अनुष्ठान आदि ऊपर की ओर बढ़ते हैं उनके फैलाव का क्षेत्र बढ़ता है तब वे महान परम्परा के स्तर तक पहुँच जाते हैं और उनका मूल स्वरूप परिवर्तन हो जाता है तब इस प्रक्रिया को सार्वभौमिकरण कहते हैं। अर्थात् किसी गाँव की लघु परम्परा का वृहत् परम्परा में परिवर्तित होने की प्रक्रिया सार्वभौमिकरण कहलाती है।

6.5.1 भारत में सार्वभौमिकरण की प्रक्रिया का आधार

सार्वभौमिकरण की प्रक्रिया एक समाज में पाई जाने वाली अनेक आधारों के फलस्वरूप क्रियाशील होती है। भारतीय समाज के संदर्भ में सार्वभौमिकरण की प्रक्रिया के निम्न आधार हैं—

1. अनेक समूहों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान सार्वभौमिकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करता है।

2. किसी समुदाय में किसी प्रभुत्वशाली जाति का होना भी सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया का आधार है जैसे जिस गाँव में ठाकुर, यादव या जाट का प्रमुख है उनका प्रयास होता है कि उनकी परम्परा को गाँव के अन्य जाति के लोग अपना ले ताकि औरों पर उनकी धाक जीम रहे।
3. सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया तभी क्रियाशील होती है जब कोई परम्परा सम्पूर्ण समुदाय के लिए अर्थपूर्ण और लाभकारी हो।
4. सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया में मूल परम्परा में कुछ-न-कुछ परिवर्तन आवश्यक होता है।
5. सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया में समग्रता की ओर होती है।

सार्वभौमीकरण के उदाहरण

सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए त्यौहारों के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि मूल रूप में रक्षाबंधन का त्यौहार ब्राह्मणों का, विजयादशमी का त्यौहार क्षत्रियों का, दीपावली का त्यौहार वैश्यों का, तथा होली शुद्रों का त्यौहार है। लेकिन वर्तमान में जिस में इन त्यौहारों को मनाया जाता है उससे यह स्पष्ट होता है कि इन त्यौहारों का सार्वभौमीकरण हो गया है। जैसे होली का त्यौहार अब इस त्यौहार को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के लोग समान रूप से मनाते हैं। अर्थात् अब यह त्यौहार सभी जातीय भेद-भाव की सीमाओं को पार कर यह त्यौहार पूरे समाज का त्यौहार बन गया है जिसमें सभी लोग शत्रुता को भुलाकर एक-दूसरे से गले मिलते हैं। इस होली के त्यौहार पर न केवल हिन्दू बल्कि सिक्ख, ईसाई यहाँ तक कि मुस्लिमान भी एक दूसरे को बधाई देते हैं। इसी प्रकार दीपावली के संदर्भ में भी समझा जा सकता है कि दीपावली में सभी जाति के लोग अपने मकान में दीप-मालाओं से सजाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि यह त्यौहार सभी जातीय संकीर्णता के अंधकार को दूर करके सबके लिए समान रूप से प्रकाश का संदेश देता है।

6.5.2 स्थानीयकरण

स्थानीयकरण साहित्य एवं धार्मिक महान स्वरूपों आदि को स्थानीय बनाने की एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया भारत की देशी सभ्यता के अंतर्गत लघु समुदायों की एक विशिष्ट रचनात्मक क्रियाओं को प्रदर्शित करती है। मैकिम मैरियट के अनुसार बोधगम्यता के क्षेत्र को सीमित करने, व्यवस्थित एवं चिंतनशील आयामों में कमी लाने, स्थानीयकरण करने तथा साहित्यिक रूपों को क्षेत्र विशेष तक परिमित करने की प्रक्रिया स्थानीयकरण है। स्थानीयकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत भारत की स्वदेशी सभ्यता के अन्तर्गत छोटे समुदायों के विशिष्ट सृजनात्मक कार्य आते हैं। अर्थात् जब कोई स्थानीय समुदाय देश में

प्रचलित किसी भी सांस्कृतिक तत्व के मूल रूप या साहित्यिक स्वरूप व चमक-दमक की परवाह किए बिना ही अपनी खुद की समझ-बूझ तथा सामाजिक सांस्कृतिक विलक्षणता के अनुसार उस सांस्कृतिक तत्व को एक स्थानीय रूप दे देता है तो उस प्रक्रिया को स्थानीयकरण कहते हैं।

इस अर्थ में स्थानीयकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत वृहत समाज से सम्बन्धित किसी सांस्कृतिक तत्व जैसे धार्मिक कृत्य, त्यौहार, व्रत आदि का एक स्थानीय रूप विकसित हो जाता है और स्थानीय रूप उसके मूल रूप से बिलकुल भिन्न या बहुत कुछ भिन्न हो सकता है। इस प्रकार स्थानीकरण एक स्थान विशेष के सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुरूप मूल सांस्कृतिक तत्वों के रूपांतरण की प्रक्रिया को दर्शाता है। जैसे दुर्गा पूजा पश्चिम बंगाल में होती है और उत्तर प्रदेश में भी। लेकिन पश्चिम बंगाल में जिस प्रकार से, जिस साजो-समान प्रसाद आदि के साथ दुर्गा जी का पूजन करते हैं, उत्तर प्रदेश के हिन्दू ठीक वैसा नहीं करते। अर्थात् स्थान विशेष में कुछ विलक्षणता पनप ही जाती है

6.5.3 भारत में स्थानीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कारक

भारत में स्थानीयकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले निम्न कारक हैं—

1—ऐतिहासिक कारक—

भारत एक विशाल देश है। यदि प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास में देखा जाए तो ऐसे कम ही राजा हुए जिन्होंने इस विशाल देश को एक सूत्र में बाधने का प्रयास किया। यदि राजा कमजोर हो जाता था तो सामंत लोग अपने-अपने क्षेत्र का स्वतंत्र घोषित कर देते थे और अपनी स्थानीय विशेषताओं को बनाए रखने का प्रयास करते थे। जिसका परिणाम यह होता था कि उस स्थान विशेष की एक परम्परा बन जाती थी उस परम्परा को बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय लोग विशेष ध्यान देते थे ताकि उनकी अपनी एक अलग पहचान बन सके।

2—भौगोलिक कारक—

यदि हम भारत को देखें तो भारत भौगोलिक दृष्टिकोण से अनेक भागों में विभाजित है। यदि इन भागों की भौगोलिक दशाओं को देखें तो ये अलग-अलग ही नहीं बल्कि एक दूसरे से भिन्न एवं विपरीत भी है। भौगोलिक दृष्टिकोण से भारत में कहीं पहाड़ हैं तो मैदान, कहीं पठार हैं तो कहीं रेगिस्तान कहीं कम वर्षा होती है तो कहीं विश्व में औसत से सर्वाधिक वर्षा होती है। भारत के मृदा एवं वनस्पतियों में भी भौगोलिक भिन्नता के कारण ही विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों का स्थानीयकरण हुआ है।

3—राजनीतिक कारक—

भारत में हमें अनेक विविधता देखने को मिलता है इसमें राजनीतिक विभिन्नता भी उनमें से एक है। भारत में कई क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियाँ हैं। जैसे उत्तराखण्ड में उत्तराखण्ड क्रान्ति दल, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी, वहुजन समाजवादी पार्टी, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल, पंजाब में अकाली दल, महाराष्ट्र में शिव सेना, तमिलनाडु में डी0 एम0 के0 आदि। ये सभी राजनीतिक पार्टियाँ अपने-अपने क्षेत्र में क्षेत्रियता को बढ़ावा देते हैं जिससे स्थानीय संस्कृति को बढ़ावा मिलता है।

4—भाषाई विभिन्नता—

भारत विविधता में एकता वाला देश है यहाँ भौगोलिक विभिन्नता, सांस्कृतिक विभिन्नता, भाषाई विभिन्नता आदि पाई जाती है। भारतीय संविधान के आठवीं अनुसूची के अनुसार वर्तमान में भारत में बाइस भाषा को मान्यता प्राप्त है। जबकि इसके अलावा कई बोलियाँ हैं। इन भाषाई आधार पर कई लोक कथाएँ, लोक संस्कृतियों का विकास हुआ है। इस भाषाई आधार पर ही लोग अपने को अन्य समूहों से अलग मानते हैं। इसका परिणाम यह होता है सबकी अपनी स्थानीय संस्कृति का विकास होता है और स्थानीयकरण की प्रक्रिया की बढ़ावा मिलता है।

6.5.4 धर्म एवं धार्मिक कृतव्यों का स्थानीकरण

मैकिम मैरियट ने स्थानीयकरण की प्रक्रिया को धर्म तथा धार्मिक कृतव्यों जैसे पर्व, त्यौहार व्रत आदि के संदर्भ में समझाने का प्रयास किया है। मैकिम मैरियट उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले के एक गाँव किशनगढ़ी का अध्ययन करते हैं और अपने अध्ययन में स्थानीयकरण के उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं। इनका पहला उदाहरण गोबर्धन पर्व का है। मैरियट बताते हैं कि भागवत पुराण के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण का मानना है कि गऊओं में ही ब्रह्म का निवास है। इसलिए श्रीकृष्ण का गऊओं से विशेष प्रेम था और श्रीकृष्ण ने ब्रज के ग्वालों को यह निर्देश दिया कि वे इन्द्र देवता की पूजा न करके गऊ तथा गऊओं के चराने के स्थान गोबर्धन पर्वत की पूजा करें। ब्रज के ग्वालों ने यहीं किया। इससे इन्द्र देवता क्रोधित हो गए और इन्द्र ने आँधी, पानी तथा तूफान द्वारा ग्वालों एवं गऊ को नष्ट करने का प्रयास किया। लेकिन श्रीकृष्ण ने उसी पहाड़ (गोबर्धन) को उठाकर उसी की आड़ में गऊ तथा ग्वालों की रक्षा की। तभी से इस गोबर्धन पर्वत पर मेला लगता है, उत्सव मनाया जाता है तथा गोबर्धन की पूजा की जाती है। इस मूल पर्व का किशनगढ़ी में किस प्रकार स्थानीकरण हुआ इसका चित्रण मैकिम मैरियट अपने अध्ययन में करते हैं। इनके अनुसार स्वयं गोबर्धन शब्द का स्थानीकरण हो गया है। गोबर्धन (गो+बर्धन) का अर्थ है गऊओं का बर्धन, जबकि किशनगढ़ी में इसके मूल अर्थ में परिवर्तन हो गया।

किशनगढ़ी के लोग गोबर्धन का अर्थ गोबरों का धन लगाते हैं और इसीलिए पुराण में वाणित वह गोबर्धन पर्वत किशनगढ़ी के प्रत्येक घर के बाहर गोबरों के एक ढेर के रूप में देखने को मिलता है। गोबरों के इस पहाड़ पर गोबर से ही गाय दूध दुहने के पात्र आदि सब बनाये जाते हैं। यहाँ परिवार के सभी लोग पहाड़ की पूजा करते हैं उस पर दीप जलाते हैं तथा व्रत रखते हैं। दूसरे दिन सुबह गोबर से संबधित लोकगीत गाए जाते हैं जबकि उस पहाड़ को बिगाड़ दिया जाता है। उस पहाड़ के कुछ गोबर को अलग निकाल कर उसके उपले बनाये जाते हैं जिन्हें होली के अवसर पर होलिका दहन में डालने के लिए रख दिया जाता है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण मैकिम मैरियट नवरात्र पर्व का देते है। नवरात्र पर्व का मूल रूप यह है कि यह पर्व आदि शक्ति माहेश्वरी दुर्गा का पर्व है जिसमें नौ दिनों तक दुर्गा के नौ रूपों की पूजा अर्चना की जाती है। इस नवरात्र का भी किशनगढ़ी में स्थानीयकरण हो गया है। लोग यहाँ दुर्गा देवी के स्थान पर मिट्टी की मुर्ति बनाते हैं और उसे नौरथा देवी कहते हैं। नवरात्र नवों दिन सुबह—शाम घर—घर में नौरथा देवी की पूजा करते हैं एवं लोकगीत गाते हैं। किशनगढ़ी के लोगों का विश्वास है कि नौरथा देवी नव दुर्गा में से एक है।

6.6 सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट बताते हैं कि नगर तथा गाँवों में संस्तरण के आधार एवं प्रकार में हमें भिन्नता देखने को मिलती है। गाँवों में बंद स्तरीकरण पाया जाता है। यहाँ व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण जाति व्यवस्था के आधार एवं समाज द्वारा स्थापित मानक मूल्यों के आधार पर होती है। गाँवों में विजातीय समूहों के बीच सम्बन्धों के कड़े नियम हैं और संदर्भ समूह की बात करें तो उनके आचरण की नकल दुष्कार्यात्मक है। जबकि गाँवों के विपरित नगरीय क्षेत्रों में स्तरीकरण खुला पाया जाता है। नगरों में कोई समूह या व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर जैसे शिक्षा, व्यवस्था आदि को प्राप्त कर अपनी प्रस्थिति को उच्च बना लेता है। नगरीय क्षेत्रों में स्तरीकरण का चरित्र प्रतिक्रियात्मक और अंतःक्रियात्मक है। नगरों की तुलना में गाँवों में जाति व्यवस्था में प्रस्थिति परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मैरियट ने भारत में जाति स्तरीकरण व्यवस्था के संदर्भ में, समूह उपागम के सम्बन्ध में विचार करते हैं और कहते हैं कि भारत में जाति स्तरीकरण व्यवस्था को समझाने के लिए कई स्तरों पर देखना चाहिए। यह स्तर हैं ग्रामीण, नगरीय और महानगरीय स्तर इसके अलावा मानव समूह व्यक्ति और इसी प्रकार के

अन्य निर्मित समूह। मैरियट ने कहा कि किसी भी स्थानीय व्यवस्था में कई क्षेत्रों में उन इकाईयों को देखना जरूरी है जो विभिन्न लक्षणिक अंतरों के आधार पर विभिन्न मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मैरियट के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में स्तरीकरण संरचनात्मक आधारों के प्रतिबिंब का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे तीन क्षेत्र संभावित हैं—

1. ग्रामीण समुदाय या उससे जुड़े अन्य ग्रामीण क्षेत्र ।
2. चन्हित सांस्कृति या भाषाई क्षेत्र ।
3. सम्पूर्ण सभ्यता का क्षेत्र ।

मैकिम मैरियट कहते हैं कि जिस प्रकार अन्य महानगरीय व्यवस्था में जो श्रेणीबद्धता विकसित होती है, वैसी व्यवस्था ग्रामीण समाज में संभव नहीं है। सामूहिक श्रेणीबद्धता में समूह के यदि कुछ भद्रजनों द्वारा स्थिति परिवर्तन के लिए कुछ गुणों को स्वीकार भी कर लें तो भी उस समूह की प्रस्थिति नहीं बदलती। भारत में प्रस्थिति सांस्कृतिक आधार पर परिभाषित की जाती है। भारतीय ग्रामीण जाति व्यवस्था में शुद्धता तथा प्रदूषण, पीढी दर पीढी एक ही व्यवस्था और नातेदारी सम्बन्ध के अनुसार चलती है सामाजिक स्तरीकरण का आधार इसी श्रेणीबद्धता का निर्माण है। भारत में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से प्रस्थिति गतिशीलता ग्रामीण श्रेणीबद्धता व्यवस्था में यह सहयोगी सामूहिक व्यवस्था का प्रतीक है। यही कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में जातियाँ, जनजातियाँ एक साथ ही गतिशील होती हैं। इसके विपरित ऐसी सामूहिकता के अभाव में किसी को भी अपनी प्रस्थिति बदलना संभव है।

मैकिम मैरियट भारत में स्तरीकरणात्मक जटिलताओं का उल्लेख करते हैं और बताते हैं कि इस व्यवस्था में गतिशीलता के क्या प्रयास हैं। सर्वप्रथम ग्रामीण समाज में वाद व्यवस्था, जीवन में संस्कार और प्रदूषण के माध्यम से जाति व्यवस्था में परिवर्तन के अभाव तथा नगरीय क्षेत्रों में योग्यता एवं क्षमता के आधार पर प्रस्थिति में परिवर्तन संभव है। मैकिम मैरियट प्रत्येक जाति के स्थान तथा उसके सामाजिक स्तरीकरण के तीन क्षेत्रों जैसे ग्रामीण क्षेत्र, चिन्हित संस्कृति या भाषाई क्षेत्र एवं सम्पूर्ण सभ्यता के क्षेत्र की चर्चा करते हैं। इनके अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में वर्गों के मापन के लिए जाति श्रेणीबद्धता सबसे महत्वपूर्ण है। वर्ग को मापने का तरीका है मालिक एवं नौकर, गुजरात में गोरा एवं काला आदमी, तो बंगाल में कहार एवं गैर कहार आदि। सभ्यता के क्षेत्र में वर्ण, नृजातीय समूह या शहर जैसे प्रतिमान काम करते हैं। इन तीनों ही आधारों पर बहुत से संदर्भ मॉडल के रूप में काम करते रहते हैं मैकिम मैरियट ने भारत में स्तरीकरणात्मक जटिलताओं का उल्लेख कहीं भी नहीं किया परन्तु उनका विश्लेषण

गहराई से स्तरीकरण की उन प्रक्रियाओं और तरीकों को अवश्य बताया है, जिससे एक स्तर ग्रामीण तथा नगरीय की दूसरे विभिन्न स्तरों जैसे ग्राम, क्षेत्र और सभ्यता के साथ कैसे अंतःक्रिया की जा सकती है।

6.7 निष्कर्ष

मैकिम मैरियट ने भारतीय गाँवों के अध्ययन में रुची ली। इन्होंने ग्रामीण भारत का व्यापक रूप से अध्ययन किया एवं भारत में पाये जाने वाली परम्पराओं का अपने अध्ययन में विस्तार रूप से व्याख्या की। इन्होंने भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए रॉबर्ट रेडफील्ड के अवधारणाओं का प्रयोग किया। इनके अवधारणाओं के आधार पर ही मैकिम मैरियट ने लघु परम्परा एवं महान परम्परा की व्याख्या की। मैकिम मैरियट ने अपने अध्ययन के लिए उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी गाँव को चुना एवं वहाँ महान एवं लघु परम्परा के बीच होने वाले परिवर्तन को देखा। उस परिवर्तन को उन्होंने सार्वभौमिकीकरण एवं स्थानीयकरण के माध्यम से समझाया। अपने अध्ययन में मैरियट ने यह बताने का प्रयास किया कि कैसे लघु परम्परा और महान परम्परा बनती है एवं महान परम्परा, लघु परम्परा के अंग बन जाती है।

6.8 भावी अध्ययन

- 1—Village India : Studies in the Little Community (1955)
- 2—Caste Ranking and Community Structure in the Five Regions of India and Pakistan (1960)
- 3—India Through Hindu Categories (1960)

6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सार्वभौमिकीकरण से आप क्या समझते हैं ? भारत में सार्वभौमिकीकरण की प्रक्रिया के प्रमुख आधारों की विवेचना कीजिए ?
2. स्थानीयकरण से आप क्या समझते हैं ? भारत में स्थानीयकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।
3. लघुपरम्परा एवं दीर्घ परम्परा को परिभाषित करते हुए दोनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित कीजिए ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लघु परम्परा क्या है ?
2. महान परम्परा से आप क्या समझते हैं ?
3. लघु एवं महान परम्परा के बीच अन्तर स्थापित करें ?
4. स्थानीयकरण क्या है ?
5. सार्वभौमिकीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करें ?
6. स्थानीयकरण एवं सार्वभौमिकीकरण में अन्तर स्पष्ट करें ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सार्वभौमिकीकरण तथा स्थानीयकरण की अवधारणा किसने दी ?
(अ) मैकिम मैरियट (ब) रॉबर्ट रेडफील्ड

- (स) मिल्टन सिंगर (द) योगेन्द्र सिंह
2. लघु परम्परा एवं महान परम्परा की अवधारणा किसने दी ?
 (अ) मिल्टन सिंगर (ब) मैकिम मैरियट
 (स) रॉबर्ट रेडफील्ड (द) इनमें से कोई नहीं
3. किशनगढ़ी किस राज्य में अवस्थित है ?
 (अ) बिहार (ब) उत्तर प्रदेश (स) मध्य प्रदेश (द) राजस्थान
4. महान परम्परा का जन्म होता है ?
 (अ) विद्यालय तथा देवालय (ब) ग्रामीण समुदाय
 (स) जनजातिय समुदाय (द) कृषक समुदाय
- उत्तर— 1—अ, 2—स, 3—ब, 4— अ,

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

Desai, A. R. (1969), Rural Sociology in india, Bombay : Popular Parkashan.

Doshi, S.L. and P.C. Jain (1999), Rural Sociology, Jaipur/new Delhi : Rawat Publications.

Marriot, Mckim (1959), 'Interactional and attributional Theories in caste ranking', Man in India, vol.39,pp, 127-147.

-(ed.) (1961), village India, Bombay : Asia Publishing House.

-(1965) Casre Ranking and community Structure in the Five Regions of India and Pakistan, Poona : G.S. Press.

Marriot, Mckim (Ed.) (1990), India Through Hindu Categories, New delhi: Sage Puclications.

Sharma, Surendra (1985), Sociology in India : A Prespective From Sociology of Knowledge, Jaipur : Rawat Publications.

Singer, Milton (1964), The Social Organizations of Indian Civilization. Diogenes, Vol.45. Winter.

इकाई—07
 डीपी मुखर्जी (DP Mukerji)

7.1: उद्देश्य

7.2: परिचय

7.2.1: जीवन परिचय

7.2.2: योगदान एवं उल्लेखनीय कार्य

7.3: दृष्टिकोण एवं कार्यशैली

7.3.1: मार्क्सवादी दृष्टिकोण

7.3.2: प्रत्यक्षवाद एवं निष्पक्षतावाद की समालोचना

7.3.3: द्वैतवाद का विरोध

7.3.4: समाज विज्ञान की एकता/संयोग

7.4: व्यक्तिवाद से विकास: पुरुषवाद**7.5 भारतीय मनीषी****7.6: साम्यवाद क्या है****7.7: भारतीय मध्यम वर्ग****7.8: निष्कर्ष****7.9: सन्दर्भ****7.1: उद्देश्य (Objectives)**

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य निम्नवत हैं:

1. डीपी मुखर्जी और उनके कार्यों का संक्षिप्त विवरण
2. डीपी मुखर्जी के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को समझना
3. पुरुषवाद के विषय में डीपी के विचारों को जानना
4. भारतीय मनीषियों, बुद्धिजीवियों को लेकर मुखर्जी के विचार
5. भारतीय मध्यम वर्ग के अध्ययन में मुखर्जी के योगदान को समझना

7.2: परिचय (Introduction)

धुर्जति प्रसाद मुखर्जी (1894–1961) को सामान्यतः डीपी नाम से जाना जाता है। वह लखनऊ स्कूल ऑफ समाजशास्त्र से जुड़े थे और भारतीय समाजविज्ञान के संस्थापक जनकों में इनकी गिनती होती है। डीपी को विलक्षण लेखक, शोधकर्ता और आलोचक के तौर पर जाना जाता है, जिन्होंने अपने व्याख्यानो से छात्रों को प्रभावित किया। उत्साही, आकर्षक व्यक्तित्व और ऊर्जावान विचारों वाले डीपी अपने दौर के प्रमुख बुद्धिजीवियों में से एक थे (Narain 1967, pp-xix)। डीपी संगीत, कला, साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान, इतिहास और राजनीति समेत ज्ञान के विभिन्न आयामों में रुचि रखते थे। डीपी मानते थे कि ये सभी सिद्धांत परस्पर विभक्त नहीं, बल्कि संयुक्त थे। इसीलिए वह पाश्चात्य ज्ञान की संकीर्ण सैद्धांतिक सीमाओं और कृत्रिम स्वरूप के आलोचक थे। डीपी मुखर्जी को श्रद्धांजलि के तौर पर वीबी सिंह ने लिखा है, 'डीपी ने भारतीय विचारों की पूरी ताकत और मर्यादा के साथ रक्षा की। वह अपने विचारों और कार्यों के जरिये स्वतंत्रता के लिए दृढ़तापूर्वक खड़े रहे।' (1967, pp. xiii) राधाकमल मुखर्जी और डीपी मुखर्जी भारतीय समाजविज्ञान के प्रणेता माने जाते हैं, जिन्होंने लखनऊ स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी की स्थापना की। स्वतंत्रता के बाद भारत में इन्हीं विद्वानों ने समाजशास्त्र की नींव रखी।

मदन (1994) एवं जोशी (1986) भारत में समाजशास्त्र के संस्थापक जनकों के महत्व को इसलिए जरूरी बताते हैं, क्योंकि इन्होंने ही भावी पीढ़ियों के लिए अध्ययन के पथ का विकास किया। स्व. डीपी मुखर्जी की याद में वे बताते हैं कि समाज विज्ञान के अध्ययन के लिए इतिहास, बौद्धिक परंपराओं को जानना-समझना आवश्यक है, ताकि विरासत के जुड़ाव के साथ अवनति से बचा जा सके। इस सलाह को ध्यान में रखते हुए हम विद्वान मुखर्जी के जीवन को जानने का प्रयास करेंगे।

7.2.1: जीवन परिचय (Biographical Sketch)

पांच अक्टूबर 1894 को डीपी मुखर्जी का जन्म कुलीन, उच्चशिक्षित बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ। स्कूली पढ़ाई के दौरान ही डीपी की विलक्षण अध्ययन प्रतिभा उभरकर सामने आई। हालांकि, बीमार रहने के कारण मुखर्जी की पढ़ाई में निरंतर बाधा बनी रही। वस्तुतः इसी कारण उन्हें लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से अपना दाखिला निरस्त करवाना पड़ा, जहां वह उच्च शिक्षा के लिए जाने वाले थे। 1916 में मुखर्जी ने कलकत्ता के बंगभाषी कॉलेज से बीए किया। (Munshi 2009). इसके बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय से उन्होंने इतिहास और अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर किया। उनके मुखर्जी की ही तरह डीपी भी विज्ञान पढ़ना चाहते थे, लेकिन उन्होंने अर्थशास्त्र, इतिहास और राजनीति विज्ञान जैसे सामाजिक विषयों का चयन किया। इसके बाद बंगभाषी कॉलेज में ही उनके अध्यापन कार्य की शुरुआत हुई। (Madan 1994)

1922 में मुखर्जी अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र प्रवक्ता के रूप में लखनऊ विवि से जुड़े। राधाकमल मुखर्जी ने डीपी को लखनऊ विवि बुलाया था, जिसके बाद इन दोनों ने छह वर्ष बाद विवि से जुड़े डीएन मजूमदार संग मिलकर उस स्कूल की स्थापना की, जिसे लखनऊ स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी के नाम से जाना जाता है। 20 वर्ष तक प्रवक्ता के रूप में कार्य के बाद वर्ष 1945 में डीपी रीडर बने और 1949 में वह प्रोफेसर बनाए गए। आचार्य नरेन्द्रदेव ने मुखर्जी के योगदान को देखते हुए उन्हें व्यक्तिगत रूप से यह पद दिया, क्योंकि तब विवि में एक विभाग में एक ही प्रोफेसर की नियुक्ति का नियम था। वर्ष 1954 में सेवानिवृत्ति के बाद अलीगढ़ विवि के डॉ. जाकिर हुसैन ने उन्हें अर्थशास्त्र विभाग के प्रमुख का पद लेने का अनुरोध किया। (Avasthi 1997)

लखनऊ विवि में कार्यकाल के दौरान डीपी ने 1938 में उत्तर प्रदेश सरकार के सूचना निदेशक और 1947 में उग्र श्रम निरीक्षण कमेटी के सदस्य के तौर पर भी काम किया। अध्यापन कार्य के दौरान डीपी ने विदेशों में भी कई व्याख्यान दिए और कई सेमिनारों में प्रतिभाग किया। वर्ष 1952 में वह तीन माह तक सोवियत यूनियन में रहे, जबकि 1953 में वह अतिथि प्रवक्ता के तौर पर हेग गए। इसके अलावा ऑक्सफोर्ड और पेरिस में भी डीपी मुखर्जी को व्याख्यान के लिए बुलाया गया। वर्ष 1955 में डीपी मुखर्जी के गले में कैंसर की पुष्टि हुई। इसके बाद लंबे समय तक उनका उपचार भी चला, लेकिन वर्ष 1961 उनका निधन हो गया। (Munshi 2009).

7.2.2: योगदान एवं उल्लेखनीय कार्य (Contributions and Major Works)

डीपी के कार्यों और योगदान के बारे में जानने से पहले हम उस दौर की सामाजिक स्थितियों के बारे में समझेंगे, जब डीपी ने लेखन कार्य प्रारंभ किया। बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध रूस में सामाजिक क्रांति और

इसके बाद दूसरे विश्व युद्ध को देख चुका था। रूस के साम्यवाद ने भारत पर भी प्रभाव डाला। इसके चलते भारत में भी कुछ भागों में कामगारों, मजदूरों के संघर्ष विकसित हुए। यद्यपि डीपी रूस में साम्यवाद की सफलता के आलोचक थे, तथापि वह मार्क्सवाद और इसकी क्षमताओं पर विश्वास करते थे। डीपी उस दौर के उन विद्वानों में एक थे, जिन्होंने औपनिवेशिक दासता के दौर से मुक्ति पाने के लिए राष्ट्रवादी आंदोलन, स्वतंत्रता और इसी के साथ देश के विभाजन को नजदीक से देखा—महसूस किया। उस दौर में भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में राष्ट्रवाद मुख्य भाव था। यह वह समय था जब भारत पर ब्रिटिश सत्ता कायम थी और इस शासन को सभ्यता के नाम पर न्यायोचित करार देने की कोशिशें की जाती थीं, इसे **Whiteman's burden** के नाम से भी जाना जाता है। इसके चलते भारत की छवि एक विकासशील समाज के तौर पर बनाई गई, जिसे सभ्यतागत विकास की आवश्यकता थी। डीपी ने यूरोप केंद्रित इस पक्षपाती ज्ञानोत्पादन को चुनौती देते हुए वास्तविक भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन का अपना दृष्टिकोण विकसित किया। वस्तुतः डीपी ऐसा व्यक्तित्व थे, जिनके मन में भारतीय परंपराओं को लेकर गहरा विश्वास, आत्मसम्मान और इसकी प्रतिष्ठा का भाव था। उन्होंने एक नये दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति, सभ्यता के गौरव को स्थापित करने का काम किया, जिसे उन्होंने मार्क्सोलॉजी (Marxology) नाम दिया।

जैसा कि हम पहले ही जान चुके हैं कि डीपी ने संगीत, कला, साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, इतिहास, राजनीति जैसे विभिन्न आयामों में काम किया। उन्होंने *Personality and the Social Sciences* (1924), *Basic Concepts in Sociology* (1932), *On Indian History: A Study in Method* (1945), *Introduction to Indian Music* (1945), *Views and Counterviews* (1946), *Problems of Youth* (1946), *Modern Indian Culture* (1948), *Diversities* (1958) and *Tagore: A Study* (1972) पुस्तकों का लेखन भी किया। इनके अलावा डीपी सबुज पात्रा, परिचय, स्वराज्य, नेशनल हेराल्ड समेत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी नियमित रूप से लेख लिखा करते थे। अपने दौर के अन्य विद्वानों की तरह डीपी ने नव स्वतंत्र भारत में समाज विज्ञान की जड़ों तक पहुंचने का प्रयास किया। इसका एक कारण यह था कि समाज विज्ञान के सिद्धांत भारत के लिए नये थे, क्योंकि ब्रिटिश ने इन्हें सर्वप्रथम भारत में लागू किया था। इसके चलते ये सिद्धांत भारतीय समाज के मूल, बुनियादी अवधारणाओं के अध्ययन के लिए आवश्यक बना दिए गए थे। अपनी पुस्तक *Basic Concepts in Sociology* (1932) में डीपी समाज विज्ञान की अवधारणा और तरीकों को लेकर कई प्रश्न उठाए। इस पुस्तक में उन्होंने वैज्ञानिक तरीकों की सीमाओं और प्रकृति का भी परीक्षण किया। डीपी वैज्ञानिक पद्धति के औपचारिक तरीकों से प्रारंभ करते हुए जानकारी के वैज्ञानिक तरीकों की आलोचना करते हैं। वह तर्क देते हैं कि कुछ तथ्यों की उपलब्धता जानकारी के लिए पर्याप्त नहीं है। वह व्यक्तित्व के विकास के कारणों, महत्व पर जोर देते हैं। डीपी विकास, समानता, सामाजिक ताकतों, सामाजिक नियंत्रण का भी जिक्र अपनी पुस्तक में करते हैं, लेकिन इन सबका वर्णन व्यक्तित्व के प्रसंग में ही किया गया है।

डीपी समाज विज्ञान, विशेषतः इतिहास के अध्ययन की अवधारणाओं की खोज को आगे अपनी पुस्तक *On Indian History: A Study in Method* (1945) में भी जारी रखते हैं। इसमें अध्ययन के लिए विशुद्ध वैज्ञानिक और संस्थागत तरीकों को अनुपयुक्त पाते हुए डीपी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को समाजशास्त्रीय

और ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए उपयोगी बताते हैं। इन दो महत्वपूर्ण कार्यों के अलावा स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान लिखे गए डीपी के विभिन्न लेखों, सेमिनार में दिए गए व्याख्यानों का संकलन *Diversities* (1958) पुस्तक के रूप में भी उनके योगदान को सामने लाता है। इस पुस्तक में डीपी के लेख चार भागों में हैं। पहला भाग आर्थिक योजनाओं और इनके मानव, मानवीय पहलुओं से संबंध पर आधारित है। दूसरे भाग में भारतीय इतिहास-दर्शन का जिक्र किया गया है। तीसरा भाग समाज विज्ञान से जुड़ा हुआ है। इसमें समाजवाद की अवधारणा में व्यक्तित्व के अध्ययन का जिक्र किया गया है। चौथे और अंतिम भाग में साहित्य की सामाजिक दिक्कतों, कल्पनाओं (Fiction), सामाजिक अवधारणाओं और सामाजिक परिवर्तन का जिक्र डीपी ने किया है।

अंग्रेजी के अलावा डीपी ने बांग्ला भाषा में भी काफी लेखन किया। वास्तव में उनके कई महत्वपूर्ण लेख बंगाली में ही थे, जो बांग्ला भाषा नहीं जानने वाले अध्ययनकर्ताओं के लिए शुरुआत में उपलब्ध नहीं थे। ऐसे में कुछ बंगाली शोधकर्ताओं ने डीपी के महत्वपूर्ण लेखों को अंग्रेजी में अनुवाद किया। *Redefining Humanism* (2009) ऐसे ही आठ निबंधों का संग्रह है, जो डीपी के बंगाली लेख संग्रह 'बक्तब्य' का अंग्रेजी अनुवाद है। इन निबंधों से मार्क्सवाद, मानवतावाद और व्यक्तिवाद (पुरुषवाद) के संबंध में डीपी के विचारों की जानकारी मिलती है। ये सभी निबंध भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान लिखे गए थे। इस संग्रह में डीपी भारतीय और यूरोपीय दृष्टिकोण के संदर्भ में मानवतावाद का परीक्षण करते हैं और तर्क देते हैं कि भगवान पर विश्वास कम होने के इस दौर में व्यक्ति पर विश्वास की अवधारणा को विकसित करने की जरूरत है। वह मानवतावाद का अपना दृष्टिकोण सामने रखते हैं जो पुनर्जागरण मानवतावाद से अलग है। डीपी पुरुषवाद के विचार को बढ़ाते हैं।

डीपी के महत्वपूर्ण योगदानों में से एक मुख्य कार्य यह था कि उन्होंने मध्यमवर्ग, इसकी शक्ति, कमजोरियों, विकास आदि पहलुओं पर विस्तृत अध्ययन किया। उन्होंने स्वतंत्रता के पश्चात इस वर्ग के प्रसार और योगदान के अध्ययन को लेकर सिद्धांतों का भी प्रतिपादन किया। उस दौर में जबकि भारत में मध्यमवर्ग को लेकर साहित्य-शोध का नितान्त अभाव था, डीपी के ऐतिहासिक मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने इस वर्ग के अध्ययन को लेकर बुनियादी जानकारियां उपलब्ध कराने में मदद की।

7.3: दृष्टिकोण एवं कार्यशैली (Approach and Method)

7.3.1: मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Marxological Approach)

डीपी के लिए माध्यम, कार्यशैली या तरीका जानकारी हासिल करने का उपक्रम है। वह मानते हैं कि यह जीवन में ही उपलब्ध है और इसके चलते कार्यशैली का भी जीवन चक्र है, जिसमें कई विभिन्नताएं-विविधताएं भी सामने आती हैं। डीपी मानते हैं कि हर कार्यशैली का पुनरोदय होता है, लिहाजा प्रत्येक माध्यम में स्वयं को बेहतर बनाने की क्षमता रहती है। इसकी प्रकृति द्वंद्वत्मक होती है, जिसके चलते कार्यशैली में बेहतरी के लिए निरंतर विकास और परिवर्तन सामने आते हैं। तर्क (Logic) कार्यशैली में आने वाले इस अंतर के महत्वपूर्ण कारक हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी

विचार के अनुसार ज्ञान का महत्व सिर्फ जानकारी हासिल करने के लिए नहीं है, बल्कि इसका मकसद रूपांतरण या पूर्ण परिवर्तन से है। यही वजह है कि डीपी मानते हैं कि व्यक्तित्व का विकास ही ज्ञान का मूल आधार बिन्दु है। वह कहते हैं कि ज्ञान को व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन और बेहतर जीवनशैली उपलब्ध कराने का जरिया होना चाहिए। डीपी मानते हैं कि हर दृष्टिकोण का अंतिम बिन्दु बेहतर जीवनशैली ही है। इस प्रकार दृष्टिकोण या कार्यशैली बेहतर जीवन की ओर बढ़ने वाला कदम है। (Mukerji 2004)

इससे स्पष्ट होता है कि हर कार्यशैली समय के साथ अनुपयुक्त होती जाती है और उसकी जगह नये तरीके ले लेते हैं। डीपी के अनुसार समाजशास्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप नया है, लिहाजा इसकी पूर्ववर्ती स्थिति में प्रचलित तरीके, माध्यम, अवधारणाएं और कार्यशैली क्षीण हो जाते हैं। इसलिए मौजूदा दौर के सफल अध्ययन के लिए नयी अवधारणाओं और तरीकों का विकास आवश्यक होता है। वह बताते हैं कि यदि समाजशास्त्र में मूल्यों और न्याय का अध्ययन करना हो तो कार्यशैली में बदलाव और अवधारणाओं में परिवर्तन नितांत जरूरी हो जाता है। डीपी मानते हैं कि इस तरह की अवधारणा और माध्यम मार्क्सवाद में उपलब्ध है। अपनी पुस्तक *On Indian History: A Study in Method* (1945) में डीपी द्वंद्व को सामाजिक विश्लेषण के अध्ययन का जरिया मानते हैं। हालांकि, वह हर सामाजिक शोधकर्ता के लिए यह जरूरत भी जताते हैं कि वह इस अवधारणा को ध्यान में रखते हुए सांस्कृतिक और पारंपरिक लिहाज से अध्ययन का अपना तरीका भी विकसित करे। यानी मार्क्सवाद को अध्ययन की जाने वाली सामाजिक व्यवस्था की सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप अनुकूल बनाकर देखना चाहिए, विचार और सैद्धांतिक रूप से ठोस रूप में नहीं। इस तरह डीपी मार्क्सवाद के भारतीय संस्करण (Indianized) को बढ़ावा देते हैं, जिसमें सामाजिक अध्ययन के दौरान भारतीय परंपराएं और इतिहास महत्वपूर्ण भूमिकाओं में रहती हैं। इस प्रकार डीपी की मार्क्सोलॉजिकल अवधारणा ऐसे सिद्धांत को विकसित करती हैं, जिसमें सामाजिक विश्लेषण में ऐतिहासिक द्वंद्वतात्मकता अहम हो जाती है। विशेष बात यह है कि यहां द्वंद्व और इतिहास दोनों में ही परंपराओं और विरासती सभ्यताओं का भी समावेश रहता है। डीपी स्वयं को मार्क्सवादी (Marxist) के बजाय मार्क्सोलॉजिस्ट (Marxologist) कहलाना पसंद करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि उनके लिए मार्क्सवाद (Marxism) राजनैतिक विचारधारा नहीं, बल्कि सामाजिक अध्ययन का एक माध्यम है। हालांकि, डीपी ने इस ढांचे (Framework) का किसी आनुभविक (Empirical) शोध में उपयोग नहीं किया। डीपी ने भारतीय पारंपरिक समाज के अध्ययन, शोध के लिए सर्वे, मात्रात्मक गणितीय पद्धतियों की उपयोगिता को लेकर सदैव प्रश्न खड़े किए। वह मानते थे कि शोध के ये माध्यम व्यक्तिवादिता (Individualism) के बजाय संघीय, सामूहिक ढांचे पर आधारित भारतीय समाज के लिए अनुपयोगी थे (Singh 2004, pp. 102; 116). दूसरी ओर, रामकृष्ण मुखर्जी (1983) सामाजिक घटनाक्रमों, स्थितियों के अध्ययन के लिए सांख्यिकीय (Statistical) विश्लेषण का उपयोग करते हैं और इसे जरूरी मानते हैं।

7.3.2: प्रत्यक्षवाद-निष्पक्षतावाद की समालोचना (Critique of Positivism & Objectivity)

अपनी पुस्तक *Basic Concepts in Sociology* (2004) में डीपी बताते हैं कि सामाजिक अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है, लेकिन वे प्रत्यक्षवाद को इसके लिए उपयुक्त नहीं मानते। प्रत्यक्षवादी

दृष्टिकोण निष्पक्षतावाद और मूल्यों की तटस्थता के आदर्श पर आधारित है। इसलिए इस आधार पर अध्ययन के दौरान शोधकर्ता के लिए अध्ययनवस्तु से जुड़ाव नहीं करने की अपेक्षा की जाती है, ताकि वह अध्ययन की प्रक्रिया मूल्यांकन और पक्ष बनने से बचा रहे और अध्ययन के परिणाम सार्वभौमिक रूप से उपयुक्त हों। डीपी ने सामाजिक अध्ययन में मूल्यांकन की तटस्थता को चुनौती दी। उन्होंने कहा कि प्रकृति विज्ञान से इतर सामाजिक विज्ञान में प्रत्यक्ष अस्तित्वमान मॉडल (Objectively Existing Model) का अभाव होता है (Mukerji 1945, pp. 22). वैज्ञानिक दृष्टिकोण की तरह मार्क्सवादी दृष्टिकोण घटनाओं को 'Royal box in a theatre' (यानी परिस्थितियों, संदर्भों के बाहर से) की तरह नहीं देखता है। डीपी मानते हैं कि अध्ययन का यह तरीका इसलिए अधूरा है, क्योंकि शोधकर्ता स्वयं परिस्थितियों और अध्ययनवस्तु से जुड़ नहीं पाता है। वह कहते हैं कि शोध मूल्यांकन की प्रक्रिया तभी पूर्ण हो सकती है, जबकि शोधकर्ता स्वयं भी ज्ञानोत्पादन की प्रक्रिया में निहित हो। इस प्रकार वह मानते हैं कि अनुसंधानकर्ता स्वयं भी शोधकार्य का अहम हिस्सा है। डीपी लिखते हैं, 'अध्ययन की प्रक्रिया में अध्ययनकर्ता स्वयं भी उन उपकरणों, उपकरणों का भाग होता है, जिनका उपयोग वह शोध में करने वाला है। वह स्वयं भी पूरी शोध प्रक्रिया का अंग होता है। हालांकि, वह उसी स्वरूप में शोध का हिस्सा होता है, जबकि वह अध्ययन के लिए शोधवस्तु में प्रवेश करता है यानी उससे जुड़ जाता है।' (ibid. pp. 32).

डीपी कहते हैं कि यहां शोधकर्ता को शोधवस्तु में प्रवेश का तात्पर्य सतही संपर्क से नहीं है, बल्कि ऐसी प्रक्रिया से है, जिसमें प्रशिक्षित शोधकर्ता त्रुटियों को नगण्य करने के लिए सभी जरूरी कदम उठाता है और अध्ययन के लिए उपलब्ध विभिन्न अवधारणाओं में से सबसे उपयोगी दृष्टिकोण का चयन कर पाता है। वह आमूल परिवर्तन का भी काम कर पाता है, जिससे शोध और शोधकर्ता दोनों रूपांतरित होते हैं।

7.3.3: द्वैतवाद का विरोध (Against Dualism)

डीपी के विचारों में मुख्यतः कृत्रिमता की झलक मिलती है। उनके पास एक समग्र दृष्टिकोण था, जो उन्हें अद्वैतवादी तरीके से संकल्पना करने में सहायता करता था। अपने दौर के अधिकतर विचारकों के विपरीत डीपी मानते थे कि सिद्धांत और अभ्यास में विरोधाभास था। ठीक यही सोच वह दर्शन और विज्ञान, परंपरा एवं आधुनिकता, सार्वभौमिकता एवं व्यक्तिवादिता को लेकर भी रखते थे। हालांकि, वह यह भी मानते थे कि अधिकतर द्वैत संयुक्त यानी परस्पर जुड़े हुए थे। उनके ऐसा मानने के पीछे मार्क्सवाद और भारतीय सामाजिक विचारों पर उनका विश्वास था। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से डीपी ने इन दोनों परस्पर विरोधी विचारों के बीच द्वंद्व का सिद्धांत रखा। पुस्तक *Basic Concepts in Sociology* (2004) में डीपी सुझाव देते हैं कि विज्ञान और दर्शन दोनों को एक-दूसरे के विकास में सूचनाओं के आदान-प्रदान के जरिये योगदान देना चाहिए। वह कहते हैं कि विज्ञान को दर्शनवादी होना होगा, जबकि दर्शन को वैज्ञानिक। दोनों को तार्किक बनकर बेहतर जीवनशैली के लक्ष्य की ओर बढ़ना होगा। इसी तरह, डीपी मानते थे कि परंपरा और आधुनिकता को भारतीय समाज के आधुनिकीकरण के लिए साथ-साथ आगे बढ़ना होगा। डीपी के लिए आधुनिकता वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसमें पारंपरिक मूल्यों, सभ्यतागत-सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का विस्तार, उन्नति, मूलाधार की दृढ़ता और पुनरुद्धार होता है। वह मानते हैं कि आधुनिकता इन सब बिंदुओं से खुद को अलग नहीं करती, क्योंकि वह परंपराओं के साथ गहरी जुड़ी होती है। (Madan 1977, pp. 169) बांग्ला भाषा में लिखे लेख *Marxvada O*

Manushyadharm (Marxism and Humanism) में डीपी तर्क देते हैं कि आम और खास के बीच चलने वाला तनाव मार्क्सवाद के जरिये समाप्त किया जा सकता है। वह बताते हैं कि सामान्य (सार्वभौमिक) अवधारणा प्राकृतिक नियमों के निर्धारण पर बल देती है जो मानव समाज को अनुशासित, नियमित करते हैं। जबकि विशेष अवधारणाएं व्यक्ति के संदर्भ में सामान्य अवधारणाओं के सिद्धांतों को नकार देती हैं। वह मानते हैं कि कोई भी सार्वभौमिक नियम सभी मानव समाजों, सभ्यताओं पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता। हालांकि, डीपी ने यह भी बताया कि मार्क्सवाद इस अंतर्विरोध का समाधान करता है। वह कहते हैं कि मार्क्सवाद की अवधारणा में व्यक्ति को अलग, लेकिन सामाजिक ढांचे में स्थित माना जाता है। यानी व्यक्ति को समाज से ही समझा जा सकता है, सीधे नहीं। वह लिखते हैं—

‘मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति का हिस्सा है, फिर भी वह स्वतंत्र है। वह जानकारी लेकर, आलोचना, निर्णय, बुद्धि और क्रिया के माध्यम से मानव प्रकृति को अपनी सुविधानुसार मोड़-बदल सकता है। मार्क्सवादी अवधारणा प्राथमिक रूप से संयोजन की है, कुछ विशेष मामलों में यह वियोजन को बढ़ाती है। इसका मूल सिद्धांत जीवन प्रक्रिया का निरीक्षण, परीक्षण, सामान्यीकरण, वर्गीकरण और वृहद अध्ययन है और इन सब परिभाषाओं, विश्वास आदि के माध्यम से मानव गतिविधियों को स्पष्ट करना है’ (2009 pp.54).

7.3.4: समाज विज्ञान की एकता/संयोग (Unity/ Synthesis of Social Sciences)

डीपी अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों के प्राध्यापक थे। स्नातकोत्तर की शिक्षा के दौरान उन्होंने इतिहास का भी प्रशिक्षण लिया। अलग-अलग विषयों के शिक्षण-प्रशिक्षण ने डीपी को समाजविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से परिचित कराया। पुस्तक *Diversities* के आमुख में वह लिखते हैं—

‘मेरे पाठक मानते हैं कि मेरी रुचि एक से अधिक क्षेत्रों में है और वे कई सतहों में खो जाती हैं। वे मानते हैं कि इनका एक या दो क्षेत्रों तक ही सीमित रहना बेहतर होता। लेकिन मैं विस्तृत पैमाने पर सोचने के लिए प्रशिक्षित हुआ था। इसने मुझे चीजों को गहराई से समझने की क्षमता देने के साथ छिपी हुई खूबियों को भी पहचान पाने में दक्ष बनाया। इसके कारण मैं सिर्फ सामान्य सतही अवलोकन पर ही नहीं रुक सकता। मैंने प्रारंभ से ही अपने कार्य में समाज विज्ञान के संयोजन को माना है।’ (1958, pp. viii).

इसी पुस्तक में डीपी अर्थशास्त्र, दर्शन, इतिहास, साहित्य, समाजशास्त्र जैसे अलग-अलग क्षेत्रों के विभिन्न मसलों पर चर्चा करते हैं। पुस्तक में डीपी ने इन सभी क्षेत्रों के परस्पर संयोजन और संबंध को उभारा है। इसी प्रकार अपनी पुस्तक *On Indian History* (1945) में न सिर्फ इतिहास के अध्ययन की पद्धति विकसित करते हैं, बल्कि यह तर्क भी देते हैं कि इतिहास और समाजशास्त्र एकसमान हैं और दोनों को एक-दूसरे का सहयोग लेते रहना चाहिए। डीपी मानते हैं कि अर्थशास्त्र की जड़ें समाजशास्त्र में होनी चाहिए, जबकि समाजशास्त्र का स्वरूप ऐतिहासिक होना चाहिए, दूसरी ओर इतिहास को दर्शन से संयुक्त होना चाहिए। वह कहते हैं कि इस प्रकार शोधकर्ता के पास व्यापक दृष्टिकोण का होना

आवश्यक है। उसका संकीर्ण सैद्धांतिक सीमाओं में ही बंधे रहना शोध की सफलता के लिए अनुपयुक्त होगा।

7.4: व्यक्तिवाद से विकास: पुरुषवाद (Progress Through Personalism: Purushavada)

अपनी किताब Basic Concepts in Sociology (2004) में डीपी विकास के विचारों के इतिहास को इंगित करते हैं और समाजशास्त्रियों के लिए इसका महत्व बताते हैं। वह तर्क देते हैं कि समाजशास्त्र में विकास को दो दृष्टिकोण से देखा जाता है, पहला क्रमागत उन्नति (Evolutionary Progress) और दूसरा सांख्यिकीय विकास (Statistical Progress)। वह बताते हैं कि क्रमागत उन्नति के समाजशास्त्र में क्रमानुसार विकास के चक्रों के सिद्धांत को ध्यान में रखा जाता है, उदाहरण के लिए सामाजिक डार्विनवाद। दूसरी ओर, सांख्यिकीय दृष्टिकोण में विकास को अंकों और आंकड़ों की नजर से देखा जाता है, उदाहरण के लिए मृत्युदर, श्रममूल्य, शिक्षा आदि। डीपी मानते हैं कि ये दोनों ही दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण हैं। वह कहते हैं कि क्रमागत विकास को ध्यान में रखने वाले मूल्यों (Values) के महत्व को नकार देते हैं और विकास बनाम परिवर्तन और विकास बनाम उन्नति का अंतर स्पष्ट नहीं कर पाते। दूसरी ओर, सांख्यिकीय तरीके में परीक्षणों की ऐसी सार्वभौमिक शृंखला तैयार की जाती है जो सभी लोगों पर समान रूप से मान्य हो, लेकिन ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि अलग-अलग काल और स्थान पर मूल्यों में अंतर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

डीपी मानते हैं कि विकास की समस्या मानवीय प्रयासों के पूरे क्षेत्र को आच्छादित करती है। यह समय की दिशा में विभिन्न माध्यमों और विकास के तरीकों के जरिये बढ़ती है। बुनियादी स्तर पर यह मूल्यों के संतुलन की समस्या है। हालांकि, मूल्यों की प्रवृत्ति अनुक्रमानुगत (Hierarchical) होती है, इसलिए मौलिक (Ultimate) और बुनियादी मूल्य की खोज करना आवश्यक हो जाता है। डीपी ने उपनिषदों के माध्यम से इन मूल्यों को शांति, शिवम् एवं अद्वैतम् (Peace, Welfare and Unity) बताया है।

डीपी लिखते हैं—

‘सबसे पहला सिद्धांत सामंजस्य (Harmony) का है जो संपूर्ण जगत को निरंतर परिवर्तनों, गतिशीलता और अंतर्विरोधों के बीच भी अस्तित्वमान रखता है। दूसरा सिद्धांत है सामाजिक पारिस्थितिकी में सहयोग (Co-ordination)। तीसरा सिद्धांत व्यहार, अंतर्विरोधों की विविधताओं के अतिक्रमण से एकता को परिलक्षित कर विचारों व क्रियाओं के माध्यम से अवर्णनीय प्रसन्नता की ओर समाज को बढ़ाता है। इस विचार से उन्नति मौलिक रूप से व्यक्ति के विकास में अंतर्निहित होती है, जिसमें सामंजस्य, कल्याण और एकता के सिद्धांतों को लगातार मान्यता दी जाती है।’ (op.cit. Madan 1977, pp 159-160).

इस तरह डीपी विकास की पाश्चात्य धारणा को अपनिषदीय भारतीय पारंपरिक विचार के साथ जोड़ते हैं। डीपी विकास के विचार को सिर्फ व्यक्ति और व्यक्तित्व तक देखते हैं। यदि हम उनके विचार से व्यक्ति को निकाल दें तो यह अत्यधिक संक्षिप्त और मूल्यरहित हो जाएगा। व्यक्ति विकास की सर्वाधिक गतिशील इकाई है। डीपी मानते हैं कि विकास का संदर्भ बिंदु किसी विशेष क्षेत्र में विशेष समय में व्यक्ति के जीवन में आ रहे बदलाव और दूसरे व्यक्तियों से उसके सहयोग, समन्वय, परंपराओं—मूल्यों और सामान्य व्यवहार होता है। इस लिहाज से व्यक्ति के व्यक्तित्व को पनपने देने के लिए अनुकूल परिस्थितियों की उपलब्धता होना महत्वपूर्ण है। डीपी बताते हैं कि सामाजिक विकास में इन परिस्थितियों

को उन अपरिहार्य सामाजिक स्थितियों से समझा जा सकता है जो व्यक्तित्व विकास में सहायक हैं। यद्यपि सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्तित्व में बदलाव आ सकता है, लेकिन सामाजिक परिस्थितियां स्वयं परिवर्तनशील नहीं हो सकतीं। सामाजिक स्थितियों में बदलाव तभी आता है, जब व्यक्ति स्वयं अपनी जरूरतों, इच्छाओं और मूल्यों के आधार पर अस्तित्व के लिए किए जाने वाले प्रयासों से इसके प्रयास करता है। इस प्रकार व्यक्ति का विकास तभी संभव है, जब सामाजिक परिस्थितियों को व्यक्ति की जरूरतों, इच्छाओं के आधार पर व्यवस्थित किया जा सके। (ibid. pp.21)

यहां यह प्रश्न भी उठता है कि व्यक्ति को लेकर डीपी का विचार क्या है? डीपी का विचार दरअसल व्यक्तिवादिता (Individualism) से संबद्ध नहीं है, बल्कि यह व्यक्तिवादिता का विरोध करता है। डीपी तर्क देते हैं कि व्यक्ति की अवधारणा वस्तुतः पश्चिमी पुनर्जागरण काल का परिणाम है, जिसमें व्यक्ति पूंजीवादी व्यवस्था के दबाव में समाज से अलग कर दिया गया और लाभ कमाने वाली व्यवस्था का एक हिस्सा मान लिया गया। डीपी बताते हैं कि इंग्लैंड में पूंजीवादी व्यवस्था के उद्भव के साथ सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा और भगवान पर विश्वास का भाव समाप्त हो गया। दूसरे शब्दों में पूंजीवादी व्यवस्था ने व्यक्तिवादी स्वतंत्रता का सिद्धांत दिया तो व्यापारिक व्यवहार ने विश्वास को कम किया। (Munshi 2009 pp.25). सामुदायिक भावना के ह्रास से बने निर्वात को भरने के लिए राष्ट्रवादी विचारधारा विकसित हुई। इस विचार ने राष्ट्र-राज्यों की स्थापना की बुनियाद रखी। राष्ट्रीय हितों ने ऐसे माध्यमों ने व्यक्ति पर नियंत्रण के माध्यमों को विकसित किया, जबकि दूसरी ओर व्यक्ति में भी राज्य को नियंत्रित करने का भाव विकसित हुआ।

डीपी बताते हैं कि व्यक्तिवाद और पुरुषवाद में बड़े अंतर हैं। व्यक्ति समाज से अलग होता है और इस वहज से वह सामाजिक तौर पर हतोत्साहित नजर आता है। उनके अनुसार इस तरह का भाव निम्न तीन तरीकों से स्पष्ट परिलक्षित होता है—

1. एकाकीपन जो आत्महत्या अथवा फासीवाद (Fascism) की ओर बढ़ाता है
2. असामाजिक, समाजविरोधी व्यवहार और गैरजिम्मेदाराना आलोचनावाद
3. स्वलाभ के लिए विरोध की भावना, उदाहरण के लिए नियमों, कानूनों और नियमितीकरण की व्यवस्थाओं का विरोध या अवमानना (2009 pp.44)

समाज से अलग व्यक्ति के उपरोक्त गुणों से इतर डीपी का पुरुष प्रकृति और प्रवृत्ति से सहयोगी (Co-operative) है और सामाजिक व्यवस्था में एकीकृत (Integrated) है। व्यक्ति को लेकर डीपी का विचार विरोध पर आधारित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य के सहयोग पर आधारित है। वर्णाश्रम का सिद्धांत डीपी के पुरुषवादी दर्शन का मूल है। डीपी बताते हैं कि मनुष्य एक ऐसे सामाजिक ढांचे (प्राथमिक समूह) में जन्म लेता है जो जैविक बंधनों और सामाजिक चक्र से जुड़ा होता है, लेकिन विकसित होने पर वह नये सामाजिक ढांचों (द्वितीयक समूह) से जुड़ने के लिए प्राथमिक समूह के बंधनों से मुक्त हो जाता है। हालांकि, नये ढांचे में भी मनुष्य को कुछ नियमों का पालन करना होता है और मानवीय विकास के लिहाज से उपयुक्त व्यवहार करना होता है। डीपी का पुरुषवाद का विचार सामाजिक नियंत्रण/प्रतिबंध और व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच अच्छे संतुलन को परिलक्षित करता है जो समाज के सदस्यों के बीच परस्पर सहयोग की भावना से बढ़ता है। इस प्रकार अधिकार और

उत्तरदायित्व व्यक्ति, समाज और राज्य के बीच बिना किसी विरोध के एक से दूसरे को हस्तांतरित होते जाते हैं। उनका यह विचार परंपराओं और प्रयोगों के बीच खंडन का भी समाधान करता है। डीपी का पुरुष न सिर्फ अपनी सभ्यता-संस्कृति की परंपराओं को आगे बढ़ाता है, बल्कि नये अनुभवों के माध्यम से इन्हें अनुपूरित भी करता है। वह लिखते हैं कि 'व्यक्ति परंपराओं के गर्भ में पलता-बढ़ता है और अपनी कार्यक्षमता से वह जीवन के परीक्षणों से जूझने के लिए बाहर आता है' (2009 pp.49). हालांकि, डीपी पुरुषवाद दर्शन के वास्तविकीकरण के लिए खुली जाति व्यवस्था की जरूरत भी बताते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति (Individual) समाज के साथ अंतर्विरोधों में जीवन जीता है, जबकि पुरुष समूह में रहकर विकास की विभिन्न स्थितियों का साक्ष्य बनता है, वह मानता है कि सामाजिक संस्थाओं की मौजूदगी और सामूहिकता के भाव से ही उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मार्ग भी प्रशस्त होता है। व्यक्ति (Individual) समाज में अंतर्निहित नहीं है, जबकि पुरुष व्यक्तिवाद (Individualisation) और सामाजिकता (Socialisation) दोनों से इतर व्यक्तिगत जीवन के बावजूद बंधा होता है। डीपी लिखते हैं, 'समाजवाद का अंतिम और मौलिक लक्ष्य व्यक्तियों का सहयोग है। इसका तात्पर्य सामूहिक तौर पर समाज के रूप में जुटे व्यक्तियों से है, जिसमें व्यक्ति की अपनी महत्ता बनी रहती है' (DP Mukerji, *Diversities*, pp. vii)

7.5: भारतीय मनीषी/बुद्धिजीवी (Indian Intellectuals)

डीपी के अनुसार भारतीय समाजशास्त्रियों का प्रथम उत्तरदायित्व भारतीय परंपराओं का अध्ययन करना है। वह लिखते हैं, 'भारतीय समाजशास्त्री के लिए समाजशास्त्री होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे पहले एक भारतीय होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे लोक के तरीकों, परंपराओं और व्यवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिए, ताकि वह भारतीय सामाजिक व्यवस्था की निचली परतों तक पहुंच सके और इन्हें विस्तार देते हुए अपने लक्ष्य को हासिल कर पाए। उसे भारतीय ज्ञान को हासिल करने के लिए निम्नतम से उच्चतम तक का सफर करना चाहिए।' (*op.cit.* Joshi 1986) डीपी मानते हैं कि भारतीय परंपराओं के प्रति यह समझ संस्कृत भाषा और अन्य स्थानीय बोलियों के ज्ञान से ही हासिल हो सकती है, जो सदियों से सभ्यताओं की संवाहक रही हैं।

डीपी कहते हैं कि पश्चिम से लिया गया शोध का वैज्ञानिक तरीका भारतीय सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक गतिशीलता को समझाने में अल्पोपयोगी होता है। इस प्रकार वह मानते हैं कि भारतीय सामाजिक परंपराएं समाजशास्त्र की मूल विषयवस्तु हैं और इन्हें विदेशी वैज्ञानिक कार्यशैली से समझना मुश्किल है। वह मानते हैं भारतीय सभ्यताओं के शोध के लिए जरूरत के हिसाब से अपना पारंपरिक तरीका चयन करना आवश्यक है। वह कहते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांत पाश्चात्य सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्षेपण का परिणाम है, जो यूरोपीय पुनर्जागरण काल में विकसित हुआ। वह बताते हैं कि इसी वजह से यूरोपीय केन्द्रित सिद्धांत भारतीय सभ्यता को विकृत और विकास के लिए जूझ रही सभ्यता, समाज के रूप में देखते रहे हैं।

डीपी के समान ही राधाकमल मुखर्जी ने भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था को यूरोपीयन दृष्टिकोण से देखने के तरीकों की आलोचना की है। डीपी मानते थे कि यूरोपीयन सिद्धांत विकास की एकरेखीय विचारधारा पर आधारित हैं, जिनमें समाज एक ही दिशा में विकास करते हुए आधुनिक होते हैं और यूरोपीयन समाज को सबसे विकसित बताते हैं। डीपी मानते हैं कि पश्चिमी सिद्धांतों के आधार पर बनाए गए इन परिदृश्यों ने भारतीय समाज को विकास के लिहाज से पिछड़ा हुआ स्थापित कर दिया, जिसने भारतीय गौरव और अस्मिता को सर्वाधिक नुकसान पहुंचाया।

डीपी मानते हैं कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने भी विचार किए बिना भारतीय समाज के अध्ययन के लिए पश्चिमी तरीकों का अनुसरण किया। वह इसका कड़ा विरोध करते थे। डीपी बताते हैं कि तत्कालीन भारतीय बुद्धिजीवी विकास का अपना रास्ता तय करने और भारतीय समाज के अतीत, इतिहास के आधार पर इसके भविष्य को बता पाने में नाकाम रहे। वह मानते हैं कि इसकी बड़ी वजह भारतीय समाज की ऐतिहासिक विरासत और वास्तविकता को नजरअंदाज करना रही (Madan 1994). इसका एक आंशिक कारण यह भी था कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने संस्कृत भाषा सीखने का प्रयास नहीं किया, जबकि भारतीय ग्रंथों के अध्ययन के लिए यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। डीपी बताते हैं कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने अंग्रेजी भाषा सीखी और इसके ही आदी होते गए जो वस्तुतः भारतीय अभिजात्य वर्ग के आधुनिकीकरण का जरिया मात्र थी। अंग्रेजी भाषा ही वह कारण थी, जिसके चलते भारतीय बुद्धिजीवियों ने सिर्फ आधुनिकता और आधुनिक पश्चिम जगत के बारे में जाना। वस्तुतः उन्हें अंग्रेजी की जानकारी के अलावा आधुनिक विचारों और पाश्चात्य समाज की कोई ठोस जानकारी नहीं थी। यही वजह है कि डीपी लिखते हैं, 'भारतीय बुद्धिजीवी पाश्चात्यीकृत नहीं, सिर्फ आंग्लकृत थे।' 1997, pp.151)

चक्रवर्ती बताते हैं कि पारंपरिक मार्क्सवादी विचारकों से इतर डीपी ने बुद्धिजीवियों को सर्वहारा क्रांति के अग्रदूत के तौर पर नहीं माना। डीपी के विचारों में बुद्धिजीवी क्रान्ति के लिए समाज के नेतृत्व में पारंपरिक उन भूमिकाओं का निर्वहन नहीं करते, जिनमें समाज और बुद्धिजीवियों के बीच परस्पर संवाद की स्थितियां बनती हों और वे एक-दूसरे को आकार देने में मदद करें। हालांकि, विद्या (Knowledge) क्रान्ति में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है, क्योंकि क्रान्ति आंतरिक मनोविज्ञान का परिणाम नहीं, बल्कि इसे सीखना और इस पर काम करना आवश्यक होता है। (Chakrabarti and Talukdar 2014, pp.67). डीपी के शब्दों में—

'बुद्धिजीवी वस्तुतः उस वर्ग में जन्म लिए हुए होते हैं, जिनके पास पहले से अधिकार हैं। वे असंतुष्टि के भाव के प्राथमिक साक्ष्य नहीं होते। ऐसे में असंतुष्टि को लेकर उनके विचार वस्तुतः वाचिक अभिव्यक्ति मात्र होती है। अन्य समूहों के लिए असंतोष का भाव उनकी वास्तविकता है, हालांकि वे इसे कई बार ठीक से भाषाई तौर पर व्यक्त नहीं कर पाते। क्रान्ति की शुरुआत दो धाराओं— भाषा और कर्म के प्रभाव से होती है। इस प्रकार यह एक नयी कल्पना को जन्म देती है, जिसे आम व्यक्ति अवधारित करते हैं। यह उन लोगों के लिए आसान नहीं होता, जो मात्र शब्दों के आधार पर क्रान्ति के अग्रदूत बने रहते हैं। उनके लिए नये प्रतीकों को गढ़ने, इनके प्रसार, इनके अनुसरण और आम जन तक इन्हें प्रदान करने के लिए आगे बढ़कर कर्म के रूप में प्रयास करने की आवश्यकता होती है।' (op.cit. ibid.) डीपी मानते

हैं कि बुद्धिजीवियों में यह क्षमता होती है कि वे जनसामान्य के दर्द को समझ सकें और शासक वर्ग की ओर से गढ़े गए प्रतिमानों, कल्पनाओं को वर्ग जागरूकता के माध्यम से पुनर्गठित कर सकें। लेकिन, वे क्रान्ति के लिए आवश्यक उपकरणों को उपलब्ध कराने के बजाय पारंपरिक तरीकों से बंधकर जनता का नेतृत्व नहीं करते।

7.6: साम्यवाद क्या है (What Is Communism)

डीपी के अनुसार साम्यवाद ऐसी कार्ययोजना का सिद्धांत है जो आदर्शवाद का प्रतीक है। सैद्धांतिक रूप में इसका तात्पर्य उत्पादन, वितरण और समान उपयोग के लिए विनिमय के सामूहिक स्वामित्व से है। डीपी बताते हैं कि साम्यवाद में उत्पादन क्षमता के समानुपाती होता है, जबकि वितरण और उपभोग समान आवश्यकता के अनुरूप होता है (मार्क्स के प्रसिद्ध वाक्य के अनुसार— हर किसी की ओर से उसकी क्षमता के अनुसार और हर किसी के लिए उसकी जरूरतों के अनुरूप)। यानी, शक्तियों का पूंजीवादी व्यवस्था से श्रमिकों की ओर हस्तांतरण। फौरी तौर पर साम्यवाद को जाति के आधार पर जागरूक सर्वहारा वर्ग के संगठन की आवश्यकता होती है जो अंतिम तौर पर जाति व्यवस्था के ढांचे को ढहा दे। साम्यवाद व्यक्तिवाद के बजाय सामूहिकता को महत्व और तर्कवाद व वैज्ञानिक तरीकों पर बल देता है। डीपी लिखते हैं, 'साम्यवाद निश्चित रूप से तर्कवाद की जमीन पर जागरूकता का प्रयास है। साम्यवाद के आने से पहले अधिक सकारात्मक और क्रान्तिकारी आदर्शों की व्यवस्था जागरूकता के स्तर पर सामने आनी चाहिए।' (*ibid.* pp.180). इस प्रकार तर्कवाद साम्यवाद का आवश्यक तत्व है, लेकिन जब तक धार्मिक विचार लोगों के मन में बने रहते हैं, साम्यवाद का भविष्य अस्तित्वमान नहीं होता। यही वजह है कि धार्मिक-आध्यात्मिक रूप से गहरी जड़ों वाले भारत जैसे देश में साम्यवाद को पनपने के लिए अवसर उपलब्ध नहीं होते। डीपी यह भी विश्वास करते हैं कि चूंकि भारत में पूंजीवादियों ने ही राष्ट्रवादी आंदोलन का नेतृत्व किया, यहां निकट भविष्य में साम्यवाद के विकास को लेकर कोई पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता।

7.7: भारतीय मध्य वर्ग (Indian Middle Class)

डीपी ने भारतीय मध्य वर्ग के विषय में भी विस्तृत लेखन किया है। उन्होंने महसूस किया कि यह वर्ग भारतीय समाज और सभ्यता के विचार में अहम भूमिका का निर्वहन करता है। भारतीय मध्य वर्ग के अध्ययन में डीपी के योगदान को एआर देसाई और पीसी जोशी ने भी उल्लेखनीय माना है। पूर्वब्रिटिशकाल के अध्ययन के दौरान डीपी ने भारत में मध्य वर्ग के विकास पर फोकस किया। डीपी के अनुसार भारत में मध्यवर्ग ब्रिटिश शासक वर्ग की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक नीतियों के फलस्वरूप विकसित हुआ। (Desai 1997). ब्रिटिश सत्ता ने भारत की स्वावलंबी ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था को नष्ट करने के साथ सामुदायिक भूमियों को निजी संपत्ति में बदल दिया। पारंपरिक कुटीर उद्यमों, व्यापार एवं वाणिज्यिक व्यवस्थाओं को समाप्त करने के साथ ब्रिटिश दौर में नयी भू-राजस्व व्यवस्था ने भारत में भूमि संपत्ति की अवधारणा को विकसित किया। इस व्यवस्था में यह सुनिश्चित किया जाता था कि जमींदार आमजनों से दूरी बनाए रखें। इसके चलते जमींदारों का एक नया ही वर्ग भारत में पनपने लगा। दूसरी ओर, ब्रिटिश शासकीय व्यवस्था ने भारतीय उपनिवेश में प्रशासनिक कार्यों में भारतीय लोगों से सहायता लेने के मकसद से अंग्रेजी शिक्षा को भी लागू किया। अंग्रेजी में शिक्षा हासिल करने वाला

यह वर्ग भी अंग्रेजी नहीं जानने वाली बड़ी आबादी से एक दूरी बनाकर रखा करता था। जमींदारों और अंग्रेजी शिक्षित इन लोगों के उद्भव से ही भारत में एक नया वर्ग जन्मा, जिसे मध्य वर्ग कहा जाता है। ये लोग आमजन की भाषा और संस्कृति से विरत थे। (Chakrabarti 2010).

हालांकि, मध्यवर्ग से संबंध रखने वाले लोग प्रारंभ में ब्रिटिश सत्ता की ओर झुकाव रखते थे, लेकिन समय के साथ उन्हें इस वास्तविकता का ज्ञान हुआ कि ब्रिटिश ने भारतीय उद्योगों, व्यापार और वाणिज्य पर अधिकार कर लिया है। इससे उपजी हताशा ने भारत में राष्ट्रवादी विचारधारा को विकसित किया। डीपी बताते हैं कि राष्ट्रवाद की इस अवधारणा को मध्य वर्ग ने पोषण दिया, ताकि ब्रिटिश सत्ता से स्वतंत्रता प्राप्त की जा सके। ब्रिटिश सत्ता समाप्त हुई तो वे इसी मध्य वर्ग के हाथों में व्यवस्था सौंप गए, जिन्होंने पश्चिमी तर्कवाद, वस्तुवाद और उपयोगवाद के रास्ते पर बढ़ते हुए स्वतंत्र भारत की नीतियों के निर्धारण में अहम भूमिका निभाई। इस वर्ग ने भारतीय इतिहास में निम्नवत् महत्वपूर्ण योगदान दिया—

1. ब्रिटिश सत्ता के एकीकरण में योगदान
2. ब्रिटिश सत्ता के विरोध में सफल राष्ट्रीय आंदोलन
3. सामाजिक संघर्ष का प्रतिपादन
4. देश के विभाजन को लेकर विचार
5. स्वतंत्रता के बाद सामाजिक परिवर्तन को लेकर मुख्य भूमिका (*ibid.* pp.236)

डीपी मानते हैं कि मध्यवर्ग आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के जरिये व्यक्तिवादी अवधारणा को तो आत्मसात कर सकता है, लेकिन भारतीय सामाजिक परंपराओं से संबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह वर्ग पारंपरिक तौर-तरीकों से रहने वाले जन से दूर होता है। डीपी मानते हैं कि मध्य वर्ग को भारतीय समाज में कृत्रिम रूप से थोपा गया था यानी ब्रिटिश शासन ने भारत में जो सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन किए, उनके परिणामस्वरूप भारत में मध्यवर्ग का विकास हुआ। वे भारतीय समाज के आधुनिकीकरण के मुख्य कारक बने।

7.8: निष्कर्ष (Conclusion)

डीपी भारतीय समाजशास्त्र के उन प्रारंभिक विद्वानों में थे, जिन्होंने सामाजिक वास्तविकता के अध्ययन के लिए द्वंद्व की अवधारणा का प्रयोग किया। हालांकि, उन्होंने मार्क्सवादी अवधारणा की वकालत की फिर भी भारतीय परंपराओं और संस्कृति को लेकर उनके मन में सदैव मान बना रहा। उन्होंने भारतीय परंपराओं, इतिहास के अध्ययन की जरूरत जताने के साथ भारत के गौरवशाली अतीत के जरिये नये सुदृढ़ भविष्य को गढ़ने पर जोर दिया। हालांकि, वह पश्चिमी सभ्यता के भारतीय समाज पर असर के प्रशंसक भी रहे, लेकिन वह भारत के अध्ययन के लिए पाश्चात्य दर्शन के तौर-तरीकों और अवधारणाओं के इस्तेमाल को भारतीय अध्येताओं की ओर से बिना विचारे दिए जाने वाले समर्थन के आलोचक रहे। वह मानते थे कि यूरोप केन्द्रित अवधारणाएं व्यक्तिवादिता को बढ़ावा देती हैं, जबकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सामूहिकता का प्रभाव सदैव रहा।

डीपी ने व्यक्तिवादिता के विरोध में पुरुषवाद के नये दर्शन को प्रतिपादित किया। यह ऐसे व्यक्ति पर आधारित है जो समाज से अभिन्न रूप से संयुक्त है। मार्क्सवाद को लेकर डीपी का विचार था कि यह मानवता को पुनर्जीवित करता है, क्योंकि यह समाज की कीमत पर व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की अवधारणा पर आधारित नहीं है। इसके अलावा यह विचार सीधे व्यक्ति से जुड़ने के बजाय मानव समुदाय पर असर डालता है। डीपी ने बताया कि आधुनिक दौर में मानव समुदाय के विकास के लिए विश्वास की भावना बेहद आवश्यक है। वह बताते हैं कि विश्वास का यह भाव व्यक्ति (पुरुष) पर होना चाहिए, जो समाज का अभिन्न अंग है। अंत में डीपी मार्क्सवाद की कट्टरता के विरोधी थे। वह मानते थे कि मार्क्सवाद राजनीतिक विचारधारा के बजाय एक माध्यम है। वह मानते थे कि मार्क्सवाद में सामाजिक वास्तविकताओं को समझने में उपयोगी विचारों, अवधारणाओं की उपलब्धता थी। लेकिन वह यह भी मानते थे कि किसी भी सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थिति का अध्ययन करते हुए उसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ही सदैव सामने रखना चाहिए। अध्ययन के लिए इस ऐतिहासिक दृष्टिकोण और सामाजिक विज्ञान के संयोजन ने ही डीपी को किसी घटना को समझने, जानने के लिए व्यापक समग्र बनाते हैं।

7.9: सन्दर्भ (References)

Avasthi, A. (ed.) (1997), *Social and Cultural Diversities: In DP's Memorium*, Rawat Publication.

Chakrabarti, D. (2010), "D.P. Mukerji and the Middle Class in India", *Sociological Bulletin*, Vol. 59, No. 2, pp. 235-255

Chakrabarti, A. And Talukdar, D. (2014), "The Sociological Imagination of Dhurjati Prasad Mukerji Beyond Hermeneutics and Positivism", *Economic and Political Weekly*, Vol.49, No. 9, pp 63-74.

Desai, A.R. (1997), "Empowering the Sovereign Citizens of India: Some Constitutional Obstacles" in Avasthi, A (ed.) *Social and Cultural Diversities: In DP's Memorium*, Rawat Publication.

Joshi, P.C. (1986), "Founders of the Lucknow School and Their Legacy. Radhakamal Mukerjee and D P Mukerji: Some Reflections", *Economic and Political Weekly*, Vol.21, No. 33, pp. 1455-1469.

Madan, T, N. (1994), "D.P. Mukerji 1894-1961: A Centenary Tribute", *Sociological Bulletin*, Vol 43, No. 2, pp 133-142.

Madan, T.N. (1977), "Dialectic of Tradition and Modernity in the Sociology of D.P. Mukerji", *Sociological Bulletin*, Vol. 26, No. 2, pp 155-178.

- Mukerji D.P. (1945), *On Indian History: A Study in Method*, Hind Kitabs, Bombay.
- Mukerji, D.P. (1958), *Diversities: Essays in Economics, Sociology and Other Social Problems*, Peoples Publishing House, New Delhi.
- Mukerji, D.P. (2004) [1932], *Basic Concepts in Sociology*, Rupa Publishers, New Delhi.
- Mukherjee, R. (1983), *Classification in Social Research*, State University of New York Press, Albany.
- Munshi, S. (ed.) (2009), *Redefining Humanism: Selected Essays of D. P. Mukerji*, Tulika Books.
- Nagendra, S.P. (1997), “ D.P. Mukerji as a Sociologist (Centenary Shradhanjali)” in Avasthi, A (ed.) *Social and Cultural Diversities: In DP’s Memorium*, Rawat Publication.
- Narain. S.K. (1967), ‘Obituary’ in Singh, V.B and Singh B.(eds.) *Social and Economic Change: Essays in Honour of Prof. D.P. Mukerji*, Allied publishers, Bombay, pp- xvii-xxi.
- Singh. V. B. (1967), ‘A tribute’ in Singh, V.B and Singh B. (eds.) *Social and Economic Change: Essays in Honour of Prof. D.P. Mukerji*, Allied publishers, Bombay, pp-xii-xvi.
- Singh, Y. (2004), “Ideology, Theory and Methods in Indian Sociology” in *Ideology and Theory in Indian Sociology*. Rawat Publications, pp.95-134.

इकाई-08

एआर देसाई (AR Desai)

- 8.1: उद्देश्य
- 8.2: परिचय
- 8.2.1: जीवन परिचय
- 8.2.2: प्रभाव एवं योगदान
- 8.3: देसाई का मार्क्सवादी दृष्टिकोण
- 8.3.1: भारत में समाजशास्त्र का कार्य

- 8.3.2: मार्क्सवादी दृष्टिकोण के महत्वपूर्ण पहलू
- 8.4: ब्रिटिश शासन और भारतीय राष्ट्रवाद
- 8.4.1: पूर्व ब्रिटिशकाल में भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति
- 8.4.2: भारत पर ब्रिटिश विजय
- 8.4.3: ब्रिटिशकाल में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन
- 8.4.4: आधुनिक शिक्षा का विकास, परिवहन-संचार के नये साधन
- 8.4.5: नये सामाजिक वर्गों का उद्भव
- 8.4.6: भारतीय राष्ट्रवाद का विकास
- 8.5: कृषक संघर्ष एवं ग्राम्य परिवर्तन
- 8.6: विकासशील समाजों का आधुनिकीकरण एवं विकास
- 8.7: निष्कर्ष
- 8.8: शब्दावली
- 8.9: सन्दर्भ

8.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं:

1. भारतीय समाजशास्त्र के विषय में मार्क्सवादी विचारों का अवलोकन
2. देसाई के कार्यों के महत्व, सन्दर्भ और योगदान का अध्ययन
3. एआर देसाई की कार्यशैली और योगदान का अध्ययन
4. भारतीय समाज के अध्ययन को लेकर देसाई के दृष्टिकोण का विस्तृत अध्ययन

8.2: परिचय (Introduction)

अक्षय रमनलाल देसाई (1915-1994) भारत के प्रख्यात मार्क्सवादी विद्वान, लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता थे। देसाई ने राष्ट्रवाद, आर्थिक विकास, राज्य, श्रमिक-ग्रामीण समाज, जातिगत ढांचा और आधुनिकता जैसे विषयों पर गहन लेखन किया है। समाज विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के छात्र, शोधकर्ताओं समेत सामाजिक कार्यकर्ता भी देसाई के लेखन से मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। जैसाकि पिछली इकाई में हम जान चुके हैं कि डीपी मुखर्जी भारतीय समाजशास्त्र में मार्क्सवादी चिंतन को स्थान देने वाले प्रारंभिक विद्वान थे जो स्वयं को मार्क्सवादी के बजाय मार्क्सोलॉजिस्ट कहलाना पसंद करते थे। डीपी के बाद एआर देसाई ने भी अपने अकादमिक कार्यकाल के दौरान समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी कार्यशैली, सिद्धांतों को शोध कार्यों के लिए उपयोग किया। वह इस विचार पर विश्वास करते थे और जीवनभर वह मार्क्सवादी ही रहे।

8.2.1: जीवन परिचय (Biographical Sketch)

एआर देसाई का जन्म 16 अप्रैल 1915 को गुजरात में नादियाड के बुद्धिजीवी परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री रमनलाल वसंतलाल देसाई प्रशासनिक कर्मचारी के साथ प्रख्यात उपन्यासकार भी थे, जिनके लेखन ने 1930 के दौर में गुजराती युवाओं को खासा प्रभावित किया। देसाई भी अपने पिता से गहराई तक प्रभावित थे और उनसे प्रेरणा लेते थे। कॉलेज में पढ़ाई के दौरान देसाई सामाजिक कार्यों से जुड़ गए और बड़ौदा, सूरत व बंबई में कई छात्र आंदोलनों में उन्होंने शिरकत की। बांबे विश्वविद्यालय से

उन्होंने कानून में स्नातक किया और फिर उस दौर में भारत के प्रसिद्ध विद्वान जीएस घुर्ये के मार्गदर्शन में समाजशास्त्र में पीएचडी प्रारंभ की। 1947 में उन्होंने सामाजिक कार्यकर्ता और महिला विषयों की शोधकर्ता नीरा देसाई से विवाह किया। (Munshi and Denzil 1994; Savur and Munshi 1995).

एआर देसाई का अकादमिक कार्य व राजनीतिक सक्रियता साथ-साथ चलती रहीं। उन्होंने 1924 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ली, लेकिन वैचारिक मतभेदों के चलते उन्होंने 1939 में पार्टी से इस्तीफा दे दिया। 1953 में वह 'रिवॉल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी' से जुड़े। लेकिन, पार्टी जर्नल में अपने विचारों के प्रकाशन पर पार्टी की ओर से सीमाएं बांधने के चलते 1981 में उन्होंने इसे भी छोड़ दिया। हालांकि, इसके बाद भी बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं संग उनकी बातचीत-मुलाकातों का दौर बना रहा, लेकिन इसके बाद वह किसी राजनीतिक पार्टी से नहीं जुड़े। (*ibid.*) देसाई ने बंबई में समाजशास्त्र प्रवक्ता के तौर पर अपना अकादमिक कैरियर प्रारंभ किया। 1951 में उन्होंने बांबे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग में उस दौर में तैनाती ली, जब बांबे स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी लोकप्रियता और प्रभाव के लिहाज से चुनौतीपूर्ण दौर से गुजर रहा था। कुछ समय बाद ही वह प्राध्यापक बने और फिर 1969 में विभागाध्यक्ष भी बने। यह वह दौर था, जब नक्सलवादी, ट्रेड यूनियन और छात्र आंदोलनों के चलते बंबई सामाजिक और राजनीतिक रूप से लगातार बेचैनी के दौर से गुजर रहा था। (Raman 2013). यह वह दौर था जब अकादमिक शक्तियों का बंबई से दिल्ली की ओर स्थानांतरण हुआ, जबकि अनुभववाद, ढांचागत कार्यशैली, वियोजन जैसे वैज्ञानिक सामाजिक अध्ययन के तरीके तथ्यों और मूल्यों संग संयोजित हो गए। उस समय देसाई ने अपने दृष्टिकोण और सिद्धांतों के जरिये तथ्यों और मूल्यों के अलग महत्व को स्थापित किया। (Patel 2007: 419). इसे हम आगे विस्तार से समझेंगे।

8.2.2: प्रभाव एवं योगदान (Influences and Contribution)

देसाई मार्क्सवादी होने के साथ सामाजिक कार्यकर्ता, आंदोलनकारी भी थे। इन दोनों की छाप उनके बौद्धिक कार्यों पर भी साफ नजर आती है। श्रम आंदोलनों में सक्रिय सहभागिता और वामपंथी पार्टियों से जुड़ाव ने उनके कार्यों को विशेष रंग दिया। जिस तरह एनके बोस को गांधीवादी स्वतंत्रता आंदोलन से शोध और आंदोलनात्मक प्रेरणा मिली, ठीक उसी तरह देसाई के भी शोधकार्य व आंदोलन साथ-साथ चलते रहे। उनकी आंदोलनात्मक सक्रियता ने उन्हें उन मूल मुद्दों से जोड़ा, जो वामपंथी विद्वानों के बीच चर्चा का विषय थे और इनके जरिये भारतीय राजनीतिक स्थितियों को अवधारणात्मक रूप देने में मदद की। पटेल (2007) पाते हैं कि देसाई और उनके दृष्टिकोण पर दो तरह के प्रभाव थे। पहला था, जैसाकि वर्णित किया जा चुका है, देसाई का भारत में श्रम, छात्र और राष्ट्रीय आंदोलन करने वाले परिवर्तनवादी, वामपंथी, मार्क्सवादी समूहों से जुड़ाव। इन सबसे देसाई को देश के मुद्दों व वर्गों को समझने, समाज में इनके परिवर्तनकारी योगदान को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सैद्धांतिक स्वरूप देने में मदद मिली। देसाई पर दूसरा प्रभाव उनके पिता का था जो उपन्यासकार, राष्ट्रवादी और समाजवादी (अवसरवादी— Fabian) होने के साथ महात्मा गांधी के बड़े प्रशंसक भी थे। पिता के विचारों ने देसाई को भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के बीच अंतरसंबंधों की स्थापना में मदद की, जिसमें राष्ट्रवाद विचार के रूप में था, जबकि ब्रिटिश उपनिवेशवाद को उखाड़ने के लिए वर्ग संघर्ष उभरे।

देसाई विविध आयामों में लेखन करते थे। उन्होंने राष्ट्रवाद, कृषक संघर्ष, ग्रामीण परिवर्तन, कृषक आंदोलन, सत्ता और समाज, श्रम और मानवाधिकार, सामाजिक परिवर्तनों समेत विभिन्न विषयों पर लेखन किया। देसाई ने पूर्व ब्रिटिशकालीन भारत, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और स्वतंत्रता पश्चात भारत में व्यवस्थाओं पर लेखन किया है, इससे देसाई के लेखन को बेहद विस्तृत आयाम मिला है। देसाई ने हर काल में भूमिसुधार, कृषकों की स्थिति, संघर्ष और भारतीय समाज के विकास व आधुनिकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन किया है। देसाई का जन्म भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में हुआ था। ऐसे में उन्होंने न सिर्फ औपनिवेशिक दौर और आजादी के आंदोलन को खुद देखा-महसूस किया, बल्कि स्वतंत्रता के बाद आने वाले बदलावों, राष्ट्रनिर्माण व देश के शुरुआती विकास की प्रक्रियाओं के भी वह साक्ष्य रहे। इस तरह उनके लेखन को चार दशक से अधिक का आयाम मिला, जो भारतीय समाज में समय-समय पर आने वाले परिवर्तनों को उभारता है।

देसाई के लोकप्रिय शुरुआती लेखन कार्यों में *The Social Background of Indian Nationalism* (1948) शामिल है, जिसमें उन्होंने पूर्व ब्रिटिशकालीन भारतीय समाज के गुणों, प्रकृति का वर्णन किया है। इसी पुस्तक में उन्होंने ब्रिटिशकाल में हुए सामाजिक परिवर्तनों और भारतीय सामंतवादी ढांचे पर इसके असर की भी जानकारी दी है। आगे आने वाले परिवर्तनों को देसाई ने *Recent Trends in Indian Nationalism* (1960) में स्थान दिया। स्वतंत्रता के बाद देसाई ने भारत की आर्थिक नीतियों और विकासपथ के विश्लेषण पर फोकस किया। *Rural Transition in India* (1961) नामक शृंखला में उन्होंने ग्रामीण समाज में विकास कार्यक्रमों और नीतियों को लागू करने व शहरी क्षेत्रों में असमानता के नये उभरते पहलुओं का विश्लेषण किया। इसमें देसाई ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमों, भूमिसुधार, पंचायतीराज जैसी उन नीतियों का विस्तार से जिक्र किया है, जिनके परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन आए। इन नीतियों और कार्यक्रमों के मूल्यांकन ने उन्हें भारत में वर्ग संघर्ष और आंदोलनों की पड़ताल करने का भी अवसर प्रदान किया। 1970 के दशक से भारतीय समाज ने सामाजिक और राजनीतिक लिहाज से अनिश्चितता के दौर का सामना किया। ग्रामीण भारत में नक्सलवादी आंदोलनों ने नये संघर्षों को जन्म दिया तो शहरी भारत में ट्रेड यूनियनों के आंदोलन, रेलवे हड़ताल, महिला आंदोलनों ने गति पकड़ी। इस दौर में राजनीति और राजनीतिक लामबंदी ने प्रारंभिक राजनीतिक पहचान की दिशा को बदला (यानी लोगों को धर्म, जाति आधारित राजनीति से अलग सोचने की क्षमता दी) (Patel 2011; Raman 2013).

इस दशक में देसाई ने भारतीय समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति पर वृहद लेखन किया। उनकी *Peasant Struggles in India* (1979) और *Agrarian Struggles in India after Independence* (1986) उस दौर के सामाजिक आंदोलनों और कृषक समाज की स्थिति को समझने के लिए महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। इन किताबों में देसाई ने औपनिवेशिक दौर और स्वतंत्रता के बाद किसान संघर्षों का पूरा ब्योरा संग्रहीत किया है। देसाई बताते हैं कि किस तरह पारंपरिक किसान संघर्षों को नये संपत्ति स्वामी वर्ग और कृषक सर्वहारा वर्ग ने आगे बढ़ाया। वह बताते हैं कि नवसमृद्ध वर्ग विकास को लेकर अपनी रुचियों के चलते संघर्ष करता है, जबकि निर्धन वर्ग (जनजातियां और निम्न जातियां शामिल) अस्तित्व और जीवनानुकूल बेहतर परिस्थितियों के लिए संघर्ष करता है।

8.3: देसाई का मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Desai's Marxist Approach)

1960-70 में भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान अध्ययन की मुख्यधारा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित और ढांचागत कार्यक्षमता के दृष्टिकोण पर आधारित थी। उस दौर में मुख्यतः घुर्ये और एमएन श्रीनिवास की अवधारणा को ही मूल सिद्धांत माना जाता था। लेकिन यह अनुभववाद पर आधारित था और तथ्यों-मूल्यों से इसका स्पष्ट भेद दिखता था। उदाहरण के लिए एमएन श्रीनिवास ने ग्रामीण अध्ययन के लिए फील्डवर्क किया और भारतीय सामाजिक ढांचे को लेकर डाटा जुटाया। उस दौर में शोधकर्ता फील्डवर्क के जरिये भारतीय सामाजिक अध्ययन के लिए आवश्यक तथ्य जुटाने पर जोर देते थे। (Patel 2007:419). हालांकि, देसाई (1981) ढांचागत कार्यशैली, विषयपरक दृष्टिकोण आधारित घुर्ये और श्रीनिवास के सिद्धांतों के आलोचक रहे। उन्होंने तर्क दिया कि उपरोक्त दोनों विद्वानों ने जिस सांख्यिकीय दृष्टिकोण का प्रयोग किया, वह संतुलन और स्थायित्व की जरूरत जताता है, जिसके चलते गरीबी, असमानता और पिछड़ेपन जैसे महत्वपूर्ण पहलू नजरअंदाज कर दिए जाते हैं।

1980 में 15वीं ऑल इंडिया सोशियोलॉजिकल कांफ्रेंस में अध्यक्षीय संबोधन देते हुए देसाई ने भारतीय समाजशास्त्र के मूल्यांकन के लिए 27 आधार बिंदु सामने रखे। स्वतंत्रता के बाद भारत उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारी विकास का साक्ष्य बना, जिसका एक हिस्सा समाज विज्ञान भी था। इसके बावजूद समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान के शोध, प्रशिक्षण एवं शिक्षण के तीन दशक बाद भी शोधकर्ता और विद्वान इसकी प्रभावोत्पादकता को लेकर शंकाएं जाहिर करते रहे। इनमें मुख्य था स्वतंत्रता के बाद भी शिक्षण और प्रशिक्षण के उपनिवेशकालीन सिद्धांतों का उपयोग था, जो दरअसल औपनिवेशिक कार्यशैली, अवधारणा और सैद्धांतिक निर्माण प्रक्रिया का तरीका थे। इस प्रकार भारत में समाजशास्त्र की अवधारणा और कार्यशैली दरअसल पाश्चात्य जगह से ही लिए गए थे। इसका एक कारण यह भी था कि भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं को लेकर तब जागरूकता का भी अभाव था। ऐसे में यह सिद्धांत समाज के वैज्ञानिक, प्रत्यक्षवादी, मूल्यनिरपेक्ष और अनुभववादी अध्ययन में फंसकर रह गया। (*ibid.*). देसाई बताते हैं कि तत्कालीन प्रभावशाली समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अनैतिहासिक, सांख्यिकीय, समकालिक, ढांचागत कार्यशैली का सिद्धांत मूलतः संतुलन और स्थायित्व पर आधारित था। यह दृष्टिकोण परिस्थिति को संतुलित बनाए रखने पर ही जोर देते हैं, जिसके चलते इन सिद्धांतों को ध्यान में रखकर परिवर्तन और आमूल अंतरों का अध्ययन इन सिद्धांतों की सांख्यिकीय, गणितीय पद्धतियों के प्रति दृढ़ता की वजह से असंभव था।

8.3.1: भारत में समाजशास्त्र का कार्य (Task of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र के सैद्धांतिक उपयोग के मूल्यांकन के बाद देसाई भारत में समाजशास्त्र के कुछ बुनियादी लक्ष्यों को स्पष्ट करते हैं:

1. ऐसे दृष्टिकोण की तलाश करना जो समाजशास्त्र को उन्नति देते हुए मौजूदा अकादमिक संकट को दूर करने में मददगार बने

2. ऐसे दृष्टिकोण की खोज और विकास करना जो पारंपरिक दौर में प्रासंगिक प्रश्न उठा सके और परिवर्तन व रूपांतरण का अध्ययन कर सके
3. ऐसे सिद्धांत का विकास जो भारतीय समाज के विशिष्ट ढांचागत गुणों की खोज कर सके और परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए इन गुणों के प्रयोग से गरीबी, असमानता को समाप्त कर सके
4. नये दृष्टिकोण को योजनाओं और विकास के लिए अपनाए जाने वाले पैमानों व नीतियों के मूल्यांकन के लिए उपयुक्त होना चाहिए
5. ऐसे सिद्धांत को अपनाया जाना चाहिए जो भारतीय समाज के विभिन्न आयामों में रूपांतरण का परीक्षण कर सके, इस काम में यह सिद्धांत भारतीय सामाजिक व्यवस्था को संपूर्णता में अध्ययन करे, एकल या विभाजित स्वरूप में नहीं (Desai 1981, pp.9)

इस तरह देसाई मौजूदा अकादमिक तरीकों की आलोचना के साथ भारतीय समाज में परिवर्तनशीलता के अध्ययन के वैकल्पिक उदाहरण, सिद्धांत को सामने रखते हैं। वह यह भी मानते हैं कि यह लक्ष्य मार्क्सवादी विचार से सर्वश्रेष्ठ तरीके से हासिल किया जा सकता है। देसाई के अनुसार मार्क्स ने जो दृष्टिकोण विकसित किया है, वह भारतीय समाज के अध्ययन के लिए प्रासंगिक और उपयोगी विकल्प बन सकता है। मार्क्स का मानव समाज के अध्ययन का तरीका वस्तुओं के उत्पादन और भोजन, वस्त्र आदि के जरिये आर्थिक गतिविधियों पर आधारित है। मार्क्स तर्क देते हैं कि पशु-पक्षियों से इतर मानव समुदाय अस्तित्व के लिए आवश्यक बुनियादी जरूरतों के लिए प्रकृति के रूपांतरण में सक्षम है। मानव समुदाय ने अपनी जरूरतों के उत्पादन के लिए प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहकर अन्य जीव प्रजातियों से स्वयं को अलग और विशेष सिद्ध किया है। उपकरणों और यंत्रों की मदद से मनुष्य ने प्रकृति से मिलने वाले उत्पादों को मनुष्य के अस्तित्व की जरूरत के हिसाब से ढाला। भोजन, वस्त्र और आवास के लिए वस्तुओं का उत्पादन मानव समाज का ऐतिहासिक कार्य था। इसलिए मानव समाज के अध्ययन के लिए बुनियादी तथ्यों की जांच, परीक्षण और निरीक्षण आवश्यक है। इस तरह मार्क्सवादी दृष्टिकोण सामाजिक वास्तविकता को समझने के लिए उत्पादन की आवश्यकताओं और तरीकों, श्रम के विभाजन, उत्पादन और गुण संबंधी सामाजिक संबंधों को भी समझाता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में संपत्ति के गुण संबंधों का विश्लेषण अति महत्वपूर्ण कारक है। इसका कारण देसाई बताते हैं, 'इनसे उत्पादन के उद्देश्य, प्रकृति, नियंत्रण, दिशा और प्रत्यक्षवादी आकार मिलता है। इसके आधार पर ही यह भी तय किया जा सकता है कि किसे किस आधार पर कितना अधिकार मिल सकता है।' (*ibid.* pp.13)

देसाई यह भी मानते हैं कि मार्क्सवाद को लेकर विद्वानों और छात्रों में पूर्वाग्रह, पक्षपाती रवैया रहता है। वह स्पष्ट करते हैं कि मार्क्सवाद दरअसल सिर्फ अर्थव्यवस्था आधारित सिद्धांत नहीं है, जैसा कि आमतौर पर इसे समझा जाता है। देसाई बताते हैं कि सामान्यतः यही माना जाता है कि मार्क्सवाद मानव जीवन के हर पहलू को आर्थिक कारकों के आधार पर ही निश्चित करता है, लेकिन असल में यह धर्म, समाज और राजनीति जैसे पहलुओं को किसी भी रूप में आर्थिक आधार पर देखने का सुझाव नहीं देता है। हालांकि, यह मानव समुदाय के अस्तित्व और पुनर्गठन के लिए आर्थिक गतिविधियों के महत्व पर जोर जरूर देता है। यह आर्थिक और अन्य अन-आर्थिक गतिविधियों के बीच अंतरसंबंधों की खोज करने का प्रयास करता है। देसाई कहते हैं कि मानव समुदाय अस्तित्व और जातियों के उत्पादन के

लिए आर्थिक गतिविधियों का अनुसरण करते हुए अपने पर्यावास और भौतिक वातावरण में बदलाव कर उत्पादन संबंधों में प्रवेश करता है। इसलिए समाज की स्थिति, परिस्थिति और परिवर्तनों को समझने के लिए आर्थिक गतिविधियों को मूल अक्ष के तौर पर देखने की आवश्यकता है। इसलिए मार्क्सवाद को अध्ययन के सिद्धांतों से किसी अन्य अनुभवहीन सिद्धांत से बदला या कमतर नहीं किया जा सकता। (*ibid.*)

8.3.2: देसाई के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अहम पहलू (Crucial Aspects of Desai's Marxist Approach)

1. **समग्र एवं सन्दर्भ निर्दिष्ट:** देसाई बताते हैं कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण अकादमिक सीमाओं से बद्ध नहीं है। यह समाज और सामाजिक परिवर्तनों को समग्र दृष्टि से देखता है और इस दौरान यह स्वयं को किसी सिद्धांत तक सीमित नहीं रखता है। यह सामाजिक पहलुओं को उनके मूल से अलग नहीं करता, बल्कि स्वायत्त रूप से हर पहलू का अध्ययन करता है। मार्क्सवाद इन पहलुओं का पूर्ण सन्दर्भ में इस बात को ध्यान में रखते हुए अध्ययन करता है कि वे किस तरह गढ़े गए हैं और किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था में किस तरह जुड़े हुए हैं। इस प्रकार से सामाजिक व्यवस्था का संपूर्ण विश्लेषण संभव हो पाता है। (1981:14)
2. **ऐतिहासिक:** मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि किसी समाज का अध्ययन स्थैतिक ढांचे के बजाय ऐतिहासिक परिवर्तनवादी व्यवस्था के तौर पर किया जाना चाहिए। किसी सामाजिक व्यवस्था में ऐसे विरोधाभासी बलों का समावेश होता है जो या तो व्यवस्था को अस्तित्वमान बनाए रखने के लिए परिवर्तनशील रहते हैं या फिर इसे नष्ट करने के लिए जोर लगाते हैं। इस प्रकार कोई समाज उभरते हुए, विकासशील, उत्तरवर्ती झुकाव की ओर बढ़ते हुए नजर आता है जो अंततः एक नये और उच्च सामाजिक व्यवस्था से जुड़ जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के माध्यम से मार्क्सवाद समाज के उन दोनों कारकों को चिह्नित करने पर बल देता है जो संरक्षण का कारण बने और जिनकी वजह से परिवर्तन हुआ। यह विकासवादी और परिवर्तनकारी पहलुओं को ऐतिहासिक आधार पर तय करता है। देसाई बताते हैं कि आधुनिक समाजशास्त्र से इतर मार्क्सवाद संपत्ति संबंधों को केंद्रीय महत्व देता है। (1981) इसका तात्पर्य भौतिक जीवन के उत्पादन के तरीकों से है, जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण की बुनियादी श्रेणी है। (*ibid:*15) उदाहरण के लिए देसाई ने अपनी पुस्तक *Social background of Indian Nationalism* (1948) में परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए एक सदी से अधिक काल में आए बदलावों का अध्ययन किया है। देसाई ने भारतीय समाज में सामंतवाद से लेकर पूंजीवाद तक व्यवस्था में आए परिवर्तनों को स्पष्ट करने के साथ वर्ग और राष्ट्र के बीच उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में अंतरसंबंधों को भी उजागर किया है। उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कारण हुए बदलावों और इनके चलते वर्गीय ढांचे, वर्गों के अंतरसंबंधों और इन सबके बीच उत्पादन व्यवस्था के पूंजीवादी विकास का अध्ययन किया है।
3. **मूल्य निरपेक्षता का विरोध:** देसाई के दौर में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानव विज्ञान का अध्ययन ऐसे वैज्ञानिक तरीकों पर आधारित था, जिसमें ढांचागत तरीके को मूल पहलू माना जाता था। समाज के वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन का अर्थ था कि तथ्यों को मूल्य (Values)

रहित होना जरूरी था। हालांकि, देसाई ऐसे तरीके के विरोधी थे जो सिद्धांत और व्यवहार व तथ्य और मूल्य को अलग करते हों। मार्क्स की तरह देसाई भी मानते थे कि तथ्य और मूल्य संयुक्त हैं और इन्हें विभक्त नहीं किया जा सकता। देसाई बताते हैं कि मार्क्सवाद की बुनियाद ही मूल्याधारित है। मार्क्सवाद के ज्ञान हासिल करने का मकसद स्वलाभ नहीं है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन है। देसाई के अनुसार दर्शन और राजनीतिक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद सामाजिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष का तरीका और पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को नष्ट कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का जरिया है।

8.4: भारत में ब्रिटिश शासन और राष्ट्रवाद (The British Rule and Nationalism in India)

इकाई के पूर्ववर्ती भाग में हमने देसाई के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के मुख्य पहलुओं को जाना है। इस हिस्से में हम जानेंगे कि देसाई ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन में इस दृष्टिकोण का किस तरह इस्तेमाल किया। भारतीय राष्ट्रवाद, विकास कार्यक्रमों, राज्य एवं समाज, कृषक आंदोलनों आदि विषयों पर अध्ययन के दौरान देसाई ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रयोग किया। हालांकि, इस इकाई में हम देसाई की पुस्तक *Social Background and Indian Nationalism* (1948) को उदाहरणस्वरूप लेंगे। इस पुस्तक में देसाई ने ब्रिटिश शासन और भारतीय समाज पर इसके असर का मार्क्सवादी विश्लेषण किया है। इस पूरे अध्ययन में देसाई ने पूर्व ब्रिटिशकाल से लेकर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन तक के काल का अध्ययन किया है। उन्होंने ब्रिटिश नीतियों, संपत्ति संबंधों और पूंजीवादी वर्ग ढांचे के विकास का परीक्षण अपने विश्लेषण में किया है। देसाई के अनुसार ब्रिटिश सत्ता ने राजनीतिक और आर्थिक नीतियों के जरिये भारतीय सामंतवादी व्यवस्था को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था (जिसमें सामंती अवशेष भी बाकी थे) में बदला। भारत ब्रिटेन की ब्रिटिश कॉलोनी थी जो मूलतः ब्रिटिश पूंजीवादी व्यवस्था की जरूरतों और रुचियों के हिसाब से ही काम करती थी। देसाई के अध्ययन में भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नवत परिवर्तन आते गए:

8.4.1: पूर्व ब्रिटिशकालीन सामाजिक-आर्थिक स्थिति (Socio-Economic Conditions in Pre-British India)

ब्रिटिशकाल से पूर्व भारतीय पारंपरिक अर्थव्यवस्था सामंतवादी थी और कुछेक नगरीय केंद्रों को छोड़कर इसका मूल ग्रामीण आर्थिकी पर निर्भर था। ग्रामीण आर्थिकी मुख्यतः स्थानीय, स्थिर और स्वयं के लिए पर्याप्त थी। यह मूलतः हल, बैलगाड़ी जैसी साधारण तकनीकों से होने वाली कृषि पर आधारित थी। यह ग्रामीण समुदाय किसानों, बलूटेदारों (सुनार, कुम्हार, बढ़ई, बुनकर समेत विभिन्न कार्यों के आधार पर विभाजित वर्ग) और अस्पृश्यों से मिलकर बनता था। कृषि उत्पादन का काम किसान किया करते थे, जो उत्पादन का कुछ हिस्सा जमींदार को देते थे, शेष का स्थानीय स्तर पर ही उपभोग किया जाता था। बलूटेदार समुदाय की विभिन्न जरूरतों के हिसाब से अपना काम किया करते थे। अस्पृश्य सेवकों-दासों की तरह और निम्नतर काम जैसे साफ-सफाई आदि किया करते थे। इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि आधारित थी और इस व्यवस्था में स्थानीय संसाधनों से मिलने वाला पूरा उत्पादन स्थानीय स्तर पर ही उपयोग-उपभोग कर लिया जाता था। बाजार की अवधारणा इस व्यवस्था में नहीं थी और परिवहन के बेहद कमजोर साधनों के चलते दूसरे स्थानों तक विनिमय के भी बेहद सीमित मौके उपलब्ध थे।

8.4.2: भारत पर ब्रिटिश विजय (The British Conquest of India)

यद्यपि ब्रिटिश विजय से पूर्व भारत पर कई बार बाहरी आक्रमण हो चुके थे, लेकिन इनके कारण भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर अधिक असर नहीं हुआ था। पिछले आक्रमणों में से अधिकतर राजनीतिक थे, जिनके परिणामस्वरूप राजा बदले जाते थे। विदेशी आक्रमणों, युद्धों आदि के बावजूद भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था सदियों तक अपरिवर्तनीय बनी रही। इस संबंध में देसाई लिखते हैं, 'भव्य और विध्वंसकारी रहे ये घटनाक्रम भारत के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैचारिक ढांचे पर तो असर डालने की वजह बने, लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के आधार को प्रभावित नहीं कर सके।' दूसरे शब्दों में उन्होंने उत्पादन के तरीकों पर असर नहीं डाला, जिससे वे सामंती व्यवस्था का ही हिस्सा बने रहे। देसाई मानते थे कि पूंजीवादी देश सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों के लिहाज से सामंती व्यवस्थाओं से अधिक विकसित थे। इसकी वजह यह थी कि पूंजीवादी देशों में सामाजिक-आर्थिक ढांचा संयुक्त था, जबकि सामंतवादी व्यवस्थाओं में इनके बीच ऐक्य नहीं था। (*ibid.*:26). भारत में सामाजिक व्यवस्था का विकास एशियाई मूल से सामंतवादी व्यवस्था, पूंजीवाद और अंततः समाजवाद-साम्यवाद तक की यात्रा में हुआ। चूंकि, ब्रिटिश पूंजीवादी राष्ट्र तत्कालीन भारतीय सामंतवादी व्यवस्था से आगे था, लिहाजा उसने यहां आसानी से विजय हासिल कर ली। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत पर ब्रिटिश शासन की जीत एक सामंतवादी देश पर पूंजीवादी देश की जीत थी। ऐसे में ब्रिटिश व्यवस्था ने अपने शासनकाल में भारत की सामंतवादी अर्थव्यवस्था को धीरे-धीरे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बदल दिया और इस क्रम में नये आर्थिक सुधारों को सामने रखते हुए पुराने आर्थिक ढांचे को इसने नष्ट कर दिया।

8.4.3: ब्रिटिश शासन में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन (Social and Economic Transformation under British Rule)

ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ भारत की आर्थिक व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो गई और ऐसा नया आर्थिक व्यवस्था का ढांचा स्थापित हुआ, जिसने सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन किया। इसकी शुरुआत ग्रामीण समाज और कृषि व्यवस्था में बदलाव से हुई। ब्रिटिशकाल में नये भू-राजस्व नियम लागू किए गए और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की नयी व्यवस्था सामने आई। इस व्यवस्था ने ग्रामीण जमीनों पर ग्राम्य समाज के पारंपरिक अधिकार को समाप्त किया और जमींदारों, निजी किसानों के रूप में स्वामित्व के नये रूप उभारे। जमीनों पर निजी मालिकाना अधिकार से व्यक्तिगत भू-मूल्यांकन और राजस्व भुगतान की व्यवस्था बनी। पुरानी व्यवस्था में मूल्यांकन के लिए गांव को एक इकाई माना जाता था और राजस्व भुगतान सामूहिक रूप से देय होता था। देसाई लिखते हैं कि नयी व्यवस्था से ग्राम्य अर्थव्यवस्था का व्यापारीकरण हुआ, क्योंकि किसान राजस्व (लगान) चुकाने के लिए अपने उत्पादों को बाजार में बेचने लगे। किसानों से पारंपरिक खेती के बजाय कपास, जूट, गेहूं, गन्ना और तैलीय बीजों जैसे बाजार मूल्य वाली फसलों का उत्पादन शुरू किया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश शासन ने भारत में उन फसलों की खेती को बढ़ावा देने का प्रयास किया जो इंग्लैंड के आधुनिक उद्योगों के लिए उपयोगी थीं। इन सभी नये परिवर्तनों से परिवहन और संचार के नये साधनों का भी विकास हुआ।

देसाई बताते हैं कि भारतीय कृषि की पुरानी व्यवस्था के नष्ट होने से किसानों में निर्धनता, आत्मनिर्भरता और गांवों में निरंकुश शासन व्यवस्था निरंतर बढ़ती गई, जिसका कारण जमींदारी व्यवस्था का उभरना और खेती का व्यवसायीकरण था। आगे चलकर हस्तशिल्प और ग्रामीण कारीगरों के कामकाज में

गिरावट भी आती गई। ब्रिटिश ने जानबूझकर भारतीय उद्योगों को नष्ट किया और भारतीय बाजार में विदेशी सामान की बिक्री को प्रोत्साहन दिया। देसाई के अनुसार भारतीय हस्तशिल्प और कारीगरी को नुकसान के ये प्रमुख कारण थे— 1. भारत से कच्चे माल को विदेशी उद्योगों के लिए निर्यात किया जाना 2. भारतीय विदेश व्यापार व्यवस्था पर ब्रिटिश कब्जा 3. भारतीय पारंपरिक उद्योगों पर तमाम प्रतिबंध 4. इंग्लैंड में मशीनों की मदद से बने अपेक्षाकृत सस्ते सामान को भारतीय बाजारों में बेचना। इन सभी परिवर्तनों ने भारत में नये सामाजिक संबंधों, ढांचों और संस्थागत बदलावों को जन्म दिया। नये नियम और कानून लागू किए गए। पंचायतीराज व्यवस्था का स्थान काफी हद तक नये भारतीय न्यायालयों की कानूनी व्यवस्था ने ले लिया। इस प्रकार ब्रिटिश सत्ता ने भारतीय समाज पर पूर्ण नियंत्रण कर लिया और अपने लाभ के अनुसार यहां शासन किया। (1948, pp.70-92).

8.4.4: आधुनिक शिक्षा, परिवहन और संचार के नये साधनों का उद्भव एवं विकास (Rise and Development of Modern Education and New Means of Transport and Communication)

सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में बदलाव के साथ ब्रिटिश शासन ने नयी तकनीकों को भी लागू किया, जिन्होंने भारतीय समाज में बदलाव को बढ़ावा दिया। ब्रिटिश उद्योगों की जरूरतों ने भारत में ब्रिटिश शासन के लिए परिवहन और संचार के नये साधनों के विकास को जरूरी बना दिया। गांवों, शहरों और जिलों को एक राजनीतिक-प्रशासनिक इकाई के अंतर्गत रखने के मकसद से ब्रिटिश शासन ने भारत सड़कों, रेलमार्गों, डाक-टेलीग्राफ व्यवस्था को विकसित किया। इन सभी व्यवस्थाओं के विकास के पीछे सैन्य और आर्थिक कारण भी थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासन की मदद से ईसाई मिशनरियों ने भारत में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का प्रसार किया। ब्रिटिश सरकार ने स्कूलों-कॉलेजों की स्थापना की, जहां राजनीतिक-प्रशासनिक जरूरतों के हिसाब से ब्रिटिश शासन की मदद के लिए आवश्यक आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा दी जाती थी। इन संस्थानों से शिक्षित भारतीय नये आधुनिक देश में लिपिक, वकील, डॉक्टर की तरह काम कर सकते थे और इस तरह वे प्रशासन व्यवस्था के हिस्सा बन पाते। (Desai 1948).

8.4.5: नये सामाजिक वर्गों का विकास (Rise of New Social Classes)

इन सभी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और तकनीकी परिवर्तनों ने भारतीय समाज को व्यापक रूपांतरण दिया, जिसे देसाई भारतीय समाज का पूंजीवादी आर्थिक रूपांतरण कहते हैं। इन बदलावों ने भारतीय लोगों को नये सामाजिक समूहों और वर्गों से जोड़ा। कृषिप्रधान क्षेत्रों में भारतीय कृषि व्यवस्था की समाप्ति, खेती के व्यावसायीकरण, जमींदारी व्यवस्था ने इन नये वर्गों को विकसित किया— 1. जमींदार 2. किसान और कृषि श्रमिक 3. व्यापारी एवं साहूकार। शहरी क्षेत्रों में आधुनिक शिक्षा के विकास, व्यापार के विस्तार, वाणिज्यिक और औद्योगिक नीतियों व बैंकिंग की स्थापनाओं से ये नये वर्ग विकसित हुए 1. शिक्षक, डॉक्टर एवं वकीलों जैसे व्यावसायिक लोग 2. व्यापारिक एवं वित्तीय पूंजीपति 3. छोटे व्यापारी एवं दुकानदार 4. आधुनिक कामगार (Desai 1948, pp. 163,164)

8.4.6: भारतीय राष्ट्रवाद का विकास (Rise of Indian Nationalism)

आधुनिक शिक्षा, पत्रकारिता की भूमिका, परिवहन-संचार के नये साधनों के बूते आए बदलावों ने लोगों को ब्रिटिश शोषण के प्रति जागरूक किया और भारतीय लोग इसके विरोध में एकजुट होने लगे। जनता को जागरूक करने के लिए ब्रिटिश शासनकाल में कई सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन हुए। आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था से निकले नवबुद्धिजीवियों और राजनेताओं ने राष्ट्रीय भावनाओं को

लेकर लोगों को जगाना शुरू किया जिसने लोगों को स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष करने को प्रेरित किया। देसाई भारत में राष्ट्रवाद की भावना को पांच प्रमुख अवधियों के चरणों में बांटते हैं— 1. प्रथम चरण (1885 तक), जिसमें सामाजिक सुधारों को लेकर पहल शुरू हुई। इस दौर में राजा राममोहन रॉय ने कई सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों की अगुवाई की। 2. दूसरा चरण (1885से 1905 तक) उन नरमपंथियों का था, जिन्हें सरकार की नीतियों पर विश्वास था 3. तीसरा चरण (1905 से 1918 तक) चरमपंथियों का था, यह दौर विशेष चुनौतीपूर्ण एवं उग्र रहा। 4. चौथा चरण (1918 से 1934 तक) महत्वपूर्ण था, क्योंकि इस दौर में आमजन राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े और आंदोलन को व्यापक विस्तार मिला। 5. पांचवां और अंतिम चरण (1934-1939) इस अवधि में राष्ट्रवादी आंदोलन को तीव्र गति मिली और आमजन के साथ मिलकर देश में लोकतांत्रिक आंदोलन हुए। (Desai 1948, pp 408-417).

8.5: किसान संघर्ष एवं ग्रामीण परिवर्तन (Peasant Struggle and Rural Transition)

अपनी पुस्तक *Peasant Struggles in India* (1979) में देसाई ने औपनिवेशिक काल में देश के विभिन्न भागों में हुए किसान आंदोलनों पर उपलब्ध विविध शोधकार्यों के संग्रहीकरण के अलावा ऐतिहासिक क्रम से इनके अध्ययन के जरिये भारत में कृषक आंदोलनों की व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत की है। देसाई ने पाया कि यह अध्ययन दमनकारी, शोषक नीतियों को समझने और इनके विरोध में जनजातियों, किसान आंदोलनों के आंदोलन की जानकारी लेकर इन्हें नये स्वरूप में संगठित करने और रणनीति तैयार करने में मदद करता है, ताकि इसके आधार पर व्यापक संघर्ष को विकसित कर सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन कर इसके स्थान पर गैरपूंजीवादी, सामाजिक ढांचे की स्थापना करे। (ibid. xiv). इस प्रकार देसाई विश्व सामाजिक व्यवस्था में चल रहे परिवर्तनकारी दौर और स्थानीय किसान संघर्ष के बीच संबंध स्थापित करते हैं।

किसान आंदोलनों के अलावा देसाई (1961) ग्रामीण परिवर्तन का भी जिक्र करते हैं, जो भूमि सुधार कानूनों और अन्य नीतियों की वजह से सामने आए। वह तर्क देते हैं कि भूमिसुधार उपयोगी तो था, लेकिन इसका असर बेहद सीमित रहा। इसके परिणामस्वरूप अमीर किसान वर्ग और विकसित होते गए, जबकि खेती पर आधारित मूल निर्धन वर्ग की जीवनशैली में कोई बदलाव नहीं आया। खेतों में हल चलाने वाले असल लोगों को जमीन मिल ही नहीं सकी। कृषि नीति ने अमीर किसान, कृषि पूंजीपतियों, बिचौलियों के नये वर्गों का विकास किया, जो सामाजिक और आर्थिक तौर आगे चलकर और मजबूत बनते गए। इसी प्रकार देसाई ने पाया कि शहरी भारत में उच्च वर्ग विकसित हुए जो मूल समाज से अलग और तकनीक-शिक्षा, जीवनशैली के लिहाज से परिष्कृत थे। इन लोगों में पूंजीवाद और सामंतवाद की मान्यता बढ़ी। उपनिवेशवाद, पूंजीवाद और आधुनिक भारतीय शासन ने ऐसे सत्तासीन वर्ग को विकसित किया जिसमें सामंतवादी व्यवस्था के अवशेष थे और इनके साथ ही यह वर्ग निजी लाभ के लिए पूंजीवादी व्यवस्था का भी अनुसरण करता था। इस प्रकार सत्ता व्यवस्था के कारण ग्रामीण रूपांतरण से ये बदलाव सामने आए— 1. विभिन्न वर्गों के बीच मतभेदों में तीखापन बढ़ता गया, जिससे तनाव, अंतर्विरोध और संघर्ष की भावनाएं बढ़ीं 2. ग्राम्य समाज में अमीर वर्ग शक्तिशाली होते गए। (Patel 2007)

8.6: विकासशील समाजों का आधुनिकीकरण एवं विकास (Modernization and Development of Underdeveloped Societies)

देसाई ने न सिर्फ भारत में वर्ग विभाजन, राज्य और समाज व्यवस्थाओं का अध्ययन किया, बल्कि विकसित और विकासशील देशों में शक्ति की स्थिति और गतिशीलता पर भी बारीकी से जानकारियां जुटाईं। उनका लेखन न केवल भारतीय समाज की तस्वीर सामने रखता है, बल्कि वैश्विक सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य के लिहाज से इसकी अवधारणा को स्पष्ट करता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद, पूंजीवाद के साथ वह आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रियाओं का भी परीक्षण करते हैं, जो नवगठित देशों के लिए अनिवार्य बन गई हैं। बीसवीं सदी के दौर में कई औपनिवेशिक देश स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत थे। इनके परिणामस्वरूप विश्व में एक साथ कई स्वतंत्र राष्ट्र उभरकर सामने आए। इन देशों को 'तीसरी दुनिया' के नाम से जाना गया, जो विकासशील देश माने जाते हैं। इसका अर्थ यह कि ये देश आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को इस तरह विकसित करने के लिये प्रयासरत हैं कि वे निर्धनता और पिछड़ेपन से पार पा सकें। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये वे विभिन्न नये मानकों और नीतियों को अपनाते हैं।

भारत को 1947 में तब स्वतंत्रता मिली, जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त ही हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होते ही विश्व शीतयुद्ध (Cold War) का साक्षी बना। यह शीतयुद्ध दुनिया के दो अहम हिस्सों में बंटने की वजह बना— 1. पूंजीवादी हिस्सा, जिसका नेतृत्व अमेरिका के हाथ में था 2. समाजवादी हिस्सा, जिसकी कमान सोवियत यूनियन संभाले हुए था। नयी स्वतंत्रता हासिल करने वाले देशों के लिए इन दोनों विरोधी पक्षों में से किसी एक को अपनी विकास नीतियों और मानकों के हिसाब से चुनने की बाध्यता बन गई। देसाई (1975) ने इस प्रवृत्ति को बारीकी से समझा और स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि नवगठित देशों के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि वे पूंजीवाद को चुनें या साम्यवाद को। देसाई ने पाया कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया स्वयं भी इस प्रवृत्ति को बढ़ा रही थी। वह लिखते हैं: 'आधुनिकीकरण की पूंजीवादी धारणा निजी संपत्ति की धुरी पर रहती है, जिसके जरिये उत्पादन को नियंत्रित किया जाता है, जबकि पूरी प्रक्रिया को बल देने वाला मूल पूंजीवाद पर आधारित होता है। गैरपूंजीवादी प्रक्रिया में सार्वजनिक स्वामित्व उत्पादन का मूलबिन्दु है, जिसमें पूंजीवादी और भूस्वामी वर्ग गति प्रदान करने वाले कारक बनते हैं।' (*ibid.* pp 33-34).

देसाई आगे बताते हैं कि यद्यपि दोनों में ऊपरी तौर पर कुछ समानताएं दिखती हैं, लेकिन दोनों में काफी अंतर हैं। समानताओं की बात करें तो सामाजिक गतिशीलता, विद्युत और आणविक ऊर्जा की मदद से बड़े पैमाने पर उत्पादन, औद्योगीकरण, नगरीकरण, कानून की सर्वोच्चता, वैज्ञानिक ज्ञान को महत्व और मजबूत शिक्षा व्यवस्था के पक्ष सामने आते हैं। पूंजीवादी मार्ग निजी उद्यमशीलता को बढ़ावा देता है, जिसका मकसद लाभ हासिल करना होता है। इससे इस प्रक्रिया में समाज का विभाजन स्वामित्व और अस्वामित्व के वर्गों के रूप में सामने आता है। वहीं, आधुनिकीकरण का समाजवादी मार्ग सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित होता है। इससे यहां उत्पादन आवश्यकताओं पर आधारित होता है, यह सार्वजनिक स्वामित्व के आधार पर समाज को अलग-अलग तहों में बांटता है, संपत्ति और पूंजीवादी वर्ग का कामगार वर्ग में बदलाव होता है। देसाई ने पाया कि स्वतंत्रता के बाद भारत ने देश के विकास के लिए पूंजीवादी और समाजवादी दोनों ही पक्षों से संयोजन किया। भारत ने कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की अवधारणा पर आधारित मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया।

देसाई (1975) और उनके दौर के अन्य मार्क्सवादी विद्वान मानते हैं कि नव विकासशील देश, जिन्होंने विकास के लिए पूंजीवादी मार्ग अपनाया वे राजनीतिक रूप से स्वतंत्र तो हैं, लेकिन सांस्कृतिक और वैचारिक रूप से संबंधित अवधारणा को बढ़ावा देने वाले देश पर निर्भर रहते हैं। इसकी वजह यह है कि विकसित देश अपनी विकास नीतियों और मानकों के आधार पर खुद से संबद्ध विकासशील देशों को प्रभावित करते हैं। ये विद्वान मानते हैं कि सहायता (Aid), सहयोग (Assistance) और समर्थन (Support) के नाम पर विकसित देश विकासशील देशों में लूट (Pillage) और शोषण (Exploitation) का नया सूक्ष्म, लेकिन विस्तृत तंत्र विकसित करते हैं। देसाई (1975) आलोचनात्मक रूप से इस पूरी प्रक्रिया का विश्लेषण करते हैं। वह आधुनिकीकरण और विकास को उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के तौर पर देखते हैं। वह बताते हैं कि पूंजीवादी, साम्राज्यवादी देशों के नेतृत्व में चली उपनिवेशवाद की प्रक्रिया ने ही तीसरी दुनिया के देशों को अविकसित या विकासशील बने रहने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। दूसरे शब्दों में साम्राज्यवादी देशों के विकास की असल वजह औपनिवेशिक देशों की निर्धनता और पिछड़ापन ही था। इस तरह वह तीसरी दुनिया के देशों की अधीनता और दरिद्रता और वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था की उन्नति का संबंध स्थापित करते हैं। (*ibid.*, pp.3-18).

8.7: निष्कर्ष (Conclusion)

देसाई प्रख्यात मार्क्सवादी विद्वान थे जिन्होंने भारतीय सामाजिक अध्ययन के तरीकों को प्रभावित किया। इस इकाई के अध्ययन से हमने पाया कि वह उन चंद मार्क्सवादी शोधकर्ताओं में शामिल थे, जिन्होंने भारतीय समाज के अध्ययन के पारंपरिक तरीकों को चुनौती दी। भारत में ब्रिटिश शासनकाल और इसके सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं तकनीकी परिवर्तनों, नये सामाजिक वर्गों के विकास और भारतीय राष्ट्रवाद पर देसाई के अध्ययन को आज भी भारतीय इतिहास और समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन-शोध के लिए प्रतिमान माना जाता है। हम पाते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता के बाद भी देसाई ने भारत के विकास में भारतीय राज्य की भूमिका पर समालोचनात्मक और व्यापक लेखन किया है। उन्होंने भारत में राज्य व्यवस्था, वर्ग ढांचों के उभार, उत्पादन के पूंजीवादी तरीकों का भी विश्लेषण किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवाद, उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, ये वो तीन धुरियां थीं, जिनके इर्द-गिर्द देसाई का पूरा कार्य संपन्न हुआ है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि वर्ष 1960 और उसके बाद देसाई के शोधकार्यों, लेखन के प्रकाशन से भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बल मिला। उत्पादन और इसके तरीकों को लेकर यह दृष्टिकोण भारत के इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों व समाजशास्त्रियों के मध्य विमर्श का जरिया बन गया। इनमें बिपिन चंद्र, उत्स पटनायक, कैथलीन गोह, गेल ऑम्वेड आदि रहे।

8.8: शब्दावली (Glossary)

1. **अनुभववाद (Empiricism):** का अर्थ उस ज्ञान से है, जिसे निरीक्षण-बोध के आधार पर दृष्टिकोण से प्राप्त किया गया हो। इस तरह किए जाने वाले शोध का तात्पर्य उस शोध से है जिसमें निरीक्षण-परीक्षण, प्रयोग, फील्डवर्क, गुणवत्तात्मक और मात्रात्मक अध्ययन से मिलने वाले तथ्यों, आंकड़ों को आधार बनाया गया हो। अनुभववाद का उभार मान्यता और अटकलों के आधार पर किए जाने वाले शोध के विरोधस्वरूप हुआ।

2. **उत्पादन प्रणाली (Mode of Production):** का तात्पर्य जीवन के लिए आवश्यक भोजन, वस्त्र, आवास और अन्य के उत्पादन की प्रक्रिया से है। इससे उत्पादन के तरीकों-संबंधों को नियंत्रित किया जा सकता है।
3. **उत्पादन शक्ति (Forces of Production):** यह उन आवश्यक कारकों का समूह है जो उत्पादन के लिए आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए भूमि और कच्चा माल (प्राकृतिक संसाधन), श्रम (मानवीय संसाधन) और पूंजी (मानवनिर्मित संसाधन) वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए जरूरी हैं।
4. **उत्पादन संबंध (Relation of Production):** जीवन निर्वाह के लिए उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य उत्पादन के एक निश्चित संबंध से जुड़ जाता है, जिसके चलते लोगों के बीच सामाजिक संबंध स्थापित होते जाते हैं।

उदाहरण— पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में कच्चा माल, औद्योगिक श्रमिक और मशीनरी उत्पादन शक्ति की तरह काम करते हैं, जबकि पूंजीपति, छोटे पूंजीपति और श्रमजीवी वर्गों के बीच उत्पादन संबंध विकसित होते हैं। उत्पादन शक्तियों और संबंधों के बीच उत्पन्न होने वाले अंतर्विरोध परिवर्तन और सामाजिक क्रांति के माध्यम बनते हैं। यह तब होता है, जब विकास की प्रक्रिया में किसी विशेष स्थिति में उत्पादन शक्ति और संबंधों के बीच विरोध बढ़ने लगे और इसके चलते उत्पादन प्रणाली में बदलाव की आवश्यकता महसूस हो।

8.9: सन्दर्भ (References)

- Desai, A. R.(1948),*Social Background of Indian Nationalism*, Popular Prakashan, Mumbai. (Sixth Edition, 2000)
- Desai, A. R. (1961), *Rural India in transition*, Popular Prakashan, Bombay.
- Desai, A. R. (1975), *State and Society in India: Essays in Dissent*, Popular Prakashan, Bombay.
- Desai, A.R. (ed.) (1979), *Peasant Struggles in India*, Oxford University Press, New Delhi.
- Desai, A. R. (1981), “Relevance of the Marxist Approach to the Study of Indian Society”, *Sociological Bulletin*, Vol. 30, No. 1, pp.1-20.
- Munshi, I. and Denzil, S. (1994), “Remembering A R Desai”, *Economic and Political Weekly*, Vol. 29, No. 49, pp. 3069-3070.
- Patel, S. (2007), “Towards a Praxiological Understanding of Indian Society: The Sociology of A. R. Desai” in Uberoi, P. Sundar, N. and Deshpande, S. (eds.) *Anthropology in the East: Founders of Indian Sociology and Anthropology*. Permanent Black Swan. pp.417-443.
- Raman, V. (2013), “The Marxist Sociology of A. R. Desai and the Bombay School: A Tribute and a Discussion”, *Sociological Bulletin*, pp.254-268.
- Savur, M and Munshi, I. (eds.) 1995. *Contradictions in Indian society : Essays in honour of Professor A.R. Desai*. Rawat Publications.

इकाई 9

रामकृष्ण मुखर्जी (Ramkrishna Mukherjee)

- 9.1: उद्देश्य
- 9.2: परिचय
 - 9.2.1: जीवन परिचय
 - 9.2.2: योगदान एवं महत्वपूर्ण कार्य
- 9.3: दृष्टिकोण एवं सिद्धांत
 - 9.3.1: समाज क्या है
 - 9.3.2: समाज का विज्ञानीकरण
- 9.4: सामाजिक शोध के प्रकार
 - 9.4.1: विवरणात्मक शोध
 - 9.4.2: व्याख्यात्मक शोध
 - 9.4.3: परीक्षणात्मक या नैदानिक शोध
- 9.5: सामाजिक परिवर्तन एवं विकास
- 9.6: निष्कर्ष
- 9.7: सन्दर्भ

9.1: उद्देश्य (Objectives)

- रामकृष्ण मुखर्जी के कार्यों और उल्लेखनीय योगदानों का अध्ययन करना
- समाज के अध्ययन के लिये रामकृष्ण मुखर्जी द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण और सिद्धांतों की जानकारी और अध्ययन
- शोधकार्य के नियमन के लिये आवश्यक कदमों की जानकारी और इन्हें सीखने का प्रयास

9.2: परिचय (Introduction)

रामकृष्ण मुखर्जी भारतीय सांख्यिकीय संस्थान (Indian Statistical Institute) कलकत्ता के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक थे, जिन्होंने 20वीं सदी में भारत के सामाजिक शोधकार्यों में उल्लेखनीय योगदान किया। शोधकार्यों को लेकर उनकी अभिरुचि की शृंखला बेहद विस्तृत थी, जिसमें कृषि और भूमि संबंधों, इनके अंतर्द्वंद्व, बंगाल के अकाल, परिवार और रिश्तेदारी, सामाजिक उन्नति, विकास और गतिशीलता, जीवन की गुणवत्ता तथा सामाजिक मानक आदि पहलू शामिल थे। एक सांख्यिकीविद होने के कारण उन्होंने भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के लिये सांख्यिकीय सिद्धांतों का इस्तेमाल किया। उन्होंने विस्तृत अंकीय और परिमाण संबंधी आंकड़ों के जरिये विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं और इनके माध्यम से भारतीय समाज में आ रहे बदलावों को स्पष्ट किया। वस्तुतः भारतीय सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में उन्हें परिमाणात्मक सिद्धांत (Quantitative Method) का प्रणेता माना जाता है (Bhattacharya 2017)। मुखर्जी एक मार्क्सवादी विद्वान थे, जिन्होंने सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के लिये निगमन आधारित सिद्धांत (Inductive Methodology) का प्रतिपादन किया।

9.2.1: जीवन परिचय (Biographical Note)

रामकृष्ण मुखर्जी का जन्म पश्चिम बंगाल के एक समृद्ध ब्राह्मण, जमींदार परिवार में हुआ था। उनके पिता भारतीय रेलवे में इंजीनियर थे। अपने दौर के अन्य विद्वानों की तरह मुखर्जी कलकत्ता में ही पले-बढ़े। उनकी प्रारंभिक शिक्षा रिपन कॉलेजिएट स्कूल, मित्रा इंस्टीट्यूशन और प्रेसीडेंसी कॉलेज में हुयी। निर्मल कुमार बोस और डीपी मुखर्जी की ही तरह उच्च शिक्षा के लिये वह प्रकृति विज्ञान विषय

चुनना चाहते थे, लेकिन नजर की कमजोरी इसमें बाधा बन गयी। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से मानव विज्ञान में स्नातकोत्तर डिग्री हासिल की (Madan 2016; Munshi 2016). मात्र 22 वर्ष की आयु में वह बंगीय प्रांत किसान सभा (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का बंगाल प्रांत का किसान संगठन) के सदस्य बन गये और वर्ष 1941 से 1945 तक कई किसान आंदोलनों में बेहद सक्रिय रूप से भाग लिया। इस अवधि में वह किसानों की हालत से गहराई से रूबरू हुये। इसी दौर में कार्ल मार्क्स और एंजेल को भी उन्होंने गहराई से पढ़ा और अपनी प्रख्यात पुस्तक *Six Villages of Bengal* के लिये आंकड़े जुटाये। आंदोलनों के दौरान उनकी बुद्धिजीविता, तार्किकता और विश्लेषणक्षमता ने कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव पीसी जोशी को प्रभावित किया। जोशी ने मुखर्जी को पीसी महालनोबिस से मिलवाया। महालनोबिस ने ही व्यक्तिगत रूप से मुखर्जी को सांख्यिकी की शिक्षा दी (Mukherji 2000). उन्होंने कलकत्ता में भारतीय सांख्यिकी संस्थान की स्थापना की और रामकृष्ण मुखर्जी पर उनका खासा असर रहा। 1944 में मुखर्जी भारतीय सांख्यिकी संस्थान से जुड़ गये और उन्होंने वहां सामाजिक शोध विभाग की स्थापना की। वर्ष 1946 में महालनोबिस की अनुशंसा पर मुखर्जी केंब्रिज विश्वविद्यालय की एक शोध परियोजना से जुड़ गये। इसके तहत शोध टीम को सूडान और इजिप्ट में खुदाई से मिले कंकालों के शोध में महालनोबिस के सांख्यिकी सिद्धांतों का इस्तेमाल करना था। इस शोधकार्य के जरिये मुखर्जी को 1948 में डॉक्टरेट उपाधि मिली और इस शोधकार्य को उन्होंने वर्ष 1955 में **The Physical Characteristics of Ancient Inhabitants of Jebel Moya, Sudan** नाम से प्रकाशित करवाया। 1948-49 में मुखर्जी लंदन में महामहिम के सामाजिक सर्वे (**His Majesty's Social Survey**) के मुख्य शोध अधिकारी रहे। वह तुर्की सरकार के सलाहकार (1949), लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के सलाहकार (1952) और 1953 से 57 तक हंबोल्ट यूनिवर्सिटी बर्लिन में भारतीय अध्ययन के अतिथि शिक्षक भी रहे। भारत सरकार के नेशनल सैंपल सर्वे ऑर्गेनाइजेशन में भी मुखर्जी ने निदेशक के तौर पर काम किया। वह प्रख्यात वैज्ञानिक और विख्यात विद्वान थे, जिनकी बुद्धिमत्ता ने अपने दौर में विश्वभर को लाभान्वित किया। बांग्लादेश, केन्या, सूडान, युगांडा, फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, यूनाइटेड किंगडम, चेकोस्लोवाकिया और तुर्की समेत दुनिया के कई देशों में उन्होंने काम किया (Dec 5, *Mainstream Weekly*). उनके उल्लेखनीय योगदान पर वर्ष 1981 में एशियाटिक सोसायटी ने उन्हें गोल्ड मेडल से सम्मानित किया। इसी तरह वर्ष 1985 में स्वामी प्रणवानंद एजुकेशन अवार्ड और 1986 में पंडित जवाहरलाल नेहरू अवार्ड भी उन्हें प्रदान किया गया। अकादमिक कार्यों से इतर बागवानी, शिल्पकला और शास्त्रीय संगीत में मुखर्जी की गहरी रुचि थी। वर्ष 2015 में कलकत्ता में मुखर्जी का देहावसान हुआ।

9.2.2: योगदान एवं महत्वपूर्ण कार्य (Contribution and Major Works)

जैसा कि हम पहले जान चुके हैं, रामकृष्ण ने सामाजिक उन्नति, विकास, परिवार-रिश्तेदारी, जाति और वर्ग ढांचा, जीवन की गुणवत्ता आदि समेत विविध मसलों पर काम किया है। इसके साथ ही उन्होंने दर्शनशास्त्र और समाज विज्ञान की सैद्धांतिक व्याख्याओं पर भी गहराई से काम किया है। समाज, संस्कृति और विकास के संबंधों पर भी उन्होंने उल्लेखनीय काम किया है। मुंशी (2016) बताते हैं कि रामकृष्ण ने इतने विविध और विस्तृत स्तर पर काम किया है कि उनके जीवन को किसी एक आयाम में स्पष्ट कर पाना संभव नहीं है। भारतीय शोध इतिहास में वह ऐसे शोधकर्ता रहे हैं, जिनका कार्यकाल ईस्ट इंडिया कंपनी के दौर से वर्ष 2008 तक रहा है।

उनकी विविधता का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि उन्होंने बंगाल के अकाल से लेकर ब्रिटेन की सामाजिक गतिशीलता, युगांडा की पारंपरिक समस्याओं और सूडान के प्राचीन लोगों तक पर काम किया है। उनके कुछ उल्लेखनीय कार्यों में निम्न पुस्तकों को गिना जाता है:

- i) *Social Indicators* (1975),
- ii) *What Will it Be?* (1979),
- iii) *Sociology of Indian Sociology* (1979),
- iv) *Classifications in Social Research* (1983),
- v) *Systemic Sociology* (1993)

मुखर्जी भारतीय सामाजिक अध्ययन के लिये पारंपरिक वियोजन आधारित और सकारात्मक समाजशास्त्रीय शोध सिद्धांतों की आलोचना करते हैं। सांख्यिकी आंकड़ों के अध्ययन के जरिये रामकृष्ण किसी भी घटना के वास्तविक अध्ययन के लिये परिमाणों के आधार पर अध्ययन को जरूरी मानते हैं। भट्टाचार्य भारतीय समाजशास्त्र में रामकृष्ण मुखर्जी के योगदान को निम्नवत महत्वपूर्ण मानते हैं: (Bhattacharya 2017, pp. 97).

- समाज विज्ञान को समग्र रूप में एकात्मक अवधारणा के तौर पर स्थापित करना
- निगमन, परिमाणात्मक समाजशास्त्र का अन्वेषण
- विशुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण और समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का ऐसा मेल स्थापित किया, जो रूढ़िवादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अलग है
- सामाजिक विश्लेषण में सांख्यिकी, परिमाणात्मक सिद्धांत की स्थापना में अग्रणी भूमिका का निर्वहन

9.3: दृष्टिकोण एवं सिद्धांत (Approach and Method)

प्रारंभ में रामकृष्ण ने 1943 के बंगाल अकाल और कृषि व भूमि ढांचे की प्रकृति और इनसे जुड़ी समस्याओं का अध्ययन किया। इसके लिये उन्होंने अनुभवजन्य, अवधारणात्मक प्रकृति के सिद्धांतों का इस्तेमाल किया। यद्यपि प्रारंभ में उन्होंने अपने शोधकार्यों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का भी प्रयोग किया, लेकिन जल्द ही उन्होंने आगमनात्मक आनुमानिक (Inductive Inferential) सिद्धांत का इस्तेमाल प्रारंभ कर दिया (Singh 1986). कम उम्र में ही मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़ जाने के कारण मुखर्जी के भारतीय समाज के प्रति दृष्टिकोण और समझ पर मार्क्सवादी विचारों का असर दिखता था। *The Dynamics of A Rural Society* (1957) में वह मार्क्सवादी दृष्टिकोण के जरिये कृषक समाज की गतिशीलता में आर्थिक ढांचे की भूमिका को उन्होंने स्पष्ट किया। इस अध्ययन के लिये उन्होंने भूमि और व्यवसाय के मापदंडों के आधार पर उत्पादन के संबंधों को दो श्रेणियों में विभक्त किया। मुखर्जी ने कृषक समाज में जाति ढांचे का भी अध्ययन किया। ब्रिटिश उपनिवेश दौर के जाति और वर्ग के ढांचे पर असर को भी उन्होंने स्पष्ट किया। अपने इस अध्ययन में वह लोगों के सामाजिक जीवन पर आर्थिकी के असर को समझाते हैं। (Pramanick 2017, pp. 46)

आर्थिक ढांचे के अलावा रामकृष्ण ने भारतीय समाज में वर्ग के अध्ययन पर भी उल्लेखनीय काम किया है। वह मानते हैं कि व्यापारी वर्ग सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अपनी पुस्तक *The Rise and Fall of East India Company: A Sociological Appraisal (1958)* में वह मार्क्सवादी दृष्टिकोण का इस्तेमाल करते हुये व्यापारी वर्ग के विकास और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रभाव का अध्ययन करते हैं। वह ईस्ट इंडिया कंपनी के उद्भव और पतन तथा इसके भारतीय समाज पर असर को स्पष्ट करते हैं। वह बताते हैं कि किस तरह अंग्रेज व्यापारी पूंजीवादी वर्ग यूरोप और भारत में विकसित हुये। उन्होंने इंग्लैंड में सामाजिक अध्ययन के लिये दो वर्गों को समृद्ध और वंचित नाम से पुकारा है और इन दोनों के बीच होने वाले संघर्ष को स्पष्ट किया है।

रामकृष्ण के अनुसार ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी अपने नायकत्व अथवा जीतने की क्षमता के कारण भारत में सफल नहीं हुये, बल्कि इसकी वजह यह थी कि उन्होंने भारत में व्यापारिक पूंजी के इस्तेमाल के विशेष तरीकों का इस्तेमाल किया। इस तरह यह भारतीय सामंती समाज पर पूंजीवाद की जीत बन गयी। वह बताते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय उद्यमों को नष्ट किया और भारत से धन को यूरोप पहुंचा दिया।

अपने बाद के शोधकार्यों में मुखर्जी ने आगमनात्मक आनुमानिक सिद्धांत का इस्तेमाल समाज के व्यवस्थित अध्ययन के लिये किया, जिसे व्यवस्थित समाजशास्त्र (Systemic Sociology) नाम दिया गया।

रामकृष्ण (1993) के अनुसार समाजशास्त्र का कार्य समाज को समझना है। वह सामाजिक वास्तविकता को लेकर निम्न दो लक्ष्यों से विश्लेषणात्मक बोध सामने रखते हैं:

- समाज विज्ञान के सामान्य विचार के तहत समाजशास्त्र की विशेष भूमिका को स्पष्ट करना
- यह परीक्षण करना कि किस तरह समाजशास्त्र समग्र समाज विज्ञान से अलग एक विशिष्ट शाखा है

रामकृष्ण मुखर्जी के अनुसार यह व्यवस्थित समाजशास्त्र की बुनियाद है, उनके अनुसार व्यवस्थित समाजशास्त्र के दो घटक हैं:

- **समाजशास्त्र की सत्तामूलता (Ontology of Sociology):** समाज होने की प्रकृति, यह बुनियादी तत्व है
- **समाजशास्त्र की ज्ञानमीमांसा (Epistemology of Sociology):** समाज के संबंध में ज्ञान की प्रकृति, स्रोत और सीमाएं

रामकृष्ण के अनुसार समाज का मूल्यांकन इन दो घटकों के व्यवस्थित अध्ययन से संभव है। हालांकि, यहां यह भी उल्लेखनीय है कि रामकृष्ण के लिये समाज को समझने का अर्थ समाज के मूल्यांकन से अलग था, क्योंकि समाज को समझना समाज के मूल्यांकन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज के भविष्य और इसकी स्थिति के कारणों की भी व्याख्या करता है।

3.3.1: समाज क्या है (What is Society)

किसी समाज की स्थापना की पहली शर्त वहां लोगों और समूहों की उपस्थिति है, जिनके बीच परस्पर संवाद हो, भले ही यह संवाद नकारात्मक, सकारात्मक अथवा निष्पक्ष हो। दूसरी शर्त यह है कि यह वैयक्तिक नहीं होता यानी इसकी प्रकृति समूहवादी हो। इसके अलावा सकारात्मक और निष्पक्ष संवाद-संपर्क समूहों को परस्पर जोड़कर रखते हैं। ऐसे संवादों को अनुपूरक संवाद कहा जाता है और इनका गुण समाज को अस्तित्वमान रखना है। दूसरी ओर, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सामने आने वाले नकारात्मक संवाद समूहों में बदलाव की वजह बनते हैं और कई बार ये किसी समूह के विलोपन का भी कारण बन जाते हैं। ऐसे संवादों को अंतर्द्विवात्मक संवाद कहा जाता है और ये समाज के बदलाव की प्रकृति रखते हैं। परिणामतः इन दोनों प्रकार के संवादों के चलते कोई समाज पूरी तरह विलुप्त भी हो सकता है। चूंकि, इन दोनों तरह के संवादों में लोगों की सहभागिता रहती है, लिहाजा उन्हें परिवर्तनशील तत्वों के तौर पर जाना जाता है (Mukherjee 1993). उपरोक्त तंत्र के जरिये मुखर्जी सामाजिक संवादों, सामाजिक क्रियाकलापों, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संबंधों और सामाजिक संबंधों के अनुक्रमों को लेकर अवधारणा स्थापित कर पाते हैं, ताकि समझा जा सके कि समाज क्या है।

यहां घटना का अर्थ किसी भी वस्तु से है, जिसके गुणों की पहचान तो होती है, लेकिन व्यापकता की नहीं। इस प्रकार मानव समाज, किसी स्थान, समय और लोगों के संदर्भ में एक घटना है Mukherjee 1993, pp. 126\

मुखर्जी के अनुसार इसकी वजह यह है कि ये सभी समग्र सामाजिक व्यवस्था के अलग-अलग हिस्से हैं और इन सबको एकसाथ समझना आवश्यक है। मुखर्जी सात अंधों और हाथी की कहानी के जरिये इसे स्पष्ट करते हैं। इन अंधों ने हाथी को अलग-अलग स्थानों पर छुआ। एक ने (जिसने हाथी के पैरों को छुआ था) इस जानवर को पेड़ के तने के आकार का बताया तो दूसरे ने पूंछ को छूने के बाद इसे किसी रस्सी के समान जीव मान लिया, कान पकड़ने वाले अंधे ने हाथी को पंखे के आकार का जीव बताया, इसी तरह हर अंधे ने अलग-अलग व्याख्या की। मुखर्जी मानते हैं कि समाज को अलग-अलग व्यक्तियों के सघन समग्र स्वरूप के तौर पर देखा जाना चाहिये जो क्रियाकलापों, व्यवहार और संबंधों के लिहाज से एकीकृत हो। वह बताते हैं कि समाज एक ऐसा तत्व है जो लोगों के जीवन को निर्धारित करता है, लेकिन लोगों की व्यक्तिगत परिवर्तनशीलता को भी स्वतंत्रता देता है। इस प्रकार समाज लोगों की तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार विशिष्ट स्वरूप में नजर आता है और कई बार इसमें बदलाव भी आते हैं।

9.3.2: समाज का विज्ञानीकरण (Sciencing Society)

समाज की परिभाषा को स्पष्ट कर लेने के बाद मुखर्जी समाज के अध्ययन के लिये व्यवस्थित तरीके की ओर बढ़ते हैं, जिसे उन्होंने समाज का विज्ञानीकरण कहा है (1993 pp.101). वह बताते हैं कि समाज का विज्ञानीकरण किसी घटना से जुड़े पांच सवालों के जवाब तलाशकर उससे जुड़ी व्यवस्थित जानकारी हासिल करता है। ये पांच सवाल हैं— 1. यह क्या है? 2. यह क्यों है? 3. यह कैसे है? 4. इससे क्या होगा? 5. इसे क्या होना चाहिये? मुखर्जी बताते हैं कि ये सभी प्रश्न एक-एक कर किये जाने चाहिये और इनसे मिलने वाले जवाबों को अगले सवाल से जुड़ना चाहिये। वह बताते हैं कि प्रारंभिक तीन प्रश्नों पर ही समाज की समझ निर्भर करती है, जबकि बाद के दो प्रश्न समाज के मूल्यांकन के जवाब

तलाशते हैं। वह उदाहरण देते हैं कि किस तरह महात्मा गांधी ने इन प्रश्नों का इस्तेमाल भारतीय समाज को समझने और अपने दर्शन को विकसित करने में किया। वह लिखते हैं, गांधी का सामाजिक दर्शन भारतीय समाज से जुड़े क्या, कैसे और क्यों के प्रश्नों से उभरा। (1979, pp.7). मुखर्जी आगे बताते हैं कि इसे क्या होना चाहिये, इस सवाल का जवाब मानवजाति के मुख्य मूल्यांकन पर आधारित है, जिसके चार घटक हैं:

- प्रजातियों का अस्तित्व
- लोगों की सुरक्षा और उनका जीवनकाल
- व्यक्तियों की भौतिक समृद्धि, जिस पर उनका अस्तित्व, सुरक्षा और समग्र जीवन आधारित है
- हर व्यक्ति का मानसिक विकास, ताकि उसकी क्षमताओं का पूरा उपयोग हो

हालांकि, इन सभी सवालों और उनके मूल्यांकन की समझ अलग-अलग लोगों में अलग हो सकती है। ऐसी स्थिति में मुखर्जी मानते हैं कि विशेषज्ञ को विचारों का एकाधिकार रखने के बजाय शोधकर्ता और आम लोगों के विचारों को भी ध्यान में रखना चाहिये। वह बताते हैं कि इस संबंध में विचार को लेकर निम्न समन्वय का ध्यान रखा जाना चाहिये—

- अभिजात्य विशेषज्ञ का मूल्यांकन, जिसमें यह स्पष्ट किया गया हो कि मानवजाति के मुख्य मूल्यांकन के लिहाज से लोगों के सवालों के जवाबों के लिये क्या आवश्यक है
- व्यक्तिगत रूप से गठित समूहों के मूल्यांकन का समावेश, क्योंकि यह सीधे तौर पर वह सन्दर्भ स्पष्ट करता है लोग अपने लिये क्या चाहते हैं
- किसी स्थान, लोगों और विशेष परिस्थितियों के संदर्भ में उपरोक्त दोनों मूल्यांकन सेट के संवादों और संबंधों के जरिये निष्कर्ष निकाले जाने चाहिये

9.4: सामाजिक शोध के प्रकार (Types of Social Research)

जैसा कि हम इकाई के पूर्ववर्ती हिस्से में पढ़ चुके हैं कि सामाजिक घटनाओं को गहराई से समझने के लिये पांच बुनियादी सवाल पूछना और इनके जवाबों को तलाशना आवश्यक है। अब हम जानेंगे कि रामकृष्ण के अनुसार किस तरह इन पांच सवालों के जवाबों की तलाश की दिशा में किये जाने वाले प्रयास सामाजिक शोध प्रक्रिया के तीन विभिन्न अलग-अलग प्रकारों की स्थापना का कारण बनते हैं।

9.4.1: विवरणात्मक शोध (Descriptive Research)

शोध का पहला प्रकार है विवरणात्मक शोध। इसके तहत किसी घटना के विवरण पर ध्यान दिया जाता है। यह शोध मूलतः दो प्रारंभिक प्रश्नों, यह क्या है और यह कैसे है का जवाब तलाशता है। इसके तहत यह शोध मुख्यतः किसी घटना के संदर्भ में सूचनाओं और आंकड़ों का संग्रहीकरण करता है। चूंकि इस शोध का लक्ष्य विवरण देना होता है, इसमें सिद्धांत की अधिक प्रासंगिकता नहीं रहती। शोध की रणनीति तथ्यों की तलाश करना और तथ्यों की विवेचना करना होती है। (Mukherjee 1993, pp. 150).

9.4.2: व्याख्यात्मक शोध (Explanatory Research)

इस शोध में शोधकर्ता एक कदम आगे बढ़ाते हुये यह क्यों है, इस सवाल का जवाब तलाशता है। इस शोध में शोधकर्ता उन संभावित कारणों की तलाश करता है, जो किसी घटना की वजह हैं। विवरणात्मक शोध के विपरीत इस शोध में विशेष सिद्धांत क्रिया, प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जिसमें क्रमिक

प्रस्तावों की व्यवस्था, आंकड़ों का विश्लेषण और शोध का परिणाम शामिल हैं। इस शोध में निगमन शोध सिद्धांत का इस्तेमाल किया जाता है।

9.4.3: परीक्षणात्मक या नैदानिक शोध (Diagnostic Research)

तीसरे प्रकार के इस शोध में शोधकर्ता उपरोक्त तीनों सवालों के साथ यह क्या होगा का भी जवाब तलाशता है। इस प्रकार का शोध कल्याणकारी समाजशास्त्र के लिये उपयोगी है। जिसके तहत किसी नीति या कल्याणकारी कार्यक्रम के प्रभाव और इससे क्या होगा का जवाब तलाश किया जाता है। इस सवाल का जवाब तलाशने के लिये शोधकर्ता विभिन्न प्रासंगिक सिद्धांतों और पूर्वप्रयुक्त परिकल्पनाओं का इस्तेमाल करता है। इस प्रकार पूर्वप्रयुक्त परिकल्पनाएं और सिद्धांत शोधकर्ता के परीक्षणात्मक शोध के लिये वैकल्पिक बन जाते हैं। (Mukherjee 1993)

Chart 1: Types of Social Research

Mode of Research	Descriptive	Explanatory	Diagnostic
Object of Research	A constant phenomena or system of variation	A system of variation	A system of variation
Place-time co-ordinates of field of observation	Specified at a point or forms a closed circuit	A closed circuit	An open circuit; free at the contemporary terminal
Scope of Research	Description, classification	Description, classification, explanation	Description, classification, explanation, prediction
Terms of reference to answer questions	What is it? How is it?	What is it? How is it? Why is it?	What is it? How is it? Why is it? What will it be?
Orientation	Deductive-positivistic	Deductive-positivistic	Inductive-inferential
Role of theory	Implicit in what is described and classified	Yardstick for causal explanation	Produce alternate hypotheses
Role of empirical findings	Characterize and classify	Characterize, classify and formulate hypothesis	Characterize, classify and produce alternate hypotheses

Source: Mukherjee, 1993, Systemic Sociology, pp. 157.

9.5: सामाजिक परिवर्तन एवं विकास (Social Change and Development)

सामाजिक बदलाव और विकास भारत में प्रारंभ से ही समाजशास्त्रियों के प्राथमिक विचार का विषय रहा है। विकासशील समाजों के अध्ययन में परिवर्तन के अध्ययन में ये दोनों मूल बिन्दु रहे हैं। रामकृष्ण तर्क देते हैं कि इन दोनों अवधारणाओं को अस्पष्ट रूप से इस्तेमाल किया गया है, क्योंकि इन्हें पश्चिम से लेकर सीधे विकासशील समाजों पर थोप दिया गया है। सामाजिक परिवर्तनों से संबद्ध विभिन्न पहलुओं के विश्लेषण के बाद वह बताते हैं कि सामाजिक परिवर्तनों को मूल्याधारित अवधारणा के तौर पर इस्तेमाल किया गया है। वह बताते हैं कि सामाजिक अध्ययनों में परिवर्तन को हमेशा परंपराओं से आधुनिकता की ओर बढ़ावे के तौर पर ही देखा गया है, जबकि यह वस्तुवादी परिवर्तन है। रामकृष्ण के अनुसार सामाजिक परिवर्तन मूल्यनिरपेक्ष होता है, जो किसी विशिष्ट दिशा में परिवर्तन को नहीं बढ़ाता। रामकृष्ण कहते हैं कि विकासशील समाजों में परंपरा और आधुनिकता को विभिन्न संदर्भों में परिवर्तन के बिंदुओं के तौर पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। वह कहते हैं कि परंपरावाद और आधुनिकतावाद को अलग-अलग समाजों के लिये अनुभवजन्य परीक्षण से ही निर्धारित किया जा सकता है। वह कहते हैं कि कोई भी समाज विकसित या विकासशील के तौर पर नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनके विकास के लक्ष्य अलग-अलग संदर्भों के हिसाब से अलग होते हैं। रामकृष्ण प्रस्ताव देते हैं कि किसी स्थानविशेष के लिये सिद्धांत का विकास समाज विज्ञान में सार्वभौमिकता का जरिया नहीं बन सकता है। वह कहते हैं कि अधिकतर सिद्धांत विकसित समाजों में निर्मित हुये हैं और इनका विकासशील समाजों में उपयोग अलग ही लक्षणों का कारण बनता है। वे अवधारणाएं, जिन्हें सार्वभौमिक माना जाता है, वे भी अलग समय और स्थान में पूरी तरह फिट नहीं हो सकते हैं। वह कहते हैं कि इन अवधारणाओं को तात्कालिक परिस्थितियों में अनुभवजन्य सिद्धांतों के आधार पर इस्तेमाल किया जाना चाहिये।

9.6: निष्कर्ष (Conclusion)

अपने कैरियर के प्रारंभ में रामकृष्ण ने भारतीय समाज का अध्ययन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किया, लेकिन बाद में वह व्यवस्थित सामाजिक अध्ययन की ओर बढ़े। मुखर्जी ने यह बिंदु प्रतिपादित किया कि किसी घटना के अध्ययन के लिये शोधकर्ता को पांच बुनियादी सवालों के जवाब तलाशने आवश्यक है। उनके अध्ययन के इस तरीके ने उन्हें सार्वभौमिकता और व्यक्तिवादिता के दृष्टिकोण के समन्वय में सफलता प्राप्त की। उन्होंने शोध दृष्टिकोण के इन दोनों तरीकों के बीच के अंतर को भी पाटने का काम किया। इसके अलावा उन्होंने सामाजिक परिवर्तन और विकास के सार्वभौमिक सिद्धांतों को किसी विशेष समाज के संदर्भ में प्रासंगिकता के अनुरूप उपयोग का प्रयास किया।

9.7: सन्दर्भ (References)

- Bhattacharya, S. (2017), "Remembering Ramkrishna Mukherjee" in Papers in Honour of Professor Ramkrishna Mukherjee, *Journal of the Asiatic Society*, Vol. 59, No. 1, pp. 93-98.
- Bose, Pradip Kumar (1997), Problems and Paradoxes of Inductive Social Science: A Critique of Ramkrishna Mukherjee. *Sociological Bulletin*, Vol. 46 (2), pp.153-171.
- Madan, T.N. (2016), Ramkrishna Mukherjee: In memoriam. *Economic and Political Weekly*, Vol.51, No. 10, pp.26-29.

-
- Mukherjee, R. (1958) [1955] *The Rise and Fall of East India Company: A Sociological Appraisal*. Duke University Press, Berlin.
 - Mukherjee R. 1970. Study of Social Change and Social Development in the 'Developing Societies'. *Economic and Political Weekly*, Special Number, July, pp. 1159-1170.
 - Mukherjee R. (1979), *Sociology of Indian Sociology*. New Delhi: Allied Publishers Private Limited.
 - Mukherjee R. (1991), Social and Cultural Components of Society and Appraisal of Social Reality. *Economic and Political Weekly*, pp. PE21-PE36.
 - Mukherjee R. (1993), *Systemic Sociology*. Sage publications, New Delhi.
 - Mukherji, P. N (ed.) (2000), *Methodology in Social Research: Dilemmas and Perspectives, Essays in Honour of Ramkrishna Mukherjee*, Sage Publications, New Delhi.
 - Munshi, S. (2016), "Life and Works of Ramkrishna Mukherjee: A Preliminary Appreciation", *Sociological Bulletin*, Vol. 65 (2), pp. 262- 271.
 - Pramanick, S.K. (2017), "Ramkrishna Mukherjee: A Crusader in Social Science Research Methodology" in Papers in Honour of Professor Ramkrishna Mukherjee, *Journal of the Asiatic Society*, Vol. 59, No. 1, pp.43-58.
 - (2015), Ramkrishna Mukherjee [November 14, 1917-November 15, 2015], Vol.53 (50), *Mainstream Weekly*, New Delhi.
 - Accessed at <http://www.mainstreamweekly.net/article6113.html>

Nirmal Kumar Bose

10.1: उद्देश्य**10.2: परिचय**

10.2.1: जीवनवृत्त

10.2.2: प्रभाव और योगदान

10.3: बोस के भारतीय समाज के अध्ययन का तरीका

10.3.1: सभ्यतागत दृष्टिकोण

10.3.2: शोध में इतिहास का महत्व

10.3.3: विज्ञान एवं अनुभववाद का अधिष्ठापन

10.3.4: पर्यवेक्षण का महत्व

10.3.5: सामाजिक उद्धार के लिए ज्ञान

10.4: भारत में जाति व्यवस्था**10.5: भारतीय संस्कृति पर बोस के विचार**

10.5.1: संस्कृति क्या है

10.5.2: सांस्कृतिक परिवर्तन

10.5.3: संस्कृति का संपर्क

10.6: भारतीय सभ्यता: अनेकता में एकता**10.7: निष्कर्ष****10.8: भावी अध्ययन****10.9: सन्दर्भ**

10.1: उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं:

1. एनके बोस के कार्यों और प्रसंगों को समझना
2. मानव विज्ञान पर बोस के शोधकार्यों का प्रभाव समझना
3. बोस के विचार, तरीकों और दृष्टिकोण का अध्ययन
4. भारतीय जाति व्यवस्था को लेकर एनके बोस के विचार जानना
5. संस्कृति, सांस्कृतिक परिवर्तन और सांस्कृतिक संपर्कों को समझना

6. भारतीय सभ्यता पर बोस के विश्लेषण का अध्ययन
7. उनके बोस के समग्र योगदान का अध्ययन करना

10.2: परिचय (Introduction)

भारत समृद्ध सांस्कृतिक और दस्तावेजी विरासतों वाली विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में एक है। इस देश की खासियत भौगोलिक और पारिस्थितिक, पर्यावरणीय स्थितियों की भिन्नताएं हैं, जो भारत के सामाजिक जीवन पर समग्र प्रभाव डालती हैं। विदेशों से संपर्क—संवाद, विदेशी आक्रमणों, ब्रिटिश दासता और स्वतंत्रता आंदोलन का भारत का लंबा अतीत रहा है। कई भारतीय और विदेशी शोधकर्ताओं ने भारतीय समाज – विशेषतः ब्रिटिश शासन के बाद – के विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन का प्रयास किया है। हालांकि, इससे पहले भी कई यात्रा वृत्तांतों, व्यक्तिगत कथनों और धार्मिक ग्रंथों में भारत के लोगों के सामाजिक जीवन का विवरण मिलता है, लेकिन ब्रिटिश काल में वैज्ञानिक शोधों के प्रारंभ होने के साथ भारत का परिचय मानव विज्ञान (Anthropology) से हुआ। ब्रिटिश प्रशासन ने शासन—सत्ता के लिए आंकड़ों का संग्रहण (Data Collection) करने के साथ दस्तावेजों के रखरखाव की व्यवस्था प्रारंभ की। इस तरह भारतीय समाज के मानव विज्ञान के अध्ययन की शुरुआत पश्चिमी मानव विज्ञानियों ने की। कालान्तर में भारतीय मानव विज्ञानियों ने भी शोधकार्य प्रारंभ किए। प्रारंभिक शोध करने वालों में जिनके नाम सामने आते हैं, उनमें एलकेए अय्यर, एससी रॉय, डीएन मजूमदार, जीएस घुर्ये आदि हैं। निर्मल कुमार बोस भी इन प्रारंभिक भारतीय शोधकर्ताओं में से एक हैं, जिन्होंने भारत में मानव जाति विज्ञान के अध्ययन की बुनियाद रखी। बोस उत्कंठ अध्येता, बहुआयामी लेखक, जुनूनी फील्डवर्कर और साहसी यात्री थे। बोस प्रखर राष्ट्रवादी थे, जिन्होंने कई आंदोलनों में हिस्सा लिया। वस्तुतः इन आंदोलनों के जरिये उन्हें अपने अकादमिक लक्ष्यों को हासिल करने का भी अवसर मिला। बोस के लेखन का विस्तार से समन्वेषण करने से पूर्व हम उनके जीवन और कार्य के बारे में कुछ जानकारी हासिल करेंगे।

10.2.1: जीवन परिचय (Biographical Sketch)

निर्मल कुमार बोस (1901–1972) का जन्म 22 जनवरी 1901 को बंगाल (अविभाजित) के कलकत्ता (अब कोलकाता) में हुआ था। बोस अपने माता—पिता की इकलौती संतान थे। उनके पिता डॉक्टर थे, जिनका नौकरी की वजह से लगातार तबादला होता रहता था। यही वजह है कि बोस की विद्यालयी शिक्षा बिहार, बंगाल और उड़ीसा में हुई। वर्ष 1921 में बोस ने भूगर्भशास्त्र में बीएससी कर कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज से स्नातक किया। इसके बाद उन्होंने प्रेसीडेंसी कॉलेज में ही एमएससी भूगर्भशास्त्र (Geology) में दाखिला लिया, लेकिन उन्हीं दिनों महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर उन्होंने कॉलेज छोड़ दिया और सक्रिय रूप से आंदोलन में उतर गए। बाद में बोस उड़ीसा चले गए। वहां मन्दिरों की स्थापत्य कला को लेकर उनका रुझान बढ़ा और वह उड़ीसा में मंदिरों को देखने आने वाले लोगों को इनके बारे में व्याख्यानात्मक तरीके से जानकारी देने लगे। ऐसे ही एक अवसर पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति ने बोस को सुना तो उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने बोस से मुलाकात की और उन्हें अपने विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान विभाग से परास्नातक का अध्ययन पूर्ण करने का सुझाव दिया। बोस को यह प्रस्ताव भा गया। वर्ष 1923 में उन्होंने एक बार फिर प्रेसीडेंसी कॉलेज में एमएससी में दाखिला ले लिया, लेकिन इस बार विषय मानव विज्ञान चुना। इस

दौरान बोस ने 'भारत में बसंतोत्सव' शोध प्रबंध (Thesis) लिखा, जिसके जरिये उन्होंने भारत में सांस्कृतिक विस्तार का वर्णन किया।

स्नातकोत्तर कर लेने के बाद बोस को उड़ीसा (अब ओडिशा) के 'जुआंग' जनजाति के लोगों पर अध्ययन के लिए रिसर्च फेलोशिप हासिल हुई। वर्ष 1930 तक बोस जुआंग लोगों के बीच रहे, लेकिन फिर महात्मा गांधी के नमक सत्याग्रह में शामिल होने के लिए निकल पड़े। वर्ष 1931 में बोस को ब्रिटिश पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। जेल में रहने के दौरान बोस ने महात्मा गांधी पर अध्ययन के साथ विचार और लेखन भी किया। जेल से छूटकर बोस एक बार फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय लौट आए। यहां वह मानव विज्ञान विभाग से जुड़ गए और बतौर असिस्टेंट लेक्चरर पुरातत्व (Archeology) का अध्यापन प्रारंभ करते हुए कई खुदाई कार्यों में हिस्सा लिया। वर्ष 1942 में महात्मा गांधी के आह्वान पर भारत छोड़ो आंदोलन प्रारंभ हुआ तो बोस एक बार फिर स्वतंत्रता आंदोलन में कूद पड़े। ब्रिटिश शासन ने फिर बोस को गिरफ्तार कर लिया। इस बार उन्हें तीन साल के लिए दमदम जेल में बंद रखा गया। हालांकि, जेल से छूटने के बाद उन्हें लेक्चररशिप दोबारा मिल गई, लेकिन वर्ष 1946 में वह महात्मा गांधी के 'नोआखाली अभियान' में शामिल हो गए। भारत की ब्रिटिश दासता से आजादी के बाद बोस वर्ष 1958 से 1972 तक दक्षिण एशिया क्षेत्र में भाषा, पुरातत्व, स्थापत्य, संस्कृति-सभ्यता आधारित मानव विज्ञान जर्नल 'मैन इन इंडिया' के सम्पादक रहे। इसके अलावा बोस 'एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया' के निदेशक (1959-1972) भी रहे। 1967 से 1972 तक बोस ने एससी-एसटी कमिश्नर का पद भी संभाला। मानव विज्ञान के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य पर बोस को बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की ओर से वर्ष 1948 में एननडेल गोल्ड मेडल से नवाजा गया। वर्ष 1966 में भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया।

10.2.2: बोस का योगदान-प्रभाव (Influence and Contribution of Bose)

यहां हमें यह समझना आवश्यक है कि बोस ने किन तत्कालीन परिस्थितियों में लेखन कार्य प्रारंभ किया। बोस ने जब अपना शोध, लेखन शुरू किया, उस दौर में भारत ब्रिटिश उपनिवेश था और देशभर में स्वतंत्रता को लेकर व्यग्र उत्कंठा थी। बोस उस बंगाल में पले-बढ़े, जो ब्रिटिश दासता से आजादी हासिल करने के लिए एक के बाद एक कई आंदोलनों का गवाह बन रहा था, इसके साथ ही वहां सामाजिक सुधारों को लेकर भी आंदोलन तेज हो रहे थे। बोस ने उस वक्त स्नातक किया, जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता का संघर्ष चरम पर था। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया, जिसने उनके कार्यों को अलग पहचान दिलाई। 19वीं-20वीं शताब्दी में बोस की तरह ही अधिकतर भारतीय शोधकर्ता, लेखक भारत की सांस्कृतिक विभिन्नताओं के बावजूद राष्ट्रीय एकता, समग्रता और अखंडता को लेकर गंभीर थे। वह दौर स्वतंत्रता संघर्ष और स्वतंत्रता के बाद नये राष्ट्रवाद के उदय का था। ऐसे में आजादी के बाद यह आवश्यक था कि भाषा, धर्म, जाति, परंपरा, रीति-रिवाज और विरासती पहचानों की विभिन्नताओं के बावजूद उन तत्वों को तलाशा जाए जो भारत के अलग-अलग क्षेत्रों, संस्कृतियों को एकसूत्र में बांधते हों और इनके जरिये भारत को समग्र रूप से एक बनाएं।

अकादमिक तौर पर देखें तो बोस के दौर में भारत में मानव विज्ञान अध्ययन-अध्यापन की स्थापित शाखा नहीं थी। बोस भारत के शुरुआती दौर के मानव विज्ञानियों राधाकमल मुखर्जी, जीएस घुर्ये, डीपी

खुर्जी और अन्य में एक थे। इन भारतीय विज्ञानियों के शोध-अध्ययन की शुरुआत करने तक ब्रिटिश विशेषज्ञ ही प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए भारतीय जनसमूहों से संबंधित जानकारीयाँ एकत्र कर रहे थे। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश विशेषज्ञों की ओर से किए जाने वाले शोधकार्यों और फील्डवर्क का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश उपनिवेश को मजबूत करने का ही था। चौधरी (2007) ने बोस को ऐसे वास्तविक भारतीय विचारक और स्वदेशी मानवविज्ञानी बताया है, जिन्होंने सिर्फ औपनिवेशिक उद्देश्यों से भारतीय समाज के अध्ययन पर सवाल खड़े किए। पश्चिमी तौर तरीकों से मानव विज्ञान के अध्ययन का प्रशिक्षण लेने के बावजूद बोस ने भारतीय सभ्यता के अध्ययन को लेकर अपना खुद का तरीका विकसित किया। बोस ने कला, मंदिर स्थापत्य, पुरातत्व, भौगोलिक-भूगर्भीय, जाति व्यवस्था, जनजाति यानी हर पहलू पर भारतीय सभ्यता के विकास को लेकर लेखन किया। इसके अलावा गांधी के विचारों पर उनका लेखन भी महत्वपूर्ण है। बोस ने बंगाली और अंग्रेजी, दोनों भाषाओं को अपने लेखन का माध्यम बनाया। उनका लेखन सिर्फ किताबों, निबंध, शोधप्रबंध, रिपोर्ट, आर्टिकल के रूप में ही उपलब्ध नहीं है, बल्कि उन्होंने आत्मकथात्मक चित्रण (Autobiographical sketch), उपाख्यान (Anecdotes), यात्रा वृत्तांत (Travelogues) और कथनात्मक (Narrative) लेखन भी किया है। उन्होंने कल्चर एंड सोसायटी इन इंडिया (1967), कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी (1961), पीजेंट लाइफ इन इंडिया: ए स्टडी इन इंडियन यूनिटी एंड डायवर्सिटी (1961), द स्ट्रक्चर ऑफ हिन्दू सोसायटी (1961) समेत कई किताबें लिखीं। मैं इन इंडिया, द कलकत्ता रिव्यू साइंस एंड कल्चर, कलकत्ता ज्योग्राफिकल रिव्यू जैसे जर्नलों में उनके कई लेख प्रकाशित हुए। देश के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण के विवरण पर आधारित

उनकी व्यक्तिगत डायरी 'परिव्रजाकर डायरी' (एक यात्री की डायरी) यात्रा वृत्तांतों का एक अहम

Box 1.1: The Lifestyle of N. K. Bose

बोस बेहद कम निजी जरूरतों वाले व्यक्ति थे। साधारण जीवन और उच्च विचार उनके जीवन का लक्ष्य था। उनके जीवन को साधारणतम बनाए रखने के लिए अन्वेषणों का प्रमाण उनकी वेशभूषा थी, जिसे वह खुद डिजाइन करते थे। वह ऐसे कपड़े पहना करते थे, जिनमें कई जेब हों। उनकी हर जेब का खास उपयोग होता था, जिनमें वह मग, सीटी, टूथब्रश और टार्च से लेकर तमाम दैनन्दिन उपयोग की वस्तुएं रखा करते थे। इससे टैगोर की आविष्कारशीलता और गांधी का सूक्ष्मवाद स्पष्ट परिलक्षित होता था। —**भट्टाचार्य, प्रो. एनके बोस: माय टीचर**

प्रामाणिक दस्तावेज है। प्रारंभ में बोस फ्रेंज बोआ और एल्फ्रेड क्रोबर के विभिन्नताओं के सिद्धांत और पार सांस्कृतिक विश्लेषण से प्रभावित थे। अपने पहले शोधप्रबंध भारत में बसंतोत्सव में उन्होंने इसी विभिन्नताओं के सिद्धांत को ध्यान में रखकर काम किया, जिसमें उन्होंने समान सांस्कृतिक विशेषताओं वाले भौगोलिक क्षेत्रों पर अध्ययन करते हुए विस्तार के केंद्र का विश्लेषण किया। इसी तरह एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के निदेशक पद पर रहते हुए मैटीरियल कल्चर ट्रेट सर्वे (MCTS) के जरिये उन्होंने भारत का सांस्कृतिक नक्शा तैयार किया। इसके माध्यम से उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों की भाषाई, पारंपरिक समानताओं के आधार पर देश के सांस्कृतिक क्षेत्रों (Cultural Zones) का निर्धारण और पहचान की। इस अध्ययन ने बोस को भारत की विभिन्न मिट्टी के बर्तन निर्माण, धातुशिल्प, हथकरघा, मंदिर-मठ स्थापत्य जैसी हस्तशिल्प तकनीकों, ग्रामीण परिवेश, जनजातीय परंपराओं के वृहद् विश्लेषण का अवसर प्रदान किया। बोस बोआ के शोध के अधिष्ठापन के सिद्धांत और वैज्ञानिक प्रमाणों के बिना

शोध के व्यापकीकरण की आलोचना के दृष्टिकोण से प्रभावित थे। यही वजह है कि बोस के इन अध्ययनों का लक्ष्य भारत की विभिन्नताओं को समझने-जानने के लिए प्रचुर मात्रा में साक्ष्य और आंकड़ों का एकत्रीकरण था। बोस मैलिनोव्स्की के कार्यपरक दृष्टिकोण से भी प्रभावित थे। उन्होंने 'सोल ऑफ कल्चर' (Soul of Culture) सिद्धांत का उपयोग अपनी पुस्तक कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी (1961) में किया। हालांकि, उन्होंने कार्यपरक सिद्धांत के उस अनैतिहासिक (Ahistorical) दृष्टिकोण को नकार दिया, जो सभ्यता-संस्कृति के विकास में इतिहास के योगदान को महत्वपूर्ण नहीं मानता है।

बोस जिस व्यक्ति के कार्यों से सर्वाधिक प्रभावित हुए, वह थे महात्मा गांधी। गांधी का बोस के व्यक्तिगत जीवन से लेकर अकादमिक उपलब्धियों तक गहरा असर था। बोस महात्मा गांधी के नजदीकी लोगों में शामिल थे और नोआखाली अभियान के दौरान वह गांधी के निजी सचिव भी रहे। महात्मा गांधी के निधन तक बोस का उनके साथ लंबा संबंध-संपर्क बना रहा। बोस ने खुद को गांधी के विचारों के अध्ययन और उनकी स्थापना के लिए समर्पित कर दिया था। बोस ने गांधी और उनके दर्शन पर अपनी पुस्तकों सेलेक्शन्स ऑफ गांधी (1934), स्टडीज ऑन गांधीज्म (1940), माय डेज विद गांधी (1953) और महात्मा गांधी एंड वन वर्ल्ड (1966) में समग्र-व्यापक लेखन किया है।

10.3: बोस के अध्ययन का तरीका (Bose's approach to study Indian Society)

10.3.1: सभ्यतागत दृष्टिकोण (Civilizational Approach)

भारत अपनी विभिन्नताओं और समृद्ध सांस्कृतिक विरासतों के लिए जाना जाता रहा है। यह दुनिया की प्राचीन सभ्यताओं में से एक है। लिखित परंपराओं की विस्तृत शृंखला के साथ यहां जनजातियां, आदिवासी, ग्रामीण और शहरी समुदाय एकसाथ रहते हैं। एनके बोस, सुरजीत सिन्हा और बर्नार्ड कॉन ने भारतीय समाज और सामाजिक ढांचे को समझने के लिए भारत की इस समृद्ध और विभिन्नताओं वाली विरासत को ही आधार बनाया है। इसीलिए इस परिप्रेक्ष्य को ही सभ्यतागत दृष्टिकोण से परिभाषित किया गया। इसके तहत गांव, जाति, जनजाति जैसे भारतीय समाज के विभिन्न तत्वों पर विचार किया जाता है। इस तरह सभी समूह और समुदाय सभ्यता के अभिन्न अंग के तौर पर देखा-समझा जाता है। यह दृष्टिकोण सभ्यता के विभिन्न पहलुओं के अंतरसंबंध, ऐतिहासिक स्थिति, परिवर्तन (Change/Transformation) को भी सामने रखता है। इस प्रकार, अनेकता में एकता (Unity in Diversity) विश्लेषण का मुख्य फोकस बन जाता है। (नागला 2013)

10.3.2: शोध में इतिहास की भूमिका (Role of History in Research)

इतिहास और परिवर्तन एनके बोस के मानव विज्ञान अध्ययन के दो मुख्य अवयव रहे। बोस के विश्लेषण-शोध में इतिहास की अहम भूमिका रही। भारतीय समाज के अध्ययन में इतिहास ने बोस को न सिर्फ अतीत में झांकने का अवसर प्रदान किया, बल्कि विषयाध्ययन की कार्यशैली तय करने में भी मदद की। हालांकि, जिस इतिहास के जरिये बोस ने अपना अध्ययन आगे बढ़ाया, वह सांख्यिक नहीं बल्कि परिवर्तनशील रहा। इसके जरिये बोस ने भारतीय समाज के निश्चित संरचना में रहते हुए समय के साथ खुद को विकसित करने के तरीकों को अभिलिखित किया। इस प्रकार सामाजिक ढांचे को लेकर निश्चित समयावधि में अभिलेखीय परिवर्तन आता है। उदाहरण के लिए, बंगाल में जाति व्यवस्था

के अध्ययन के दौरान उन्होंने पाया कि उपनिवेशकाल से पहले जाति व्यवस्था के कारण बंगाल में जो सामाजिक संरचना थी, वह ब्रिटिश आगमन के बाद धीरे-धीरे नष्ट होने लगी थी। (बोस 1961)

10.3.3: विज्ञान, अनुभव और अधिष्ठापन (Science, Empiricism & Inductive Method)

बीसवीं सदी में मेलिनोव्स्की, रेडक्लिफ ब्राउन जैसे अधिकतर मानवविज्ञानियों का मानना था कि मानव जाति का अध्ययन विज्ञान है। यही वजह थी कि वे निरीक्षण, आंकड़ों के संग्रहण, वर्गीकरण, कूटबद्धिकरण, पुष्टि, सत्यापन के जरिये उद्देश्यों के सुरक्षित अनुमान स्थापित करने की वैज्ञानिक प्रक्रिया को इस तरह के अध्ययन के लिए आवश्यक मानते थे। बोस भी अध्ययन के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण को उपयुक्त मानते थे, किन्तु वह अनुभववाद के जरिये अधिष्ठापन को भी अध्ययन का हिस्सा बनाने वाले मानवविज्ञानी थे। अधिष्ठापन का अर्थ उस दृष्टिकोण से है जो आंकड़ों के संग्रहण से प्रारंभ होता है और फिर सिद्धांत के प्रतिपादन तक पहुंचता है। यह निगमन (Deductive) विश्लेषण के उस तरीके से उलट है, जिसमें पहले किसी सिद्धांत की परिकल्पना की जाती है और फिर शोध के जरिये इसे सिद्ध किया जाता है। अधिष्ठापन के तरीके में सिद्धांत शोध के बाद आता है। इस पूरी प्रक्रिया में प्रचुर मात्रा में आंकड़े जुटाए जाते हैं, वर्गीकृत किए जाते हैं इसके बाद पैटर्न और नियमों के जरिये इनका परीक्षण किया जाता है जो सिद्धांत के प्रतिपादन में सहायता करता है। बोस की यह विधि बोआस के समान थी जो अधिष्ठापन के तरीके पर दृढ़ थे। वस्तुतः बोस बोआस और उनके दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित थे।

10.3.4: पर्यवेक्षण का महत्व (Importance of Observation)

चक्रवर्ती (2002) ने बोस की व्यक्तिगत डायरी परिव्राजकर नोट्स के अध्ययन से पाया कि बोस एक उत्सुक प्रेक्षक और समालोचक थे। चक्रवर्ती ने डायरी में उनके फील्डवर्क की विस्तृत जानकारी का अध्ययन किया। वह एक उदाहरण देते हैं, जिसमें बोस ने प्रागैतिहासिक मनुष्य और उसके कौशल का वर्णन किया है। उस काल में यह माना जाता था कि आदिम मनुष्य सभ्यताहीन (Uncivilized), निम्न और अविकसित था। बोस ने प्रागैतिहासिक और आज के मानव समुदाय के शिल्पकौशल का तुलनात्मक अध्ययन कर इस धारणा पर सवाल खड़ा किया। बोस ने अपने अध्ययन में वनों में रहने वाले लोगों की उत्कृष्टता और शक्ति के उन बिंदुओं को स्थापित करने पर जोर दिया, जिनके बूते वे बेहद सीमित संसाधनों और विषम परिस्थितियों के बावजूद जीवन को संभव बना पाने में सक्षम रहे। बोस ने अपने शिक्षक से दूसरे व्यक्ति के दृष्टिकोण को साथ रखते हुए अपने पर्यवेक्षण करने की सीख पाई थी। इसी तरह उन्होंने अपने छात्रों को भी स्वतंत्र विचार करने के लिए हमेशा प्रेरित किया। यही वजह थी कि बोस अपने छात्रों को वह विषय बताते थे, जिस पर अध्ययन किया जाना है और इसके लिए उन्हें फील्ड में भी भेजा जाता था, लेकिन उन्हें इस तरह प्रशिक्षित किया गया कि वे स्वतंत्र अध्ययन कर सकें। बोस मानते थे कि पर्यवेक्षण मानव विज्ञान अध्ययन का महत्वपूर्ण साधन है। इसी कारण बोस अपने छात्रों को शोध के प्रचलित तरीके यानी पहले से तैयार प्रश्नावली और कार्यानुक्रम (Schedule) के बिना फील्ड में भेजते थे, ताकि वे अपने नजरिये से आकलन कर सकें। इस तरह उनके छात्र पूर्वकल्पित विचारों के बजाय फील्डवर्क के दौरान सामने आने वाली चुनौतियों से स्वयं व्यावहारिक तौर पर अध्ययन करने में सक्षम बने (भट्टाचार्य 2002)।

10.3.5: सामाजिक उद्धार के लिए ज्ञान (Knowledge for Social Emancipation)

बोस के लिए शोधकार्य सिर्फ ज्ञान हासिल करने का माध्यम नहीं था, बल्कि इसे वह सामाजिक और राजनीतिक उद्धार का जरिया मानते थे। यही वजह है कि अपने एकेडमिक कैरियर को दांव पर लगाकर भी उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में उतरने की जरूरत महसूस की। वह मानते थे कि ज्ञान का उपयोग समाज के कल्याण और बेहतरी में होना चाहिए। उड़ीसा में जुआंग जनजाति पर शोध के दौरान वहां रहते हुए बोस ने किसी समुदाय पर संकट के दौरान शोधकर्ता की भूमिका पर गहराई से विचार किया। इसकी वजह यह थी कि तत्कालीन जुआंग समुदाय कुपोषण का शिकार था और मलेरिया बड़ी तेजी से फैल रहा था, लेकिन बोस चाहकर भी तब उनकी मदद नहीं कर पा रहे थे (op. cit. Bose 2007)

Box 1.2: Science and Politics of N. K. Bose

“वैज्ञानिक शोध मेरी वास्तविक वृत्ति (स्वधर्म) रहा। पूर्ण विवेक के साथ राजनीतिक अभियानों से जुड़ना मेरे लिए मात्र आकस्मिक कर्तव्य (अपधर्म) का पालन ही था।”
—निर्मल कुमार बोस, माय डेज विद गांधी (1974:67)

10.4: भारत में जाति व्यवस्था (Caste System in India)

जाति व्यवस्था भारतीय समाज का एक महत्वपूर्ण पहलू है, जो भारतीय समाज को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और अन्य दूसरे आयामों से अभिन्न रूप से संबद्ध है। अधिकतर शोधकर्ताओं ने भारतीय जाति व्यवस्था का अध्ययन अलग-अलग तरीके से अपनी सुविधानुरूप किया है, लेकिन बोस ने भारतीय जाति व्यवस्था पर जो अध्ययन किया, वह न सिर्फ विभिन्न जातियों की संस्कृति और जीवनशैली को सामने लाता है, बल्कि इनमें समय के साथ आए परिवर्तनों और जनजाति समुदायों के अंतरसंबंधों को भी प्रकट करता है। बोस के अनुसार वर्तमान में जाति व्यवस्था अतीत के अवशेष मात्र हैं। प्रारंभिक दौर में इस व्यवस्था का लक्ष्य सेवा के विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति था। यह सामाजिक परस्पर निर्भरता और एकता की ऐसी व्यवस्था थी जो लोगों के पारस्परिक संबंधों के साथ मानव और समाज के संबंधों का अहम सूत्र थी। जाति व्यवस्था का अर्थ ऐसे सामाजिक संगठन से था, जिसमें उत्पादन और वितरण जैसी आर्थिक गतिविधियां अलग-अलग जातियों के बीच वितरित, स्थापित थीं। भारतीय जाति व्यवस्था में व्यक्ति के व्यवसाय का निर्धारण जन्म (वंशानुगत) से था और सदस्यों के लिए विभिन्न दायित्वों का निर्वहन करना कर्तव्य था। बोस ने अपने अध्ययन में यह पाया कि, जाति व्यवस्था ग्रामीण समुदाय में किसी जाति के सदस्यों को गैरप्रतिद्वंद्वी, आत्मनिर्भर और सुनिश्चित रोजगार की उपलब्धता के माध्यम से आर्थिक और सांस्कृतिक सुरक्षा प्रदान करने का जरिया थी। इसके अतिरिक्त जाति व्यवस्था विभिन्न सांस्कृतिक व्यवसायों को अपनाने की स्वतंत्रता प्रदान करती थी। बोस यह भी मानते हैं कि दृढ़ और श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था किसी व्यक्ति को यह स्वतंत्रता भी प्रदान करती थी कि वह संन्यास (Asceticism) से जुड़ सके। यह स्वतंत्रता उस स्थिति में किसी 'सेपटी वाल्व' की तरह काम करती थी, जब कोई व्यक्ति स्वयं को व्यवस्था के अंतर्गत खुद को दबाव में या अनुपयुक्त पाता था (सरस्वती 2002, बोस 2007)। फिर भी ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ जाति व्यवस्था नये आर्थिक दौर के साथ धीरे-धीरे नष्ट होती गई। बोस मानते हैं कि जाति व्यवस्था देश की आर्थिक विभिन्नताओं के कारण पारंपरिक-शास्त्रीय वर्ण व्यवस्था पर पूरी तरह खरी नहीं उतर सकी, लेकिन उन्होंने अपने अध्ययन में जाति व्यवस्था के उन लाभकारी पहलुओं को ग्रहीत करने का पूरा प्रयास किया है जो आज भी उपयोगी हैं। (ibid.)

सभ्यतागत दृष्टिकोण पर शोध करते हुए बोस ने जाति व्यवस्था को भारतीय समाज, संस्कृति और सभ्यता का अभिन्न अंग माना। उन्होंने जाति को सामाजिक एकजुटता का जरिया मानते हुए इसे विभिन्नताओं वाले देश में एकता और एकीकरण का माध्यम माना। बोस के अनुसार जाति व्यवस्था के कारण हिन्दुत्व सांस्कृतिक महासंघ (Federation of Cultures) बन गया। इससे यह विभिन्न जातियों के बीच जीवनशैली, भोजन, वेश आदि के आधार पर विभिन्नताओं और अंतरों वाले सांस्कृतिक व्यवसायों का जरिया भी है। दूसरी ओर, अंबेडकर ने जाति व्यवस्था को निम्नतर व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अलग-अलग जाति के सदस्यों की भूमिकाओं, सामाजिक स्थिति, अधिकार और दायित्वों का निर्धारण कर श्रेणीबद्ध असमानता (Graded Inequality) का निर्माण करती है। अंबेडकर के अनुसार यह श्रेणीबद्ध व्यवस्था समाज के एक वर्ग (उच्च वर्ण) को विशेषाधिकार (Privileges) प्रदान करती है, वहीं अन्य वर्गों (निम्न वर्ण और अस्पृश्य) के उत्पीड़न का माध्यम बनती है। जबकि बोस के अनुसार जाति व्यवस्था उत्पीड़क-शोषक नहीं है, बल्कि यह आर्थिक व्यवस्था और सांस्कृतिक तत्व है।

10.5: भारतीय संस्कृति पर बोस के विचार (Bose on Culture in India)

10.5.1: संस्कृति क्या है: बोस (1961) मानते थे कि संस्कृति मानव समुदाय की जीवनप्रद आवश्यकताओं की संतुष्टि से संबंधित है। संस्कृति मनुष्य की जैविक जरूरतों की पूर्ति पर संतुष्टि का सिद्ध माध्यम है। पशुओं से इतर मनुष्यों के भाषा वह साधन है जो क्षमताओं के उपयोग और दूसरे मनुष्यों से सीखने का जरिया है। यह न सिर्फ सांस्कृतिक गतिविधियों को स्थिरता और संस्थापन प्रदान करती है, बल्कि इन्हें एक से दूसरी पीढ़ी तक स्थानांतरित करने का भी माध्यम बनती है। भोजनशैली, जीवनशैली, रीति-रिवाज, विश्वास, वेशभूषा संस्कृति के वे पहलू हैं जो परस्पर संबद्ध हैं। इससे इनमें से किसी एक में भी परिवर्तन दूसरे पहलू में परिवर्तन का कारण बन जाता है। इस प्रकार संस्कृति एकीकृत है और इसे इसके घटकों में विभाजित नहीं किया जा सकता है, हालांकि बोस ने वैज्ञानिक विश्लेषण की सुविधा के लिए इन्हें अलग करके देखा है। चूंकि बोस मानते हैं कि संस्कृति मानवजीवन की आवश्यकताओं से जुड़ी है, उन्होंने हिन्दू धर्मग्रंथों में वर्णित मानवजीवन लक्ष्यों— अर्थ (आर्थिक इच्छाएं), काम (दैनिक इच्छाएं) और मोक्ष (आध्यात्मिक इच्छाएं) में संस्कृति को बांटकर शोध किया है। बोस बताते हैं कि इन तीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य पारंपरिक तरीकों के अनुरूप कार्य-व्यवहार करता है, जिसे आचार कहा जाता है। आचार की चार अवस्थाएं, वस्तु (पदार्थ), क्रिया (गतिविधि), संहति (सामाजिक संस्था) और तत्व (व्यक्तिगत विश्वासों पर आधारित विचारसार) हैं। बोस किसी व्यक्ति के पारिवारिक जीवन के उदाहरण से इसे समझाते हैं, जिसके माध्यम से वह आचार के घटक वस्तु, संहति और तत्व के जरिये अर्थ और काम की संतुष्टि प्रदान करता है। (बोस 1961:10-21)

1.5.2: सांस्कृतिक परिवर्तन: बोस भारतीय सभ्यता का यूरोपीयन सभ्यता से तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। बोस बताते हैं कि पूंजीवाद और व्यक्तिवाद के हावी होने से यूरोप की सभ्यतागत भावना पर गहरा असर हुआ है। यूरोपीय सभ्यता व्यक्तिवादी और प्रतिस्पर्धी है जो वहां की कला, स्थापत्य और खेलों से दृष्टिगोचर होता है। दूसरी ओर, प्राचीन काल से भारतीय सभ्यता जाति व्यवस्था से संबद्ध

रही है, जो सामाजिक एकता और परस्पर संबंधों, निर्भरता पर आधारित है। बोस बताते हैं कि जाति व्यवस्था ने भारत में प्रतिद्वंद्विता और व्यक्तिवाद को बढ़ावा देने के बजाय एकता और सामूहिकता को पोषित किया। इससे आचार और व्यवहार की आंतरिक व्यवस्था ने भारतीय सभ्यता को विशिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान किया है। ये विश्वास और विचार संस्कृति के मूल की स्थापना करते हैं, जिनमें समय और अनुभव के साथ परिवर्तन होता है, जिन्हें संस्कृति की आत्मा माना जाता है। (pp.35)

बोस मानते हैं कि संस्कृति स्थिर नहीं है, यह संस्कृति की वर्तमान भूमिका से बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति और संपूर्ण संतुष्टि नहीं हो पाने की स्थिति में समय और जरूरतों के हिसाब से परिवर्तनशील है। संस्कृति का अनुसरण करने वाले लोग जरूरतों और संकटकाल के हिसाब से रचनात्मकता के माध्यम से इसमें परिवर्तन करते जाते हैं। इस प्रकार जीवन और संस्कृति के बीच निरंतर परस्पर क्रियात्मक संबंध बना रहता है। दुर्खेम (1982), क्रोबर और कुछ मार्क्सिस्ट कम्युनिस्ट विचारकों के संस्कृति को 'सुपर ऑर्गेनिक' मानने के विचार से बोस सहमत नहीं होते। यहां सुपर ऑर्गेनिक का अर्थ ऐसी व्यवस्था से है जो व्यक्ति से ऊपर हो और उस पर बलपूर्वक प्रभाव डालती हो। इसके कारण व्यक्ति संस्कृति के लिए गौण और अधीन बन जाता है। दुर्खेम मानते हैं कि भारत में जाति व्यवस्था और धार्मिक रीतियां व्यक्ति को बाधित करती हैं, और इनका असर इतना व्यापक है कि इन्हें स्थापित करने में व्यक्ति का भी कोई मूल्य नहीं समझा जाता है। यहां तक कि व्यक्ति खुद भी समझौता कर इन्हें स्वीकार कर लेता है। दूसरी ओर, बोस (1961) बताते हैं कि संस्कृति परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है, क्योंकि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृति को अनुसरित करता है। व्यक्ति को संस्कृति बाधक नहीं बनाती है, बल्कि सांस्कृतिक परिवेश में सक्रिय और महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करने का अवसर प्रदान करती है। यह मानव जीवन और संस्कृति का परस्पर संबंध है जो संस्कृति को संतुलन (Equilibrium) की स्थिति में रखता है। यद्यपि यह संभव है कि रूढ़ियों के चलते परिवर्तन के उदाहरण कम मिलें।

10.5.3: संस्कृतियों का संपर्क (Contact of Cultures): अपनी प्रख्यात पुस्तक 'कल्चरल एंथ्रोपोलॉजी' (Cultural Anthropology, 1961) में बोस ने मानव और संस्कृति के संबंधों की व्याख्या करने के साथ इस पर भी प्रकाश डाला है कि जैविक आवश्यकताओं के अनुरूप किस तरह सांस्कृतिक परिवर्तन होता है। बोस दो बिंदुओं पर फोकस करते हैं, पहला— कोई सांस्कृतिक विषय/वस्तु (Cultural Object) किस तरह एक समुदाय से दूसरे समुदाय तक हस्तांतरित होता है। दूसरा— दो संस्कृतियों का परस्पर संपर्क किस तरह दोनों संस्कृतियों के आंतरिक स्वरूप में परिवर्तन को प्रेरित करता है, इसके जरिये बोस यह भी अध्ययन करते हैं कि ये परिवर्तन सामान्य और व्यापक (Generalised) होते हैं या नहीं।

बोस स्पष्ट करते हैं कि यदि आर्थिक और सामाजिक रूप से कोई संस्कृति सफल है तो उसके स्वरूप में बदलाव नहीं होते, लेकिन यदि यह किन्हीं कारणों से नाकाम रहती है (विशेषतः आर्थिक पहलू के लिहाज से) तो लोग पलायन करते हैं। यह पलायन समान वातावरण, परिस्थितियों वाले भूक्षेत्र की ओर जाने के रूप में भी हो सकता है और कुछ ऐसी नयी व्यवस्थाओं को अपनाने से भी,

जो समाज की आर्थिक स्थिति को नुकसान से रोकें। उदाहरण के लिए बोस बताते हैं कि जन्म नियंत्रण (Birth Control) के जरिये जनसंख्या को संतुलित कर खाद्य शृंखला और जीवन मानकों को स्तरीय बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार लोगों की स्थापित रीतियों में परिवर्तन से भी बचा जाता है। भारतीय इतिहास से सांस्कृतिक संघर्ष के कुछ उदाहरणों के जरिये बोस सांस्कृतिक परिवर्तन की वजह रही मानसिक परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हैं। इसके अलावा वह उन कारकों पर भी प्रकाश डालते हैं जो विशेषताओं के चयन और मानव के जैविक स्वरूप को व्याख्यायित करते हैं। बोस ने इन्हें मानव जाति विज्ञान की सांस्कृतिक समस्याएं बताया है।

(1) उड़ीसा की स्थिति (The Case of Orissa)

(i) **हिन्दू उड़ीसा:** दसवीं से 13वीं सदी तक उड़ीसा स्वतंत्र और समृद्ध राज्य था। उस काल के राजाओं की मंदिरों के निर्माण में विशेष रुचि थी, जिसने स्थापत्य, हस्तशिल्प, चित्रकारी आदि के माध्यम से लोगों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराए। वे विद्वत ब्राह्मणों का सम्मान करते थे और उन्हें दानस्वरूप जमीनें देते थे। किन्तु विभिन्न आक्रमणों के दौरान हुई लूटपाट में उड़ीसा की समृद्धि नष्ट होती गई और राजाओं से संबद्ध कलाकार रोजगार के अवसर समाप्त होने से निर्धन होते गए। इसका सीधा असर उड़ीसा की संस्कृति को कला और ज्ञान के नष्ट होने का बड़ा नुकसान हुआ। आर्थिक रूप से सामने आए इस अभाव ने उड़ीसा की संस्कृति के कुछ विशेष लक्षणों को समाप्त कर दिया, आर्थिक व्यवस्थाओं को अस्त-व्यस्त कर दिया और जाति व्यवस्था के स्वरूप में भी परिवर्तन किया (पहले यह अनुवांशिक था)। उदाहरण के तौर पर बोस बताते हैं कि खंडेत, जो पहले सैनिक हुआ करते थे, बाद में किसान बन गए।

(ii) **जुआंग जनजाति:** हिन्दू धर्म से परिचय से पूर्व जुआंग जनजाति की आजीविका का साधन शिकार और स्थानांतरण कृषि थे। ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना के बाद जंगलों को संरक्षित किया गया तो ये दोनों साधन लुप्त होने लगे। इस दौरान अकाल का सामना करने के बाद जुआंग जनजाति को हिन्दुओं की तरह खेती के परिष्कृत स्वरूप को अपनाना और हल जैसे उपकरणों का उपयोग सीखना पड़ा। लेकिन, इसमें असफल रहने पर उन्होंने टोकरियां बुनना, अन्य लोगों के लिए जंगल से ईंधन (लकड़ी) की आपूर्ति करने का काम प्रारंभ किया, यह कार्य मुख्यतः जुआंग महिलाएं करती थीं। इससे होने वाली आय से वे नमक, कपड़े, शराब आदि खरीदा करते थे। इस तरह वे हिन्दू आर्थिक व्यवस्था से गहरे जुड़ते चले गए और धीरे-धीरे हिन्दू समाज की एक नयी जाति के तौर पर सामने आए। जुआंग लोग अपने जनजातीय पारंपरिक त्योहारों के अलावा हिन्दुओं की तरह लक्ष्मी, धर्म जैसे हिन्दू देवी-देवताओं का पूजन करते हैं। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप उनकी भाषा में भी काफी अंतर आया।

इसी तरह का असर छोटा नागपुर के मुंडा समुदाय में भी नजर आता है। हिन्दुओं और मुंडा समुदाय के लोगों के मतभेदों के दौरान मुंडा लोग ईसाई मिशनरीज के संपर्क में आए, जिसके कारण मुंडा जनजाति के अधिकतर लोग धर्मांतरित हो गए, जिसका असर उनकी पुरातन सांस्कृतिक रीतियों में बदलाव के तौर पर सामने आया। उन्होंने टेलरिंग, जालियां बुनने, बड़ई आदि का व्यवसाय करना प्रारंभ कर दिया। लेकिन, उड़ीसा में आर्थिक परिवर्तन उतना गहरा नहीं रहा, जितना मुंडा और जुआंग जनजातियों में सामने आया। पारंपरिक व्यवसायों में नुकसान होने पर लोगों ने अपने ही स्थानों पर रहते हुए दूसरे व्यवसायों को अपनाना शुरू किया, लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में धार्मिक विश्वासों और सामाजिक परंपराओं

पर अधिक प्रभाव नहीं हुआ। दूसरी ओर, जुआंग जैसी पर्वतीय जनजातियों के मामले में आर्थिक तौर पर मजबूत दूसरी संस्कृतियों ने उन्हें जीवन (Survival) के लिए उत्पादन में नाकाम अपनी पुरानी व्यवस्था को छोड़कर नये सक्षम रिवाजों को अपनाना पड़ा। बोस बताते हैं कि मुंडा और जुआंग जनजातियों की संस्कृति के नष्ट होने के पीछे एक बड़ा कारण दोनों जनजातियों के लोगों में अपनी परंपराओं को लेकर गर्व का अभाव रहा। वह कहते हैं कि सांस्कृतिक संपर्क की प्रक्रिया में दूसरी संस्कृति में विलय होने वाली संस्कृति के लोगों में यदि गर्व की अनुभूति रहती है तो निश्चित रूप से परिवर्तन का परिणाम भी अलग हो जाता है।

(2) बंगाल (The Case of Bengal)

बोस बंगाल के इतिहास के उदाहरण भी अपनी पुस्तक में रखते हैं। इसके तहत वह एक पुरातन संस्कृति की आर्थिक असफलता के फलस्वरूप नयी आर्थिक व्यवस्था की घुसपैठ, दूसरी संस्कृति की उपस्थिति और अपनी पुरातन रीतियों को छोड़ने वाले समाज में आत्मसम्मान और गर्वानुभूति में कमी का वर्णन करते हैं। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के आगमन और पूंजीवाद की स्थापना के साथ बंगाल में आर्थिक तौर पर संकट सामने आया, जिसने जाति व्यवस्था के स्वरूप में बड़ा बदलाव किया। बोस बताते हैं कि इसकी शुरुआत तत्कालीन सभी भारतीय वर्गों में ब्रिटिश सभ्यता से खुद को कमतर (Inferior) मानने से हुई। इसके कारण तत्कालीन बंगाली समाज में ईसाई प्रभाव बढ़ता गया। इस हीनभावना के चलते जहां एक ओर भारतीयों में यूरोपियन लोगों के प्रति मातहतता, चापलूसी का भाव बढ़ा वहीं दूसरी ओर द्वेष और घृणा भी विकसित होती गई। बोस इसे अधीन लोगों में विजेताओं के प्रति पनपने वाली भावना बताते हैं।

बोस तर्क देते हैं कि किसी जनजाति या समुदाय के विदेशी सभ्यता के तत्वों को अपनाने के पीछे जो कारण होते हैं, उनमें या तो आत्मसम्मान का पूर्ण अभाव अथवा आत्मसमर्पण (जैसा कि मुंडा और जुआंग जनजातियों में रहा) का भाव होता है या फिर यह भी हो सकता है कि आत्मसम्मान का भाव तो हो, लेकिन दूसरी संस्कृति को अपनाने से इस भाव में हानि की कोई आशंका न हो। किन्तु जब आत्मविश्वास का स्तर बेहद कम हो और लोग दूसरी सभ्यता से जुड़ने के कारण अपनी सांस्कृतिक पहचान के नष्ट होने को लेकर आशंकित हों तब वे रक्षात्मक और कठोर हो जाते हैं। बोस बताते हैं कि बंगाल के मामले में भारतीय समाज ने आर्थिक मोर्चे पर भले ही पूर्ण आत्मसमर्पण किया हो, लेकिन आत्मसम्मान के अवशेषों के कारण लोगों के मन-मस्तिष्क में सांस्कृतिक रूप से रक्षात्मक भाव था। यह भाव कई बार मनोविकार का स्वरूप ले लेता है। बोस जैविक संरचनाओं के आधार पर बताते हैं कि जब कोई प्रजाति किसी दूसरी प्रजाति के कारण विलुप्त होने का डर महसूस करती है तो असामान्य लक्षणों का विकास करती है, संस्कृतियों के मामले में भी कुछ इसी तरह के रक्षात्मक उपक्रम सामने आते हैं। बोस बताते हैं कि हिन्दुत्व के पराभवकाल में सामने आई कई विकृतियों से इसे समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं में प्राचीनकाल से गाय का विशेष सामाजिक, धार्मिक महत्व रहा है। लेकिन गोहत्या को लेकर मुस्लिमों के प्रति उपजी विरोधी भावना के गोमांस खाने वाले अन्य समुदायों/लोगों के प्रति समान रूप से प्रतिरोधी नहीं होने के कारण गायों का संरक्षण सीधे तौर पर मुस्लिम विरोधी (Anti Mohammedan) प्रतिमान बन गया।

अब हम बोस के मानव और संस्कृति के संबंध और जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप संस्कृति में बदलाव सिद्धांत के हिसाब से देखेंगे तो पाएंगे कि मुंडा, जुआंग और बंगाली समाज ने दूसरी संस्कृति के उन तत्वों को अंगीकार किया जो आर्थिक रूप से लाभकारी और शक्ति के प्रतीक थे। इस प्रकार बोस यह तर्क देते हैं कि सांस्कृतिक पसंद (Preference) आर्थिक और शक्ति के पहलू के आधार पर निर्दिष्ट होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सांस्कृतिक क्रियाकलाप आत्मरक्षण की सहजवृत्ति से प्रेरित होते हैं। बोस के अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि सांस्कृतिक संपर्क में जिन चार तत्वों का विशेष महत्व है, वे केन्द्रित विचार (The Central Ideas), मानसिक अभिवृत्ति (The Mental Attitude), संस्कृति के तत्व (Content of Culture) और संस्कृति को संरक्षित करने वाला आर्थिक ढांचा (Economic Framework which Sustains Culture) हैं। किसी संस्कृति के अधीन हो जाने की स्थिति में परिवर्तन का अंतिम परिणाम उसे मानने वाले लोगों की मानसिक अभिवृत्ति पर मूलतः निर्भर करता है। यही वजह है कि यदि किसी संस्कृति का अनुकरण करने वाले लोगों में अपनी संस्कृति के प्रति आत्मसम्मान और गौरव का भाव कम हो तो उसमें गहरे परिवर्तन की संभावनाएं उन संस्कृतियों के मुकाबले अधिक रहती है, जिन्हें मानने वालों में अपनी संस्कृति को लेकर आत्मसम्मान का भाव हो। हालांकि, यदि अधीन हो चुकी संस्कृति में इस तरह का कुछ भाव बचा हो तो वह रक्षात्मक तरीकों से कुछ विशेष तत्वों को विकसित कर लेती है। ऐसी स्थिति में पुराने विचारों-संस्थाओं को अधिक मान दिया जाता है, नयी पहल की कमी स्पष्ट दिखती है, जबकि कुछ असामान्य तत्व भी उभरते हुए दिखते हैं। जब ये तत्व संस्कृति को विलुप्त होने से बचाने के अपने लक्ष्य में सफल हो जाते हैं तो स्वतः धीरे-धीरे कम होते जाते हैं और संस्कृति एक बार फिर विकास के पथ पर सामान्य रूप से बढ़ने लगती है।

अपने शोधकार्यों के दौरान बोस ने पाया कि पूर्वी भारत की जनजातियां जब हिन्दू जातियों के संपर्क में आईं तो उन्होंने हिन्दुओं की जीवनशैली और सांस्कृतिक पद्धतियों को अपना लिया। शीघ्र ही वे हिन्दू सामाजिक ढांचे और श्रेणियों में शामिल हो गईं। इसी तरह घुर्ये ने तर्क दिया कि भारतीय जनजातियों ने धीरे-धीरे हिन्दू जीवनपद्धति और मूल्यों को अपनाया जो दो संस्कृतियों के अंतरसंबंधों का परिणाम था। उन्होंने जनजातियों को 'पिछड़ी हिन्दू जातियां' बताया है, जो धीरे-धीरे हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में आत्मसात हो गईं (*op.cit.* Nagla 2013:101).

घुर्ये की ही तरह बोस भी जनजातियों को भारतीय सभ्यता का अहम हिस्सा मानते हैं। बोस बताते हैं कि अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की जनजातियों की तरह भारत की जनजातियां अलग-थलग (Isolated) नहीं रहीं, बल्कि उन्होंने वृहद् हिन्दू समाज से संपर्क-संवाद स्थापित किया (Chaudhury 2007)। इस प्रकार (जैसा पहले भी वर्णन किया गया है) अपनी पुरानी जीवनशैली को छोड़कर खेती अपनाने वाली जुआंग जनजाति धीरे-धीरे हिन्दू समाज में आत्मसात कर ली गई। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दू सभ्यता से जुड़ने की इस प्रक्रिया में जुआंग जनजाति के लोगों ने अपनी रीतियों, परंपराओं, सांस्कृतिक कार्यों को छोड़ा नहीं। उन्हें दोनों संस्कृतियों के विचारों-परंपराओं को अपनाने, अनुसरण करने की स्वतंत्रता है। बोस इसे 'जनजातियों के आत्मसातीकरण की हिन्दू पद्धति' कहते हैं और जनजातियों के आर्थिक परिवर्तन के लिए बहुत अनिवार्य करार देते हैं (Bose 1941)

10.6: भारतीय सभ्यता: विविधता में एकता (Indian Civilization: Unity & Diversity)

भारत भौगोलिक क्षेत्रों, धर्म, भाषाओं, पारंपरिक पहचानों, समुदायों और विभिन्न कारकों में विभिन्नताओं और विविधताओं वाला देश है। राष्ट्रीय निर्माण के दौरान भारतीय सभ्यता का अध्ययन करते हुए भारतीय विविधताओं के बीच समानता वाले तत्वों-कारकों पर फोकस किया। बोस का यह कार्य उस दौर में एकता और राष्ट्रीय अखंडता का भाव विकसित करने के लिए अति महत्वपूर्ण था। बोस ने भारतीय सभ्यता को विविधताओं में एकता के तौर पर प्रस्तुत किया है, जिसके लिए उन्होंने शास्त्रीय, धार्मिक पाठ्य, प्रशासनिक दस्तावेजों, ग्रामीण परिवेश और जाति व्यवस्था के समग्र अध्ययन को आधार बनाया है। बोस ने अपने अध्ययन में पाया कि भारत की विशाल भौगोलिक और पर्यावरणीय परिस्थितियां, मिट्टी की गुणवत्ता, जलस्रोतों की स्थिति और अन्य भौतिक संसाधन अलग-अलग क्षेत्रों के लोगों की जीवनशैली और भोजनपद्धति पर असर डालती हैं। उष्णकटिबंधीय देश होने के कारण भारत प्रारंभ से ही कृषिप्रधान देश रहा है। फसल उपज के मौसम में देशभर में त्योहारों का आयोजन किया जाता है और पशु-पक्षियों का पूजन होता है। यह बताता है कि प्रकृति जीवन के आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक पहलुओं को भी प्रभावित करती है। हालांकि, भारत में सांस्कृतिक रूप से विविधताएं हैं, लेकिन विभिन्न क्षेत्रों और भाषा समूहों के बीच संस्कृति से जुड़े कुछ ऐसे तत्व हैं जो समान हैं और एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं (Behura and Mohanti 2002).

बोस मानते हैं कि यह एकरूपता ही भारतीय सभ्यता है जो जाति व्यवस्था की परंपरा से विकसित हुई है और सदियों से भारतीय लोगों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को संचालित करती रही है। इसके अतिरिक्त विभिन्न धार्मिक पंथों, उपासना विधियों और संतों द्वारा धार्मिक-सामाजिक सुधारों के लिए किए जाने वाले देशाटन ने भारतीय सभ्यता को एकसमान बनाने में मदद की। बोस तर्क देते हैं कि भारतीय समाज की प्रकृति 'पिरामिड' की तरह है। यहां जन के बीच विश्वास और महत्वाकांक्षाओं के लिहाज से आधार बिन्दु (निम्न जातियों, श्रमिकों और निम्न वर्गों) में अधिक विविधता मिलती है, जबकि उच्च वर्गों के बीच कम विविधता रहती है। (Sinha 1972:13) 1959 से 1964 तक एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के निदेशक रहने के दौरान बोस ने भारतीय समाज के राष्ट्रीय स्तरीय शोध के लिए पांच चरणों को अपनाए दिए, जो निम्नवत हैं:

1. पहला चरण: पूरे भारत में संस्कृति के तत्वों के वितरण का अध्ययन और इनके वितरण के पैटर्न, भाषाई विभिन्नताओं का मानचित्रात्मक वर्गीकरण
2. दूसरा चरण: मिट्टी के बर्तनों के निर्माण, धातुशिल्पकला जैसी प्राचीन भारतीय शिल्पकलाओं और तकनीकों का अध्ययन
3. तीसरा चरण: भारत के विभिन्न क्षेत्रों की सामाजिक व्यवस्थाओं में शिल्प और जाति व्यवस्थाओं का अध्ययन
4. चौथा चरण: मठ, राज्यों (Kingship) और मठों जैसे भारतीय समाज के प्राचीन स्थापत्यों का अध्ययन
5. पांचवां चरण: भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातीय अभियानों, जातियों और व्यवसायों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन (Sinha 1972, Saraswati 2002 and Nagla 2013)

अपने शोधकार्यों को लेकर बोस बेहद धुनी थे और चाहते थे कि युवा शोधकर्ता मानवजाति विज्ञान शोध को राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करें। उन्होंने जातियों, बर्तन निर्माण, बुनकर, तेल निर्माण जैसे भारतीय प्रचलित व्यवसायों, जीवनशैली के तरीकों, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन को लेकर आंकड़ों के संग्रहण पर जोर दिया। यद्यपि चौधरी (2007) पाते हैं कि बोस के लिए भारतीय सभ्यता हिन्दू सभ्यता से जुड़ी थी। भारतीय सभ्यता पर बोस के अध्ययन अधिकतर हिन्दू समाज के विभिन्न संस्कृतियों से संक्रमण पर आधारित हैं, जो बताते हैं कि हिन्दुत्व धीरे-धीरे इन संस्कृतियों के शीर्ष पर पहुंचता है। हालांकि, हिन्दुत्व को लेकर उनका विचार धर्म से अधिक संस्कृति का है, जो सबको आत्मसात करता है।

10.7: निष्कर्ष (The Conclusion)

जैसाकि हमने इस इकाई में अध्ययन किया, निर्मल कुमार बोस ने भारत के सामाजिक मानवजाति विज्ञान के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान किया है। हालांकि, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी सक्रिय भूमिका के चलते उनके एकेडमिक कैरियर पर प्रभाव पड़ा। वह अपने शोध कार्यों पर पूरा और वांछित समय नहीं दे सके। फिर भी राजनीतिक रूप से किए गए उनके कार्य उनके मानजाति विज्ञान दृष्टिकोण पर साफ प्रतिबिंबित होते हैं। समाजशास्त्र और मानवजाति विज्ञान के छात्र होने के नाते संस्कृति, सांस्कृतिक संपर्क और जनजातीय अखंडता-एकता पर बोस के विचार हमारे अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं। भारतीय सभ्यता के अध्ययन का जो दृष्टिकोण उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह राष्ट्रीय अखंडता और एकीकृत राष्ट्र के निर्माण में सहयोग करता है। हालांकि, जनजातीय समाजों के एकीकृत राष्ट्र की मुख्यधारा में अंततः समन्वित होने के उनके विचार पर समालोचनात्मक विश्लेषण संभव है।

10.8: भावी अध्ययन (Further Readings)

- Sinha, S. (ed.) (1972) “Anthropology of Nirmal Kumar Bose” in *Aspects of Indian Culture and Society: Essays in Felicitation of Professor Nirmal Kumar Bose*, Indian Anthropological Society, Calcutta, 1-22.
- Bhattacharjee, N. (2008), “Through Thick and Thin Reflections on Nirmal Kumar Bose,” *Indian Anthropologist*, Vol. 38, No. 2, 1-17.
- Bose, Pradip Kumar (2007), “The Anthropologist as ‘Scientist’? Nirmal Kumar Bose” in Uberoi, P., Sundar, N. and Deshpande, S. (ed.) *Anthropology in the East: Founders of Indian Sociology and Anthropology*, Permanent Black, New Delhi, 290-329.

10.9: सन्दर्भ (References)

- Behura, N.K. and Mohanti, K.K. (2002), “Bose on the Unity of Indian society and Culture” in Bhattacharya, R. K. and Sarkar, J. (ed.), *Passage Through Indian Civilization*, Anthropological Survey of India, Kolkata, 197-205.
- Bhattacharya, B (2002), “Professor Nirmal Kumar Bose: My Teacher,” in Bhattacharya, R. K. and Sarkar, J. (ed.), *Passage Through Indian Civilization*, Anthropological Survey of India, Kolkata, 6-9.

- Bhattacharya, R. K. (2002), "A Few words about Professor N.K. Bose and his work," in Bhattacharya, R. K. and Sarkar, J. (ed), Passage Through Indian Civilization, Anthropological Survey of India, Kolkata, 1-5.
- Bose, N.K. 1941. "The Hindu Method of Tribal Absorption," Science and Culture, Vol. 7: 188- 94.
- Bose, N.K. (1961), Cultural Anthropology, Asia Publishing House, Bombay.
- Bose, Pradip Kumar (2007), "The Anthropologist as 'Scientist'? Nirmal Kumar Bose" in Uberoi, P., Sundar, N. and Deshpande, S. (ed.) *Anthropology in the East: Founders of Indian Sociology and Anthropology*, Permanent Black, New Delhi, 290-329.
- Chakrabarti, S.B. (2002), "Paribrajaker diary: An Enquiry into its Anthropological input" in " in Bhattacharya, R. K. and Sarkar, J. (ed), Passage Through Indian Civilization, Anthropological Survey of India, Kolkata, 147-156.
- Chaudhury, S (2007), "Civilizational Approach to the Study of Indian Society: N. K. Bose and Surajit Sinha", *The Eastern Anthropologist*, Vol.60, No.3-4: 501-508.
- Durkheim, Emile. 1982. *The Rules of Sociological Method*. Intro. Steven Lukes; trs. W.D. Halls; London: Macmillan, 1-159.
- Nagla, B.K. (2013), "Civilizational Perspective: N.K. Bose", *Indian Sociological Thought*, Rawat Publications, New Delhi, 341-354.
- Saraswati, B. (2002), "Professor Nirmal Kumar Bose : A Gandhian Anthropologist" in Bhattacharya, R. K. and Sarkar, J. (ed), Passage Through Indian Civilization, Anthropological Survey of India, Kolkata, 10-39.
- Sinha, S. (ed.) 1972. "Anthropology of Nirmal Kumar Bose" in *Aspects of Indian Culture and Society: Essays in Felicitation of Professor Nirmal Kumar Bose*, Indian Anthropological Society, Calcutta, 1-22.

इकाई 11

सुरजीत सिन्हा (Surajit Sinha)

- 11.1: उद्देश्य
- 11.2: परिचय
- 11.2.1: जीवनवृत्त
- 11.2.2: प्रभाव एवं योगदान
- 11.3: दृष्टिकोण एवं माध्यम
- 11.3.1: सभ्यतागत दृष्टिकोण
- 11.3.2: मानव विज्ञान शोध का ढांचा
- 11.3.3: जनजातियों के संरक्षण की सीमाएं
- 11.4: जनजातियों और काश्तकारों की अवधारणा
- 11.5: जनजातीय जातियों व जनजातीय काश्तकारों की सततता
- 11.6: भारतीय सभ्यता
- 11.7: नगरीय मानव विज्ञान
- 11.8: निष्कर्ष
- 11.9: सन्दर्भ

11.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नवत हैं:

- सुरजीत सिन्हा के जीवन और उनके कार्यों का परिचय
- सिन्हा के प्रभावों और उनके योगदान का अध्ययन
- सिन्हा के कार्यों के सभ्यतागत दृष्टिकोण को समझना
- जनजाति, जाति और काश्तकारों की अवधारणा
- भारतीय सभ्यता में जनजाति, काश्तकारों की सततता

11.2: परिचय (Introduction)

सुरजीत चंद्र सिन्हा भारतीय मानवविज्ञानी थे। उन्होंने अमेरिका में सामाजिक मानवविज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त किया, लेकिन इसके बाद भारत में ही कार्य किया। उन्होंने भारतीय सभ्यता में जनजातियों और उनके रूपांतरण के अध्ययन पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने बंगाल व बिहार की भूमिज तथा भारत की केन्द्रीय पट्टी की गोंड जनजातियों पर शोधकार्य किये। उनके शोधकार्य, अध्ययन, आंकड़े और अन्य जानकारियां मानवविज्ञान के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

जीवनवृत्त

सुरजीत चंद्र सिन्हा (1926–27, फरवरी 2002) का जन्म तत्कालीन बंगाल के दुर्गापुर (अब बांग्लादेश में) में हुआ था। उनके पिता सुसंग के महाराज भूपेन्द्र चंद्र सिन्हा थे, जबकि माता अभिजात्य परिवार से संबंध रखती थीं। नजदीकी सरकारी हाईस्कूल से पढ़ाई पूरी करने के बाद उन्होंने स्नातक स्तर पर भौतिक विज्ञान विषय चुना। हालांकि, जल्द ही उन्होंने भौतिकी को बदलकर भूगर्भविज्ञान विषय ले लिया और अंत में मानवविज्ञान की पढ़ाई की। मानवविज्ञान में उनकी रुचि तब जगी, जब वे जनजातीय क्षेत्रों में भ्रमण के लिये पहुंचे और संधाल जनजाति के जीवन के तौर-तरीकों को नजदीक से देखा। उन्होंने संधाली गीतों का संग्रहण किया और कई स्कैच तैयार किये। उन्होंने कलकत्ता विवि के मानवविज्ञान विभाग में दाखिला लिया, जहां बेहतरीन प्रदर्शन के बूते वह सौ रुपये की छात्रवृत्ति हासिल करने में कामयाब रहे। मानवविज्ञान में स्नातकोत्तर के बाद वह 1950–1952 तक कलकत्ता विवि में ही रिसर्च स्कॉलर रहे। इस दौरान उन्होंने बंगाल के शरणार्थियों के पुनर्वास पर काम किया। इसके बाद वह पीएचडी के लिये अमेरिका की नॉर्थवेस्टर्न यूनिवर्सिटी चले गये। भूमिज जनजाति पर किये शोधकार्य के जरिये वे रेडफील्ड, मिल्टन सिंगर और मैकिम मैरियट के करीब आये, जो शिकागो विवि में रहते हुये इसी तरह के शोध कर रहे थे।

“The Acculturation of the Bhumij of Manbhum: A study in Social Class Formation and Ethnic Integration” शीर्षक से सिन्हा ने 1956 में अपना शोधकार्य पूरा कर नॉर्थवेस्टर्न यूनिवर्सिटी में प्रस्तुत किया। हालांकि, इसके बाद भी सिन्हा का भूमिज जनजाति का अध्ययन थमा नहीं। अपने पहले अध्ययन में उन्होंने भूमिज जनजाति के सभ्यतागत दृष्टिकोण पर फोकस किया था, पीएचडी पूरी कर लेने के बाद उन्होंने जनजातीय समुदायों के बीच अंतर, संगठन और राज्य की भूमिका जैसे विषयों पर ध्यान केन्द्रित किया। सिन्हा एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया से जुड़ गये, जहां उन्होंने निर्मल कुमार बोस के साथ काम किया। बोस उस समय **‘The Material Culture Trait Survey’** पर काम कर रहे थे, जिसका मकसद भारत के विभिन्न भाषाई और सांस्कृतिक क्षेत्रों का अध्ययन करना था। अपने अकादमिक कैरियर के दौरान सिन्हा ने कई परियोजनाओं पर काम किया, कई शोधलेख लिखे, कई व्याख्यान दिये और विभिन्न सेमिनारों, गोष्ठियों में प्रतिभाग किया।

प्रभाव एवं योगदान

अपने दौर के अन्य शोधकर्ताओं की तरह सिन्हा ने भी ब्रिटिश उपनिवेश काल और स्वतंत्रता के बाद भारतीय सामाजिक स्थिति पर अध्ययन किया। ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज को बेहतर समझने के मकसद से जनजाति और जाति जैसी नयी श्रेणियां और अवधारणाएं दीं। ये श्रेणियां ब्रिटिश शासन की समाप्ति के बाद भी भारत में जारी रहीं। हालांकि, मानवविज्ञानियों के बीच इस बात को लेकर हमेशा यह बहस बनी रही कि नये राष्ट्र के अनुरूप इन अवधारणाओं में बदलाव आवश्यक है या नहीं। इस स्थिति ने सिन्हा को अलग-थलग, उपेक्षित पड़े क्षेत्रों में आने वाले बदलावों और जनजातीय जनसंख्या के संबंध में व्यापक फील्डवर्क करने के लिये प्रेरित किया। सिन्हा अपने समकालीन शोधकर्ताओं, विशेषकर अमेरिकन स्कूल ऑफ एंथ्रोपोलॉजी के शोधकर्ताओं, निर्मल कुमार बोस, रॉबर्ट रेडफील्ड, मिल्टन सिंगर, एफजी बैले आदि से प्रेरित थे। प्रारंभ में भारतीय सभ्यता में जनजातीय एकीकरण का बोस का विचार उनका मार्गदर्शक बना। 1941 में बोस ने अपने अध्ययन में पाया था कि पूर्वी भारत में जनजातियां जब हिन्दू जातियों के संपर्क में आयीं तो उन्होंने हिन्दुओं की तरह आजीविका और सांस्कृतिक गतिविधियों को अपना लिया। इससे वे हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में शामिल होती गयीं। हालांकि, सिन्हा (1997) ने

बाद में इस शोधकार्य को और विस्तार देते हुये कुछ बदलाव किये। समकालीन मानवविज्ञानियों रॉबर्ट रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर ने भारतीय समाज के अध्ययन के लिये कमतर और उच्चतर परंपरा जैसी श्रेणियों का इस्तेमाल किया था, इसके अनुरूप ही सिन्हा ने भी भारतीय सभ्यता की धाराओं को साधारण एवं जटिल में बांटकर देखा। उन्होंने दोनों धाराओं को पदानुक्रम के आधार पर निर्धारित किया और दोनों को ही पूरा महत्व दिया। **(Sinha 1997: 19)** भारतीय जनजातियों के संदर्भ में बोस ने जनजातियों के हिन्दू पद्धतियों के अनुसरण की अवधारणा दी थी तो घुर्ये ने जनजातियों को पिछड़े हिन्दू बताया था। सिन्हा ने भारत में मानवविज्ञान के अवधारणात्मक और व्यावहारिक पक्ष को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया। उन्होंने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक ढांचे का अध्ययन किया और इस तरह बदलाव के ऐतिहासिक पहलुओं को सामने रखा **(Saraswati 1991)**. एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के सदस्य रहते हुये उन्होंने विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई, जैविक शोध परियोजनाओं की निगरानी की, जिनमें बस्तर के लोगों पर अध्ययन और निर्मल कुमार बोस के निर्देशन में मैटीरियल कल्चर ट्रेट सर्वे में भी काम किया। वह भारत के उन कुछ प्रारंभिक मानवविज्ञानियों में शामिल हैं, जिन्होंने जनजाति और खेतिहरी-किसानी की अवधारणा को स्पष्ट किया। उनके कार्यों ने महत्वपूर्ण रूप से जाति, जनजाति और काश्तकार को परिभाषित करने में मदद की।

11.3: दृष्टिकोण एवं माध्यम (Approach and Method)

सभ्यतागत दृष्टिकोण

सिन्हा ने इस बात पर जोर दिया कि आवश्यक समस्याओं पर किये जाने वाले मानववैज्ञानिक शोधकार्य भारतीय सभ्यता की समग्रता के दृष्टिकोण से किये जाने चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय समाज के सभी पहलुओं का अध्ययन किया जाना चाहिये। किसी सभ्यता के तत्वों को एक-दूसरे से संबंध और भारतीय समाज एवं संस्कृति के व्यापक पैमाने के अंतर्संबंध के तौर पर देखा जाना चाहिये। इस तरह का सभ्यतागत दृष्टिकोण भारतीय समाज और सामाजिक ढांचे को गहराई से समझने में मददगार हो सकता है। सिन्हा सभ्यता के पारंपरिक केन्द्रबिन्दु को मानववैज्ञानिक शोधकार्य के जरिये उभारने पर जोर देते हैं, ताकि किसी एकमात्र समस्या पर शोध के बजाय भारतीय समाज का समग्र अध्ययन करना संभव हो। हम जानते हैं कि इसी तरह निर्मल कुमार बोस ने भी भारतीय समाज के अध्ययन के दौरान सभ्यतागत दृष्टिकोण का इस्तेमाल किया और उन्होंने जाति व्यवस्था तथा जनजातियों को भारत की समग्र संस्कृति व सभ्यता का हिस्सा बनाकर देखा।

मानववैज्ञानिक शोध का ढांचा

एक शोधपत्र **“Urgent Problems for Research in Social and Cultural Anthropology in India: Perspective and Suggestions,”** में सिन्हा **(1968: 123-124)** ने भारतीय सामाजिक मानवविज्ञान के अध्ययन के लिये कुछ आम बिंदुओं को ध्यान में रखते हुये कार्यढांचा तय करने का सुझाव दिया है। वह तीन प्रमुख बिन्दुओं को ध्यान में रखने पर जोर देते हैं:

- विश्व संस्कृति के कुछ अनसुलझे पहलुओं को जानने के लिये अपेक्षाकृत अपरिवर्तनीय अथवा घटते आदिम समूहों का चयन किया जा सकता है

- भारतीय समाज और संस्कृति के समग्र अध्ययन के लिये सैद्धांतिक समझ विकसित करने के मकसद से समूहों और समस्याओं का चयन किया जाना चाहिये
- राष्ट्रीय विकास और पुनर्निर्माण में सामने आयी समस्याओं का मानववैज्ञानिक अध्ययन किया जाये

वह बताते हैं कि समस्याओं का चयन निम्नवत किया जा सकता है—

- वे स्वरूप या प्रक्रियाएं, जो निरंतर और बहुत तेजी से परिवर्तनशील हैं
- शोधकार्यों को चरणबद्ध तरीके से पूर्ण करना, जिसके तहत निश्चित कार्यक्रम को व्यवस्थित ढंग से पूरा किया जाये, प्रारंभ में तात्कालिक बिन्दुओं को स्पष्ट करने के बाद अगले चरण में मजबूत धरातलीय कार्य से शोध को आगे बढ़ाया जा सकता है

जनजातीय मानवविज्ञान संरक्षण की सीमाएं

सिन्हा (1968) मानते थे कि जनजातियों का अध्ययन विस्तृत भारतीय समाज और सभ्यता के सन्दर्भ में किया जाना चाहिये। वह इस बात पर सहमति जताते हैं कि आदिम समूहों पर विशेष ध्यान दिये जाने की जरूरत है, क्योंकि उनकी संस्कृति और सभ्यता के संबंध में लिखित दस्तावेजों का भारी अभाव है। हालांकि, सिर्फ आदिम स्तर पर ही मानववैज्ञानिक शोध पर ही केन्द्रित नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि समग्र भारतीय सभ्यता के अध्ययन के दृष्टिकोण से इसकी अपनी कुछ सीमाएं हैं। सिन्हा ने इन सीमाओं को निम्नवत समझाया है:

- आदिम जनजातियां भारतीय समाज और सभ्यता की सघनताओं में से बेहद छोटे आयाम को स्पष्ट कर पाती हैं
- आदिम जनजातियों, कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाये तो, को भारतीय सभ्यता के इतिहास आधारित श्रेणियों के तौर पर स्पष्ट कर पाना संभव नहीं हो पाता है
- यद्यपि यह माना जाता है कि आदिम जनजातियां ही तेजी से नष्ट हो रही हैं, लेकिन कई खेतिहर समुदायों और शहरों में भी रहने वाले कई समुदायों में परंपराओं और सांस्कृतिक पहलुओं में समान रूप से कमी दर्ज की जा रही है
- आदिम जनजातियों के नष्ट होने की अवधारणा को अतिरंजित नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि वे इतनी तेजी से बदल नहीं रही हैं, जितना कि माना जाता है (Sinha 1968: 125-126.)

सिन्हा के अनुसार समाजविज्ञानियों को नृवंशवैज्ञानिक (Ethnographic) आंकड़ों का संग्रहण देश के विभिन्न क्षेत्रों से करना चाहिये। वह बताते हैं कि सभ्यता का केन्द्र मौखिक लोकगीतों, कविताओं, किस्सों—कहानियों, लोकसंगीत, लोकनाट्य के जरिये एक से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचता है। ऐसे में यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि विभिन्न क्षेत्रों से इन आंकड़ों, जानकारियों को एकत्र करने के बाद इन सभी को एकसूत्र में बांधकर भारत की परंपराओं को समझा जाये और एकीकृत राष्ट्र की अवधारणा के प्रति जागरूकता लायी जाये।

11.4: जनजातियों और काश्तकारों की अवधारणा (Concept of Tribes and Peasents)

जनजाति (Tribes) और जाति (Caste) ये वे अवधारणाएं हैं, जो भारतीय मानवविज्ञान में ब्रिटिश उपनिवेशकाल में शामिल हुयीं। यही वजह है कि स्वतंत्रता के पश्चात इन अवधारणाओं के औचित्य, इनमें तदनुकूल बदलाव की आवश्यकता महसूस की गयी और इसे लेकर बहस भी हुयी। अधिकतर

शोधकर्ताओं ने महसूस किया कि तात्कालिक अवधारणाओं और सिद्धांतों को पुनर्परिभाषित करते हुये भारतीय मानवविज्ञान को उपनिवेशिक स्थिति से बाहर निकालना जरूरी है। ब्रिटिश उपनिवेश शासकों ने जनजाति की श्रेणियां तय की थीं, मानवविज्ञानी मुख्यधारा से जनजातियों की उपेक्षा पर जोर देते थे। इस तरह जनजातीय समाज को उस दौर में उपेक्षित और अलग-थलग रहने वाले समुदाय के तौर पर देखा जाता था। सिन्हा और उनके दौर के अन्य मानवविज्ञानियों ने जनजाति, जाति और काश्तकार को भारतीय सभ्यता के संदर्भ में अवधारणात्मक स्वरूप देने का प्रयास किया। गंगा के मैदानी क्षेत्रों में जनजातीय बेल्ट की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति के वृहद परीक्षण के बाद सिन्हा ने तीन प्रमुख अवधारणाएं दीं:

- इन समुदायों के सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था संबंधी गुण हिन्दू काश्तकार समाज से अलग हैं
- ये समुदाय दो अलग सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के बीच की कड़ी हैं
- केन्द्रीय और दक्षिणी भारत में जनजातीय समुदायों में रूपांतरण की प्रक्रिया सामने आती है, जो उन्हें हिन्दू काश्तकार समुदायों के नजदीक लाती है, सभी जनजातीय समुदाय हिन्दू काश्तकार समाज से प्रभावित हुयी हैं

उपरोक्त परिणामों के आधार पर सिन्हा जनजातीय समुदायों की पारंपरिक स्थितियों को अवधारित करने का प्रयास करते हैं:

ये जनजातीय समुदाय भारतीय सभ्यता की मुख्यधारा से बाहर प्रतीत होती हैं। जनजातीय संस्कृति को पारंपरिक भारतीय सभ्यता की पिछड़ी शाखा के तौर पर देखा जा सकता है। इस तरह यह माना जा सकता है कि ये वे आदिम जातियां हैं, जिनकी संस्कृति भारतीय सभ्यता के संपर्क में आकर विकसित हुयी है, लेकिन उन्होंने अपने स्वयं के पारंपरिक गुणों को भी नहीं छोड़ा है। जनजातीय संस्कृति वास्तविक आदिम संस्कृति को प्रदर्शित करती है जो अविकसित है।

उपरोक्त के आधार पर यह माना जा सकता है कि सिन्हा के अनुसार जनजातीय समाज अलग-थलग रहने वाले समुदाय थे, जिनका हिन्दू समाज के साथ सीमित संवाद था। उनकी भूमिका ग्रहणकर्ता के तौर पर थी, जिन्होंने हिन्दू समाज से परंपराओं, रीतियों को अनुसरण किया है। सिन्हा ने कुछ मूल बिन्दुओं के आधार पर जनजातियों और काश्तकारों में अंतर को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया, जो निम्नवत है:

- **पर्यावास:** अधिकतर जनजातीय समुदाय पर्वतीय, घने जंगलों वाले क्षेत्रों में रहते हैं, जबकि हिन्दू काश्तकार समुदाय गैरवनीकृत मैदानों में और नदियों के नजदीक रहते हैं
- **आर्थिकी:** जनजातीय अर्थव्यवस्था में सिर्फ दैनिक भोजन की जरूरतों का ध्यान रखा जाता है। वे मुख्यतः शिकार, मत्स्य आखेट, जंगलों में संग्रहीकरण से भोजन जुटाते हैं। वे झूम कृषि (अलग-अलग स्थानों पर खेती) करते हैं, जिसमें किसी स्थान पर खेती करने के बाद जमीन को यूं ही छोड़ दिया जाता है। जुआंग, भुईया आदि जनजातियों में यह व्यवस्था देखी जाती है। इसके अलावा जनजातीय लोग बुनकरी, लोहार के काम, टोकरियों और रस्सी बनाने के शिल्प से

भी जुड़े होते हैं। इस तरह जनजातियों की अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर होती है और उनके लिये पूंजी संग्रहण की आवश्यकता बेहद कम या बिल्कुल शून्य होती है। दूसरी ओर, हिन्दू काश्तकार समुदाय सघन खेती पर निर्भर है, जिसमें बैलों और भैंसों की मदद से खेत में हल चलाया जाता है। शहरी केन्द्रों से जुड़े व्यापारिक बाजारों के कारण इनकी अर्थव्यवस्था भी आत्मनिर्भर रहती है। इस समुदाय में शिल्प की विशेषज्ञता और सामंती व्यवस्था पायी जाती है। जमीन, सोना, नगदी आदि के जरिये इस समुदाय में पूंजी संग्रहण भी बड़े पैमाने पर पाया जाता है।

- **सामाजिक ढांचा:** जनजाति एकल, अंतर्विवाही, पारंपरिक समूह होता है, जो क्षेत्रविशेष तक ही सीमित होता है। टोटम यानी प्रतीकचिह्नों के जरिये जनजातियों को विभिन्न वंशावलियों में बांटा जा सकता है। ये वंशावली या गोत्र आगे अलग-अलग प्रजातियों में बांटे जा सकते हैं। जनजाति के मुखिया, पुजारी और उपचार करने वाले वैद्य को छोड़ दे तो जनजाति में अन्य लोगों के लिये विशेष भूमिका का कोई अवसर नहीं रहता। इससे वहां सामाजिक स्तरों में लचीलापन दिखता है। दूसरी ओर, काश्तकार समुदाय जाति समूहों पर आधारित हैं, जो प्रकृति से अंतर्विवाही है। यह समुदाय विभिन्न जातियों में जन्म के आधार पर पदानुक्रम आधारित होता है। इसके चलते यहां सामाजिक स्तरों को लेकर कठोरता नजर आती है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक भूमिकाओं के रूप में यहां विशेषज्ञता भी पायी जाती है। उदाहरण के लिये पुजारी, ज्योतिषी, ओझा, शिक्षक, साधु आदि। काश्तकार समुदाय अपने क्षेत्र या गांव से बाहर के बाजारों, सांस्कृतिक केन्द्रों से भी संबद्ध हो सकते हैं।
- **वैचारिक व्यवस्था:** जनजातीय समुदाय पारलौकिक शक्तियों में विश्वास करते हैं और उनके अपने देवता व मंदिर होते हैं। सुरक्षा, शांति, खुशहाली, बच्चों के स्वास्थ्य, अच्छी फसल, बीमारी और मृत्यु से बचाव के लिये ये समुदाय अपने रीति आधारित कर्मकांड करते हैं। वे पुनर्जन्म और आत्मा के रूपांतरण पर विश्वास करते हैं, लेकिन उनमें स्वर्ग-नर्क की अवधारणा नहीं मिलती। पशुबलि, जादू-टोना जैसी रीतियां इनमें सर्वाधिक प्रचलित हैं। हिन्दू काश्तकार समुदाय में देवपूजन, अद्वैतवाद, बहुदेववाद का समन्वय नजर आता है। स्वर्ग-नर्क, धर्म-धार्मिक दायित्व, नैतिकता के बिन्दु इस समुदाय में अहम हैं। यह माना जाता है कि देवताओं में अकूत शक्तियां हैं और मूर्तिपूजा की जाती है। पशुबलि, जादू-टोना यहां भी पाये जाते हैं।

सिन्हा बताते हैं कि काश्तकार समुदाय कृषि आधारित स्थायी, ग्रामीण समुदाय हैं, जिनके सदस्य स्थानीय मौखिक परंपराओं से बंधे रहते हैं। इन समुदायों में सभ्यता के विशेषज्ञ केन्द्र पाये जाते हैं। वर्ण-जाति व्यवस्था के जरिये वे वंशाधारित पदानुक्रम और श्रम विभाजन से जुड़ते हैं। दूसरी ओर, जनजातीय समुदाय अलग-थलग रहने वाले समुदाय हैं, जिनके सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध सभ्यता के केन्द्रों से बहुत सीमित या बिल्कुल नहीं होते। इसे निम्न सारिणी से भी समझा जा सकता है:

Box 2.1: Difference between 'Tribe' and 'Peasant'

	Aspects	Tribe	Peasant
1	Habitat	Hilly and forest	Plateaus and plains
2	Economy	Subsistence economy - hunting, gathering, fishing and shifting cultivation; Crafts: weaving, iron smelting, basket and rope making.	Agricultural economy; Feudal system; Specialized crafts; connected to commercial markets and incentive towards capital accumulation.
3	Social Structure	Exogamous groups; Totemic clans; Less role-differentiation/ specialization; Flexible stratification.	Caste group- endogamous and hierarchical. Extended ties beyond the village. Role specialization and differentiation.
4	Ideological System	Supernaturalism; Belief in reincarnation and transmigration of souls; Magic and witchcraft are predominant.	Patheonism, Monotheism and Polytheism; Idol worship; magic and witchcraft are common.
5	Aspirational level	Low aspirations	Materialistic and other aspirations like more wealth, superior status and so on.

11.5: जनजातीय जातियों व जनजातीय काश्तकारों की सततता (Tribe Caste and Tribe Peasant Continuum)

ब्रिटिश उपनिवेश काल में जनजातियों को ऐसे समुदायों के तौर पर जाना गया, जो मुख्य धारा से अलग रहते हैं। लेकिन, समय के साथ यह तय करना और पहचान कर पाना मुश्किल होता चला गया कि जनजाति की सीमा कहां समाप्त होती है और जाति की सीमा कहां से प्रारंभ होती है। ये दोनों श्रेणियां एक-दूसरे में मिली हुयी नजर आने लगीं। कई मानवविज्ञानियों ने इस स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया। सिन्हा (1976) ने बस्तर के पर्वतीय मारिया गोंड और बड़ाभूम के भूमिज जनजातियों के अध्ययनों के जरिये जनजाति और जाति के बीच संबंध, सततता को स्पष्ट किया है। उन्होंने बैले के अध्ययन का भी सहयोग लिया, जिन्होंने उड़िया समाज का अध्ययन करते हुये जनजाति और जाति को एक ही रेखा के दो विपरीत बिंदुओं के तौर पर स्पष्ट किया। उड़िया और कोंड समुदायों के राजनीतिक व्यवस्था के

विश्लेषण के दौरान बैले ने पाया कि विभिन्न बिन्दुओं पर समाज या तो जाति व्यवस्था पर आधारित नजर आता है, या फिर कुछ जगह उसमें जनजातीय लक्षण भी सामने आते हैं। हालांकि, सिन्हा इस सिद्धांत को कई संदर्भों में अनुपयुक्त मानते हैं। लोक-शहरी सततता के रेडफील्ड की अवधारणा के जरिये सिन्हा ने भारतीय समाज के लिये जनजाति-जाति और जनजाति-काश्तकार सततता का मॉडल पेश किया। जैसाकि हम पहले जान चुके हैं कि जनजाति को (पारिस्थितिकी, जनसांख्यिकीय, आर्थिकी, राजनीति और अन्य सामाजिक संबंधों के आधार पर) अन्य समूहों से अलग माना जाता है। ये पारंपरिक समूह हैं, जिनमें सामाजिक स्तरों का अभाव दिखता है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। सिन्हा जाति को संपर्क, संबद्धता, विविधता, सामाजिक ढांचे, स्तर के गुणों वाला बताते हैं, जिनमें बहुल परंपराओं का रहना संभव हो, अंतर्पारंपरिक सहभागिता हो, अन्य समूहों से संवाद की संभावनाएं हों। काश्तकार समुदायों में ये सभी गुण पाये जाते हैं। वे सभ्यता के केन्द्रों के साथ भी संपर्क बनाये रखते हैं, इसके बावजूद वे अपनी सांस्कृतिक विविधता को भी संरक्षित रखते हैं।

Box 2.2: A Comparison between the Hill Maria Gonds and the Bhumij on the basis of their complexity

Aspects	Tribe Hill Maria Gond (M.P.)	Caste Peasant Bhumij (West Bengal-Bihar)
1. Ecology	Hill and Forest	2/3 plains; 1/3 forest
2. Population	1200	375,938
3. Ethnic complexity	Single ethnic group	Avg is 6 ethnic groups per village. Bhumij form 15% of Barabhum containing 64 thnic groups
4. Technology and Economy	a) Swidden b) No market within tribal tract c) Communal ownership of swidden land	a) Wet rice cultivation b) Market at regular intervals c) Land Revenue organization based on hierarchy and feudalism
5. Stratification	No stratification	Feudalization of political structure and recognition of at least three classes
6. Caste-like Interaction	Ranked in three strata Non-tribal ritual specialists employed	20-28 ranks Caste system (4 varnas)

Source: Sinha, S. (1965), "Tribe-Caste and Tribe-Peasant Continua in Central India", *Man in India*, Vol. 45 (1): 57-83.

11.6: भारतीय सभ्यता (Indian Civilization)

सिन्हा (1980:02) के अनुसार सभ्यता का अर्थ शहरी केन्द्रों के पदानुक्रम के अस्तित्व से है, जहां विचार और भौतिक संस्कृति का समावेश हो। ये केन्द्र देशभर में सांस्कृतिक संचार के लिये अन्य केन्द्रों और ग्रामीण समुदायों से संबद्ध रहते हैं। सभ्यता की अवधारणा स्थानीय मौखिक और अव्यवस्थित परंपराओं के बजाय व्यवस्थित विचारों (विशेषताओं से परिपूर्ण, जैसे— साहित्य आदि) के अस्तित्व को तरजीह देती है। पहले **Nirmal Bose Memorial Lecture (1993)** को संबोधित करते हुये सिन्हा ने भारतीय सभ्यता के दो महत्वपूर्ण गुणों के बारे में बताया। पहला यह कि भारतीय सभ्यता भारतीय समाज की साधारण और जटिल धाराओं के संयोजन से निर्मित है। यहां साधारण से उनका तात्पर्य जनजातीय समुदायों और स्थानीय परंपराओं से है, जबकि जटिल का अर्थ सघन, नगरीकृत, कृषि आधारित और जागृत परंपराओं से है, जैसे हिन्दू समाज। ये दोनों ही धाराएं एक दूसरे को निरंतर प्रभावित करती हैं और भारतीय सभ्यता इन दोनों के परस्पर संवाद, संबंध का ही परिणाम है। बोस के विपरीत सिन्हा मानते हैं कि सांस्कृतिक रूपांतरण दोहरा रास्ता है, जिसमें दोनों परंपराएं एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।

बोस (1941) के अनुसार हिन्दू संस्कृति और आजीविका अपनाने वाली जनजातियों के लिये यह आवश्यक था। हालांकि, उन्होंने अपनी रीतियों और जीवनशैली में बदलाव नहीं किया, लेकिन हिन्दू जीवन के तरीकों को अपनाया और वे जल्द ही हिन्दू समाज का हिस्सा बन जायेंगे। बोस मानते हैं कि हिन्दू समाज जनजातीय संस्कृति से अधिक प्रभावित नजर नहीं आता। वहीं, सिन्हा के अनुसार भारतीय सभ्यता दरअसल हिन्दू समाज और जनजातीय संस्कृति के बीच लेन-देन का परिणाम है। हालांकि, दोनों के बीच एक-दूसरे को प्रभावित करने की प्रकृति रहती है, लेकिन दोनों अपने खुद की संस्कृति को भी बचाकर रखते हैं। इस तरह बाहरी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों के बावजूद अपने पारंपरिक सांस्कृतिक रीतियों को बचाये रखना भारतीय सभ्यता का दूसरा गुण है। सिन्हा इसे संरक्षण के जरिये विकास “**Development through conservation**” (1997:21) कहते हैं। वह उदाहरण देते हैं कि जनजातीय नृत्य छाऊ ने अपनी वास्तविकता को संरक्षित रखा है, जबकि यह भगवान गणेश के गीत के साथ प्रारंभ होता है। इसी तरह छत्तीसगढ़ी नाच में ग्रामीण पारंपरिक परंपराओं को आधुनिक कला के साथ समाविष्ट किया गया है।

11.7: नगरीय मानव विज्ञान (Urban Anthropology)

प्रारंभ में मानवविज्ञानियों ने जनजातीय और नगरीय संस्कृतियों का अध्ययन किया। समय के साथ मानव विज्ञान ने आदिम जातियों पर ध्यान देना शुरू किया और सभ्यतागत समुदायों की ओर उनका झुकाव कुछ कम हुआ। इसके चलते समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों के बीच एक विभाजन सा आ गया, समाजशास्त्रियों ने जहां नगरीय, सभ्यतागत समाजों पर ध्यान केन्द्रित किया, वहीं मानवविज्ञानियों ने जनजातियों और स्थानीय संस्कृति के अध्ययन पर जोर दिया। इसके विपरीत सिन्हा ने नगरों के भी मानववैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता पर जोर दिया। 1970 में उन्होंने कलकत्ता नगर से संबंधित आंकड़े और जानकारियां जुटाने के मकसद से “**Social and Cultural Profile of the City of Calcutta**” सेमिनार आयोजित किया। वर्ष 1972 में इसे **Cultural profile of Calcutta** नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। इस अध्ययन से निम्न परिणाम सामने आये:

- कलकत्ता की नगरीय आबादी में विभिन्न भाषाएं, बोलियां बोलने वाले, अलग-अलग धार्मिक समूहों, जातियों आदि से जुड़े लोग रहते हैं, हालांकि, ये सभी समूह एक-दूसरे के साथ नहीं रहते। इन समूहों के भीतर रूढ़ियों के चलते वे अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक सीमाएं निर्धारित करके रखते हैं।
- कलकत्ता की बस्तियां बेहद उपेक्षित हैं और वहां रहने वाले लोग निर्धन, बदतर हालात में जीवन जीते हैं
- आबादी का उच्च स्तर यानी व्यापारिक वर्ग आसपास के समाज और अन्य लोगों से सामान्य तौर पर अलग रहता है
- अध्ययन में कलकत्ता के भद्रलोक (बुद्धिजीवियों) के अध्ययन का भी प्रयास किया गया, जिनका झुकाव मार्क्सवाद की ओर था
- अध्ययन में कलाकारों और बुद्धिजीवियों, संकीर्ण दायरे वाली सामाजिक पहचानों, भाषाई और धार्मिक समूहों, शहरी मध्य वर्ग, ग्रामीण परिवेश, समृद्ध धनाढ्य वर्ग और उपेक्षित निर्धन लोगों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया

परियोजना के जरिये भारत के कमजोर वर्गों की सामाजिक-राजनीतिक संस्थानों तक पहुंच, जमीनों पर नियंत्रण के अध्ययन, उनकी कमजोरियों, परेशानियों, सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक बाधाओं तथा उनके उपेक्षित रहने के कारणों की पहचान करने का प्रयास किया गया। अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि जाति अनुक्रम में 176 कमजोर समुदाय हैं, जो सामाजिक स्तर के लिहाज से निम्न या मध्यम स्तर पर पाये जाते हैं। यह भी कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था का प्रभाव है। जाति और वर्ग भारतीय समाज में एक से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होते हैं। अध्ययन से साफ हुआ कि कमजोर समुदायों के पास अपनी जमीनें नहीं होतीं, हालांकि कर्नाटक, केरल, त्रिपुरा और बिहार में उनके पास सीमित मात्रा में जमीन रहती है। स्वतंत्रता के बाद इन समुदायों की आजीविका और व्यवसाय में भी खास बदलाव दर्ज नहीं किये गये। वे अब भी खेतों में श्रमिकों के तौर पर काम करते हैं। अब भी देश में 40 कमजोर समुदाय मौजूद हैं (Sinha 1993).

11.8: निष्कर्ष (Conclusion)

सिन्हा (1980:02) के अनुसार सभ्यता का अर्थ शहरी केन्द्रों के पदानुक्रम के अस्तित्व से है, जहां विचार और भौतिक संस्कृति का समावेश हो। ये केन्द्र देशभर में सांस्कृतिक संचार के लिये अन्य केन्द्रों और ग्रामीण समुदायों से संबद्ध रहते हैं। यह संबद्धता जितनी अधिक होगी, शहरी केन्द्रों में एकीकरण की उतनी ही ज्यादा संभावनाएं रहेंगी। जनजातियों के मामले में यह नेटवर्क बेहद कमजोर रहा, जिसके चलते वे अलग-थलग और उपेक्षित रहे। सिन्हा मानते थे कि भारतीय समाज और संस्कृति के समग्र व्यवस्थित अध्ययन से ही भारतीय सभ्यता को स्पष्ट किया जा सकता है। वह भारतीय समाज और भारतीय सभ्यता के अलग-अलग अध्ययन के पक्षधर नहीं थे। सिन्हा के अनुसार जनजातियों पर ही अध्ययन केन्द्रित करने का अर्थ भारतीय समाज के अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं को अनदेखा करना था। उन्होंने सभ्यता के पारंपरिक केन्द्र के अध्ययन पर जोर दिया, जिसके लिये समग्र अध्ययन का रास्ता

उन्होंने सुझाया, जिसमें जनजाति, जाति या काश्तकार पर अलग-अलग अध्ययन के बजाय सबको एकसाथ रखकर अध्ययन किया जाये। जैसाकि हम पिछली इकाई में जान चुके हैं कि निर्मल कुमार बोस ने भी भारतीय समाज और संस्कृति के अध्ययन के लिये इसी तरह के दृष्टिकोण का इस्तेमाल किया। उन्होंने भारत में समग्र संस्कृति और सभ्यता में जाति व्यवस्था और जनजातियों को स्पष्ट किया।

11.9: सन्दर्भ (References)

- Sinha, S. (1958), "Tribal Cultures of Peninsular India as a Dimension of Little Tradition in the Study of Indian Civilization: A Preliminary Statement", *The Journal of American Folklore*, Vol. 71, No. 281, Traditional India: Structure and Change, 504-518.
- Sinha, S. (1965), "Tribe-Caste and Tribe-Peasant Continua in Central India", *Man in India*, Vol. 45 (1): 57-83.
- Saraswati, B. (1991), Anthropology of Surajit Chandra Sinha, *Tribal Thought and Culture: Essays in Honour of Surajit Chandra Sinha*, Concept Publishing Company.
- Nagla, B.K. (2013), Surajit Sinha, *Indian Sociological Thought*, New Delhi: Rawat Publications.
- Bose, N.K. 1941. "The Hindu Method of Tribal Absorption," *Science and Culture* , 7: 188- 94.
- Chaudhury, S (2007), "Civilizational Approach to the Study of Indian Society: N. K. Bose and Surajit Sinha", *The Eastern Anthropologist*, Vol.60, No.3-4: 501-508.
- Saraswati, B (1991), Anthropology of Surajit Chandra Sinha, *Tribal Thought and Culture: Essays in Honour of Surajit Chandra Sinha*, Concept Publishing Company.
- Sinha, S. (1958), "Tribal Cultures of Peninsular India as a Dimension of Little Tradition in the Study of Indian Civilization: A Preliminary Statement", *The Journal of American Folklore*, Vol. 71, No. 281, Traditional India: Structure and Change, 504-518.
- Sinha, S. (1965), "Tribe-Caste and Tribe-Peasant Continua in Central India", *Man in India*, Vol. 45 (1): 57-83.
- Sinha, S. (1967), "Caste in India: Its essential pattern of socio-cultural integration" in De Reuck, A., and Knight, J. (ed.) *Caste and Race: Comparative Approaches*, A Ciba Foundation Volume, London: J & A. Churchill Ltd, 92-105.
- Sinha, S. (1968), "Urgent Problems for Research in Social and Cultural Anthropology in India: Perspectives and Suggestions", *Sociological Bulletin*, Vol. 17, No. 2.
- Sinha, S. (1970), "Scope for Urban Anthropology and the City of Calcutta, Presidential Address at the Fourteenth Annual General Meeting of the Indian Anthropological Society.

- Sinha, S. (1971), "Is There an Indian Tradition in Social/ Cultural Anthropology: Introspect and Prospects", *Journal of Indian Anthropological Society*, Vol. 6: 1-14.
- Sinha, S. (1972), *Cultural profile of Calcutta*, Indian Anthropological Society.
- Sinha, S. (1980), "India: A Western Apprentice" in Diamond, S. (ed.) *Anthropology: Ancestors and Heirs*, Mouton Publishers.
- Sinha, S. (1980), "Tribes and Indian Civilisation- A Perspective", *Man in India*, Vol. 60, 1-15.
- Sinha, S. (1997), *Indian Civilization: Structure and Change*, Nirmal Kumar Bose Memorial Lecture, Indira Gandhi National Center for Arts, New Delhi.
- Sinha, S. (1993), *Anthropology of Weaker Sections*, Anthropological Survey of India, New Delhi: Concept Publishing Company.

इकाई-12
प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी
(Prof. Lalita Prasad Vidharithi)

इकाई की रूपरेखा-

- 12.1 उद्देश्य
- 12.2 प्रस्तावना
- 12.3 ललिता प्रसाद विद्यार्थी का जीवन संक्षेप
 - 12.3.1 ललिता प्रसाद विद्यार्थी के पवित्र परिसर की अवधारणा
 - 12.3.2 ललिता प्रसाद विद्यार्थी द्वारा जनजाति की अवधारणा
- 12.4 ललिता प्रसाद विद्यार्थी के शोध कार्यों का संक्षेप वर्णन
 - 12.4.1 औद्योगिकरण के प्रभाव का अध्ययन
 - 12.4.2 व्यावहारिक एवं क्रियात्मक अध्ययन एवं अनुसंधान
- 12.5 सारांश
- 12.6 शब्दावली
- 12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 12.8 सन्दर्भ ग्रंथ की सूची
- 12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 12.10 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 उद्देश्य: (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप इन बातों व तथ्यों एवं अवधारणाओं को समझ पायेंगे-

- आप समझ पायेंगे कि ललिता प्रसाद विद्यार्थी का जीवन संक्षेप।
- आप समझ पायेंगे कि मानव विज्ञान में उनके क्या योगदान हैं?
- आप समझ पायेंगे कि ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने गाँव के अध्ययन को किस प्रकार समझा है?
- आप समझ पायेंगे कि ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने पवित्र परिसर और तीर्थ स्थल की अवधारणा क्या है?
- आप समझ पायेंगे कि अनुसूचित जनजाति के अध्ययन को समझना।
- आप समझ पायेंगे कि क्षेत्रीय कार्य परम्परा क्या है?
- आप समझ पायेंगे कि नेतृत्व अध्ययन क्या है?
- आप समझ पायेंगे कि शहरी औद्योगिक मानव विज्ञान क्या है?

12.2 प्रस्तावना: (Introduction)

ललिता प्रसाद विद्यार्थी का मानवविज्ञानी के रूप में समाजशास्त्र के क्षेत्र में विशेष योगदान है। ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने भारतीय मानव विज्ञान को सम्मान और गौरवपूर्ण संयोग दिया है। इन्होंने विभिन्न पहलुओं में उल्लेखनीय योगदान दिया है। वह गाँव के अध्ययन, पवित्र परिसर और तीर्थ स्थलों, क्रिया मानव विज्ञान, अनुसूचित जातियों, लोकगीतों के अनुसंधान, शहरी औद्योगिक मानव विज्ञान, नेतृत्व अध्ययन, क्षेत्रीय कार्य परम्परा, मानव विज्ञान सिद्धांत के अध्ययन से संबंधित थे। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक कल्याण और जनजातियों के अध्ययन के लिये कड़ी मेहनत की थी।

ललिता प्रसाद विद्यार्थी का योगदान समाजशास्त्र में एक मानव विज्ञानी के रूप में अधिक है। इन्होंने इस प्रकार से कार्य किया है कि जिस तरह से अन्य समाजशास्त्री नहीं कर पाये थे। एल०पी० विद्यार्थी का कार्य समाज के निम्न स्तर के रूप में विख्यात है जो अन्य रूपों में नहीं है।

12.3 ललिता प्रसाद विद्यार्थी का जीवन संक्षेप: (Biography of Lalita Prasad Vidharithi)

ललिता प्रसाद विद्यार्थी भारत के एक गतिशील मानवविज्ञानी थे, जिन्होंने भारत और भारतीय मानव विज्ञान को सम्मान और गौरव दिया है। इनका जन्म 1931 में बिहार के पटना के पास बहु जाति गाँव में हुआ था। गाँव में मध्य जाति में जन्म लेने के कारण बचपन से ही उन्होंने जाति व्यवहार में असुविधा और प्रतिबंधों को देखा। 1946 में मैट्रिक पास की थी। 1950 में एल०पी० विद्यार्थी ने पटना कॉलेज से बी०ए० स्नातक (ऑनर्स) से पास की। 1951 में उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से भूगोल में एम०ए० (प्रथम श्रेणी) में किया। 1953 में लखनऊ विश्वविद्यालय से मानव विज्ञान में एम०ए० किया। उन्होंने 1953 से 1956 तक संस्थापक व्याख्याता के रूप में कार्य किया। 1958 में इस विश्वविद्यालय से अपनी डॉक्टरेट की डिग्री प्राप्त की।

1968 में उन्हें प्रोफेसर पद के लिए पदोन्नत किया गया और विभाग के प्रमुख के रूप में कार्य किया। वह न केवल एक सफल शिक्षक थे, बल्कि एक समर्पित वैज्ञानिक भी थे। तीसरी विश्व मानव विज्ञान की उनका अवधारणा पश्चिमी और औपनिवेशिक प्रतिमानों की मौजूदा विरासत से बिल्कुल अलग ही थी। उन्हें दक्षिण एशिया में एक्शन एण्ड एप्लाइड मानव विज्ञान के संस्थापक पिता कहा जा सकता है। 1950 दशक के मध्य में उन्होंने रॉची विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान विभाग में एक एक्शन रिसर्च यूनिट की स्थापना की और चोतोनगपुर क्षेत्र के शोध किया। डॉ० एन० मजूमदार के छात्र के रूप में विद्यार्थी जी ने मजूमदार की विचारधारा का पालन किया और प्रयोगात्मक स्थितियों में प्रयोग किया।

एल०पी० विद्यार्थी ने डी०एन० मजूमदार के प्रभाव के अलावा अमेरिकी विद्वानों विशेष रूप से सोल से बौद्धिक उत्तेजना मिली। प्रो० एल०पी० विद्यार्थी के पास एक बड़ी दृष्टि और महान मिशन था। वह कृतज्ञता और विचारशीलता का एक आदमी था। उन्हें भारत और विदेशों में 1950 से 1983 के बीच कई फ़ैलोशिप और पुरस्कार प्राप्त हुए। उनके पेशेवर कार्य में उन्हें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय महत्व के कई प्रतिष्ठित निकायों के साथ बांध दिया। 1973 से 1978 तक लगातार मानव विज्ञान और एथनोलॉजिकल साइंसेज के अध्यक्ष चुने गए। इसके अलावा वह अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष रहे एवं एल०पी० विद्यार्थी का विभिन्न पहलुओं में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

वह गाँव के अध्ययन, पवित्र परिसर और तीर्थ स्थल, क्रिया मानव विज्ञान, अनुसूचित जनजाति, लोकगीत, अनुसंधान, शहरी औद्योगिक, मानव विज्ञान नेतृत्व अध्ययन, क्षेत्रीय कार्य परंपरा, मानव विज्ञान सिद्धांतों का अध्ययन में चिंतित रहे। प्रो० एल०पी० विद्यार्थी ने सामाजिक आर्थिक कल्याण और जनजातियों के उन्नयन के लिए कड़ी मेहनत की। काम के आयाम में इतने व्यापक रहे कि उन्होंने खुद से 21 किताबें लिखीं। नौ किताबों में सह लेख लिखे हैं। उनके महत्वपूर्ण कार्य— पवित्र परिसर का हिन्दू गया, द मालेर : नेचर मैन रिपिक्ट बिहार के हिल जनजातियों में परिसर, भारत में एप्लाइड मानव विज्ञान, भारत में संघर्ष और तनाव का मानव विज्ञान, भारतीय जनजातीय संस्कृति, विश्व मानव विज्ञान में सम्मान, उनके बहुआयामी शैक्षणिक काम उन्हें दुनिया के शीर्ष मानव विज्ञानी के रूप में स्थापित किया है।

12.3.1 ललिता प्रसाद विद्यार्थी के पवित्र परिसर की अवधारणा: (The concept of holy campus of Lalita Prasad Vidharithi)

पवित्र परिसर की अवधारणा एल०पी० विद्यार्थी ने अपनी पुस्तक द सेक्रेड कॉम्प्लैक्स ऑफ हिंदू गया में दी थी। उन्होंने पवित्र और महान पारंपरिक हिंदू शहर गया का अध्ययन किया और विस्तार से तीन विश्लेषणात्मक अवधारणाओं का वर्णन किया। ये एक पवित्र भूगोल है, पवित्र का एक सेट है, प्रदर्शन और पवित्र विशेषज्ञों का एक समूह। इन तीन अवधारणाओं को सामूहिक रूप से पवित्र परिसर कहा जाता है। यह मान और छोटी परंपरा के बीच निरंतरता, समझौता और संयोजन का एक स्तर दर्शाता है। जीवन की अपनी विशिष्ट शैली के साथ एक जगह के पवित्र विशेषज्ञ भारत की ग्रामीण आबादी के लिए महान परंपरा के कुछ तत्वों को प्रसारित करते हैं। एल०पी० विद्यार्थी ने हिंदू सभ्यता को संदर्भित किया है और संस्कृति के स्थान पर वह पवित्र भूगोल की विश्लेषणात्मक अवधारणाओं को विकसित करने के लिए पवित्र शब्द को लागू करता है। पवित्र प्रदर्शन और पवित्र विशेषज्ञ। उन्होंने पवित्र शब्द को सभी पवित्र तत्वों पर विचार करने वाले एकीकृत पैटर्न को इंगित करने के लिए प्रस्तुत किया है। पवित्र परिसर संशोधन और परिवर्तन की प्रक्रिया में रहा है। पवित्र परिसर ने विभिन्न प्रकार के लोगों और

परंपराओं, जातियों, संप्रदायों, वर्ग और स्थिति के लिए एक मीटिंग जगह प्रदान की और एक समय में भी भारतीय एकता की भावना को पोषित किया। राष्ट्रवाद की कमी थी। पवित्र परिसर को माध्यमिक शहरीकरण के दौर से गुजरना पड़ा।

एक अन्य प्रमुख अवधारणा जिसे विद्यार्थी मानव विज्ञान क्षेत्र में लाया गया था। वह पवित्र परिसर का था। हिंदू गया में उनके काम द सेक्रेड कॉम्प्लैक्स को मानव विज्ञान के क्षेत्र में सबसे बड़ा योगदान माना जाता है। गया हिंदू तीर्थ यात्रा का एक पवित्र शहर है। उन्होंने गया को "पवित्र भूगोल", "पवित्र प्रदर्शन" और "पवित्र विशेषज्ञों" के एक समूह के संदर्भ में वर्णित किया। इन तीन अवधारणाओं में "पवित्र परिसर" शामिल है, जो अनिवार्य रूप से चरित्र में 'महान परंपरा' है। यह महान परंपरा वह है जो हिंदू धर्म को दर्शाती है और भारत के विविध लोगों को एकजुट करती है। हिंदू गया के विद्यार्थी के अध्ययन ने दर्शाया कि पवित्र परिसर हिंदू सभ्यता की परंपराओं के बीच निरंतरता और समझौता स्थापित करता है और बनाए रखता है।

12.3.2 ललिता प्रसाद विद्यार्थी की जनजाति की अवधारणा: (Concept of Tribes of Lalita Prasad Vidharithi)

जनजातीय एवं ग्रामीण धर्म की व्याख्या एवं विश्लेषण हेतु एल०पी० विद्यार्थी ने प्रकृति मानव ईश्वर संकुल की अवधारणा का विकास किया है। उन्होंने प्रकृति मानव ईश्वर संकुल की अवधारणा का विकास एवं परीक्षण झारखण्ड राज्य के समाज परगना में निवास करने सीरिया पद्धति के ऊपर किया है। एल०पी० विद्यार्थी का मानना था कि भारत में सामाजिक वैज्ञानिकों को वेदों, उपनिषद, स्मरिटिस, पुराण और महान महाकाव्य जैसे ग्रंथों का पता लगाना चाहिए, अगर वे भारत की सामाजिक वास्तविकताओं में संवेदनशील अंतर्दृष्टि प्राप्त कर रहे हैं। उन्होंने पारंपरिक धर्म की प्रशंसा के लिए वकालत की जो उन पश्चिमी विद्वानों द्वारा नहीं रोका जाए तो विकास पर धर्म के नकारात्मक प्रभाव का प्रचार करते हैं।

एल०पी० विद्यार्थी ने घोषित किया कि सामाजिक वैज्ञानिकों को श्री अरबिंदो, रवींद्र नाथ टैगोर, स्वामी विवेकानंद, राजा राम मोहन राय आदि जैसे भारतीय सामाजिक विचारकों को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए, जिन्होंने "आध्यात्मिक मानवता, सार्वभौमिक प्रेम और अहिंसा" के संदर्भ में बात की थी। उन्होंने जनजातीय लोगों के बारे में कहा— "यह भारतीय मानवविज्ञानों के लिए उन्हें गंभीरता से लेने और पश्चिमी विद्वानों के विशाल लेखों से दूर नहीं ले जाने के लिए है, जिन्होंने उन्हें 'एनिमिस्ट' और 'हिंदुओं के बहुत अलग रूप' कहा।"

1951 में विद्यार्थी ने मालेर जनजाति के बारे में सीखा, जो उनके अनुसार भारत में महान मानव विज्ञान संबंधी रुचि के कुछ आदिम जनजातियों में से एक था। जब उन्हें अलग मालर्स की अत्यधिक प्राथमिकता के बारे में पता चला, तो उन्होंने उन्हें अपनी वैज्ञानिक जांच का उद्देश्य बनाने का फैसला किया। विद्यार्थी ने समझाया कि जंगलों के पारिस्थितिक आधार और स्लैश-एंड-बर्न की खेती ने मलेर जनजाति के सामाजिक-आर्थिक जीवन को कैसे आकार दिया। उन्होंने मनुष्य के साथ संबंध में मनुष्य का अध्ययन किया। आखिरकार, उन्होंने पवित्र भूगोल, पवित्र प्रदर्शनों के ढांचे में चार प्रकार के मालर आत्माओं को प्रस्तुत किया, (गोसाइयन- उदार आत्माओं, जिवे उरक्कय- पूर्वजों, अल्ची- बुरी आत्माओं और चेरगनी- चुड़ैल या जादूगर की आध्यात्मिक शक्ति) पवित्र विशेषज्ञ प्रकृति, मनुष्य और आत्मा आवश्यकता का सहभागिता। यह विद्यालय द्वारा प्रस्तावित नेचर-मैन-स्पिरिट कॉम्प्लैक्स की प्रसिद्ध अवधारणा का आधार था।

12.4 ललिता प्रसाद विद्यार्थी के शोध कार्यों का संक्षेप: (Short description of Lalita Prasad's Vidharithi research work)

एल०पी० विद्यार्थी ने विभिन्न पहलुओं में उल्लेखनीय योगदान दिया। वह गाँव के अध्ययन, पवित्र परिसर और तीर्थ स्थलों, लागू और क्रिया मानव विज्ञान, अनुसूचित जातियों, लोकगीत अनुसंधान, शहरी-औद्योगिक मानव विज्ञान, नेतृत्व अध्ययन, क्षेत्रीय कार्य परंपरा, मानव विज्ञान सिद्धांतों के अध्ययन से चिंतित थे। उन्होंने सामाजिक-आर्थिक कल्याण और जनजातियों के उन्नयन के लिए कड़ी मेहनत की।

12.4.1 औद्योगिकरण के प्रभाव का अध्ययन: (Study of Industrialization Effect)

भारतीय मानवशास्त्र के अन्तर्गत औद्योगिकरण के प्रभावों का अध्ययन भी आरम्भ किया गया। एल०पी० विद्यार्थी की पुस्तक "इंप्लिकेशन ऑफ इंडस्ट्रीलायजेशन इन इण्डिया (1970)" झारखण्ड राज्य की राँची के हाटिया क्षेत्र के औद्योगिक संकुल के प्रभाव का विवरण प्रस्तुत करती है। इन्होंने इसमें यह दर्शाने का प्रयास किया है कि औद्योगिक संकुल से जनजाति पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ है। ग्राम की संरचना नष्ट हो गयी है। विस्थापन एवं पुर्नव्यास की समस्या सामने आयी है। ग्रामीण संस्थाओं में विलोपन की समस्या, ऋणगस्तता की समस्या, मनोवैज्ञानिक कुंठा की समस्या, दैहिक शोषण की समस्या का सामना करना पड़ रहा है, इत्यादि बातें प्रकाश में लायी गयी हैं।

12.4.2 व्यावहारिक एवं क्रियात्मक अध्ययन एवं अनुसंधान: (Applied and Action Study or Research)

भारतीय मानवशास्त्र में व्यावहारिक एवं क्रियात्मक मानवशास्त्रीय अध्ययन की शुरुआत की गयी। विद्यार्थी की पुस्तक एप्लाइड एंथ्रोपोलॉजी इन इण्डिया (1968) ने अपने समय के प्रसिद्ध मानव शास्त्रियों द्वारा व्यावहारिक मानवशास्त्रीय अनुसंधान एवं अध्ययन पर लिखे शोध पत्रों का संकलन है। यह पुस्तक चार भागों में विभाजित है। इसमें कुल 36 शोध पत्रों का संपादन पुस्तक के रूप में किया गया। पहले खण्ड में व्यावहारिक मानवशास्त्र से संबंधित, सिद्धांत, अवधारणा तथा कार्य प्रणालीय पहलुओं को प्रकाश में लाया गया है। दूसरे भाग में शोध पत्र, जनजातीय कल्याण योजनाओं से सम्बन्धित है। तीसरे भाग में जनजाति अध्ययनों के वैयक्तिक अध्ययन है। चौथा भाग शारीरिक मानवशास्त्र की समस्या एवं व्यावहारिक पहलुओं पर प्रकाश डालता है।

12.5 सारांश: (Summary)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप यह जान चुके हैं कि प्रो० एल०पी० विद्यार्थी ने अपने शोध कार्यों में किन-किन बहुआयामी क्षेत्रों में कार्य किया है। तीसरे विश्व मानव विज्ञान की अवधारणा पश्चिमी और औपनिवेशिक प्रतिमानों की मौजूदा विरासत से अलग थी। उनके अति महत्वपूर्ण कार्यों में पवित्र परिसर का हिंदू गया, द मालेर बिहार के हिल जनजातियों में परिसर, जनजातीय बिहार के सांस्कृतिक कंटूर, भारत में एप्लाइड मानव विज्ञान, भारतीय जनजाति संस्कृति आदि के बारे में प्रो० एल०पी० विद्यार्थी ने अपनी बातें कहीं हैं। इन्होंने मानव विज्ञान का उदय भारत में आदि पर कार्य किया है। इस इकाई के माध्यम से जान सकते हैं। प्रो० एल०पी० विद्यार्थी का मानव विज्ञान के क्षेत्र में अति महत्वपूर्ण योगदान है, जिसे मानव विज्ञानी भूल नहीं सकते हैं। उनका यह कार्य बहुआयामी क्षेत्र में था। इन बातों को आप इस इकाई का अध्ययन करने पर जान सकते हैं।

12.6 शब्दावली: (Glossary)

1. जनजाति : एक जनजाति परिवार अथवा परिवार समूहों का एक ऐसा संगठन संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम विशिष्ट भाषा, समाज व्यवस्था, संस्कृति और उत्पत्ति सम्बन्धी एक पशु कला होती है, जो एक निश्चित भूगोलिक क्षेत्र में निवास करती है।

एक जनजाति के लोग किसी एक पूर्वज की संतान के रूप में अपने आपको पारस्परिक संबंधी मानते हैं।

2. पवित्र परिसर : पवित्र परिसर से तात्पर्य महान परम्परा से है, जो हिन्दू धर्म को दर्शाती है और भारत के विविध लोगों को दर्शाती है।
3. क्रियामुखी शोध : व्यावहारिक शोध के ऐसे विशिष्ट रूप को क्रियात्मक/ क्रियामुखी शोध कहते हैं, जिसका उद्देश्य वांछित सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रभावकारी साधनों की अन्वेषणा करना है।
4. संघर्ष : जब दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह सीमित साधनों पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए शांतिपूर्ण तरीके अपनाते हैं तब वह स्थिति प्रतिस्पर्धा व जब इन सीमित उद्देश्यों एवं हितों की पूर्ति के लिये बल प्रयोग किया जाता है, संघर्ष कहलाता है।
5. नेतृत्व : नेता शब्द कुछ विशिष्ट विशेषताओं से सम्पन्न व्यक्ति विशेष को इंगित करता है, जबकि नेतृत्व की अवधारणा व्यवहार प्रतिमान का संकेत देती है।

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर: (Answer Questions of Practise)

प्र०1 ललिता प्रसाद विद्यार्थी का जन्म किस राज्य में हुआ?

- | | |
|------------------|-----------------|
| (क) उत्तर प्रदेश | (ख) मध्य प्रदेश |
| (ग) बिहार | (घ) गुजरात |

उत्तर— (ग)

प्र०2 ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने सन् 1950 में स्नातक की परीक्षा किस महाविद्यालय से उत्तीर्ण की?

- | | |
|--------------------------|--------------------------|
| (क) मेरठ कॉलेज, मेरठ | (ख) पटना कॉलेज |
| (ग) एन०ए०एस० कॉलेज, मेरठ | (घ) डिगम्बर कॉलेज, डिबाई |

उत्तर— (ख)

प्र०3 ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने सन् 1951 में स्नातकोत्तर की परीक्षा किस विषय से उत्तीर्ण की?

- | | |
|-----------------|----------------------|
| (क) इतिहास विषय | (ख) समाजशास्त्र विषय |
| (ग) भूगोल विषय | (घ) हिन्दी विषय |

उत्तर— (ग)

प्र०4 ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने मानव विज्ञान में एम०ए० की परीक्षा किस विश्वविद्यालय से पास की?

- | | |
|-------------------------|--------------------------------------|
| (क) लखनऊ विश्वविद्यालय | (ख) चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ |
| (ग) बरेली विश्वविद्यालय | (घ) इलाहाबाद विश्वविद्यालय |

उत्तर— (क)

प्र०5 तृतीय विश्व मानव विज्ञान की अवधारणा किसने दी?

- | | |
|--------------|-----------------------|
| (क) अरविन्दो | (ख) एल०पी० विद्यार्थी |
| (ग) मनु | (घ) ए०के० सरन |

उत्तर— (ख)

प्र०6 दक्षिण एशिया में एक्शन एण्ड एप्लाइड मानव विज्ञान में संस्थापक पिता कौन थे?

- | | |
|---------------|-----------------------|
| (क) अरविन्दो | (ख) श्रीनिवास |
| (ग) प्रो० सरन | (घ) एल०पी० विद्यार्थी |

उत्तर— (घ)

प्र०7 ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने एक एक्शन रिसर्च यूनिट की स्थापना किस विश्वविद्यालय में की है?

- | | |
|------------------------|--------------------------------|
| (क) रॉची विश्वविद्यालय | (ख) चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय |
| (ग) लखनऊ विश्वविद्यालय | (घ) इलाहाबाद विश्वविद्यालय |

उत्तर— (क)

प्र०8 पवित्र परिसर की अवधारणा किसकी है?

- | | |
|-----------------------|---------------|
| (क) एल०पी० विद्यार्थी | (ख) श्रीनिवास |
|-----------------------|---------------|

(ग) प्रो० ए०के० सरन (घ) मजूमदार

उत्तर— (क)

प्र०9 लोकगीत अनुसंधान का शोध क्षेत्र विषय है?

(क) देसाई (ख) सरन
(ग) मजूमदार (घ) विद्यार्थी

उत्तर— (घ)

प्र०10 शहरी औद्योगिक मानव विज्ञान पर कार्य किसने किया है?

(क) सरन (ख) दुबे
(ग) विद्यार्थी (घ) घुरिये

उत्तर— (ग)

प्र०11 क्षेत्रीय कार्य परम्परा की अवधारणा किसकी है?

(क) एस०सी० दुबे (ख) एल०पी० विद्यार्थी
(ग) मजूमदार (घ) देसाई

उत्तर— (ख)

प्र०12 क्रिया मानव विज्ञान का सिद्धांत किसका है?

(क) श्रीनिवास (ख) घुरिये
(ग) देसाई (घ) विद्यार्थी

उत्तर— (घ)

प्र०13 ललिता प्रसाद विद्यार्थी की मृत्यु कब हुई?

(क) 1989 (ख) 1986
(ग) 1985 (घ) 1987

उत्तर— (ग)

12.8 संदर्भ ग्रंथ की सूची: (References)

1. प्रो० एल०पी० विद्यार्थी (1986), "जनजातीय बिहार के जैव-सांस्कृति प्रोफाइल" ।
2. प्रो० एल०पी० विद्यार्थी (2000), "भारत की जनजातीय संस्कृति" ।
3. प्रो० एल०पी० विद्यार्थी (1979), "काशी का पवित्र परिसर", भारतीय सभ्यता का एक सूक्ष्मदर्शी अध्ययन ।

12.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री: (Useful Contain)

1. इंटरनेट से संकलित सामग्री को ।

12.10 निबंधात्मक प्रश्न: (Essay Types Questions)

- प्र०1 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी के संक्षेप जीवन परिचय से आप क्या समझते हैं?
- प्र०2 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी की पवित्र परिसर की अवधारणा से आप क्या समझते हो?
- प्र०3 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी की जनजाति अध्ययनों से क्या तात्पर्य है?
- प्र०4 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी के शोध कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
- प्र०5 आप उनके अध्ययन से औद्योगिकरण के प्रभाव से क्या समझते हैं?
- प्र०6 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी के क्रियात्मक शोध/व्यावहारिक अनुसंधान पर प्रकाश डालो ।
- प्र०7 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी के क्रिया मानव विज्ञान से क्या तात्पर्य है?
- प्र०8 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी के शहरी औद्योगिक मानव विज्ञान से क्या तात्पर्य है?
- प्र०9 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी के "क्षेत्रीय कार्य परम्परा" का वर्णन करो ।
- प्र०10 प्रो० ललिता प्रसाद विद्यार्थी के मानव विज्ञान से क्या तात्पर्य है?

इकाई -13

डॉ. भीमराव अम्बेडकर

इकाई की रूपरेखा—

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
 - 13.1.1 जीवन परिचय
- 13.2 पद्धतिशास्त्र
 - 13.2.1 डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा
- 13.3 डॉ. अम्बेडकर का भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार
 - 13.3.1 वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर के विचार
 - 13.3.2 जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर विचार
 - 13.3.3 जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर तथा महात्मा गाँधी के विचार
 - 13.3.4 धर्मों के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर विचार
 - 13.3.5 बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर के विचार
- 13.4 डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक न्याय की अवधारणा
- 13.5 डॉ. अम्बेडकर का दलित उद्धार
- 13.6 निष्कर्ष
- 13.7 भावी अध्ययन
- 13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
- 13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं:—

- 1—डॉ. भीमराव अम्बेडकर के जीवन परिचय को जानना।
- 2—डॉ. अम्बेडकर के पद्धतिशास्त्र को जानना।
- 3—डॉ. अम्बेडकर का विचारों को जानना।
- 4—भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में अम्बेडकर के विचार के जानना।
- 5—भारतीय जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में अम्बेडकर के दृष्टिकोण को समझना।
- 6—धर्म के सम्बन्ध में अम्बेडकर के विचार एवं दृष्टिकोण को समझना।
- 7—बौद्ध धर्म के प्रति अम्बेडकर के लगाव व इसकी वैज्ञानिकता को समझना।
- 8—डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक न्याय की आवधारणा को समझना।
- 9—डॉ. अम्बेडकर द्वारा दलितों के उद्धार के लिए किये गए प्रयास को समझना।

13.1 प्रस्तावना

परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था वर्ण तथा जाति पर आधारित है। वर्ण व्यवस्था प्रारम्भ में कर्म पर आधारित था। जिसमें कोई भेदभाव छुआ-छूत नहीं था। व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर किसी भी वर्ण का सदस्य हो सकता था। लेकिन कालान्तर में यह जन्म पर आधारित हो गया था। एवं यह व्यवस्था धीरे-धीरे जाति व्यवस्था में बदल गई। जाति व्यवस्था भारतीय समाज में वंशानुगत व्यवसाय, अंतःविवाह, खान-पान सम्बन्धी निषेध, शुद्धता एवं प्रदूषण आदि समाहित हो गया। जिससे जाति व्यवस्था में कठोरता आ गई। भारत में ब्रिटिश शासन के आने से अंग्रेजों द्वारा नये-नये नियम कानून लाए गए जो मानवतावादी सिद्धान्त पर आधारित था। प्रत्येक मनुष्य का कानून के नजर में समान

बनाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार प्रदान किये गए। इन सबका ही परिणाम था कि भारत में कई समाज सुधार आंदोलन प्रारम्भ हुए। इन आंदोलनों में विशेष रूप से महिला एवं दलितों के उद्धार एवं समानता की बात की गई। शिक्षा, स्वतंत्रता, समानता जैसे मुद्दे आंदोलनों के प्रमुख विषय रहे। इन्हीं का परिणाम था कि डॉ. अम्बेडकर जैसे दलित व्यक्ति को ऊपर उठने का मौका मिला जो आगे चलकर न सिर्फ दलितों के मसीहा बने बल्कि स्वतंत्रता के पश्चात् संविधान निर्माण में अपना योगदान दिया। डॉ. अम्बेडकर के दलित उद्धार एवं भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जानने से पहले उनका जीवन परिचय जानने का प्रयास करेंगे।

13.1.1 जीवन परिचय

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म मध्य प्रदेश के इन्दौर जिले के महू नामक गाँव में 14 अप्रैल, 1891 में हुआ था। डॉ. अम्बेडकर के पिता का नाम रामजी सकपाल तथा माता का नाम भीमाबाई था। अम्बेडकर महार जाति से सम्बन्धित थे। महार मूलतः महाराष्ट्र की एक प्रमुख जाति है जो अछूत जाति से सम्बन्धित है। डॉ. अम्बेडकर के बचपन का नाम भीम सकपाल था। ये अपने माता पिता की चौदहवीं सन्तान थे। पाँच वर्ष की अवस्था में ही उनकी माता भीमाबाई का देहान्त हो गया। फलस्वरूप डॉ. अम्बेडकर का लालन-पालन उनकी चाची मीराबाई द्वारा किया गया। मीराबाई इन्हें प्यार से 'भीमा' नाम से पुकारती थी। अपनी चाची की प्रेरणा से अम्बेडकर ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्रारम्भ की और अनेक कठिनाईयों के बाद भी किसी न किसी रूप में अपना अध्ययन जारी रखा।

डॉ. अम्बेडकर की प्रारम्भिक शिक्षा महाराष्ट्र के सतारा जिले के माके प्राथमिक विद्यालय से प्रारम्भ हुई तत्पश्चात् वे पिता के साथ बम्बई आ गए एवं बम्बई में ही इनका ऐलिफिंस्टन हाईस्कूल में नामांकन/दाखिला कराया गया जहाँ से अम्बेडकर ने 1907 में हाईस्कूल की परीक्षा पास की, उन दिनों महार जाति के एक बालक के लिए मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करना बहुत बड़ी उपलब्धि थी। क्योंकि महार एक अछूत जाति थी एवं अछूतों के साथ विभिन्न प्रकार से भेद-भाव किये जाते थे। डॉ. अम्बेडकर प्रारम्भ से ही संस्कृत पढ़ना चाहते थे लेकिन संस्कृत के किसी भी शिक्षक ने उन्हें शिष्य के रूप में इस लिए स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे जन्म से अछूत थे। स्कूल में शिक्षक तथा सहपाठी उनके साथ छुआ-छूत एवं भेद-भाव करते थे। यहाँ तक कि शिक्षक डॉ. अम्बेडकर के कॉपी तथा कलम को भी नहीं छूते थे और न ही दूसरे बच्चों की तरह उन्हें शिक्षा देते थे। स्कूल में छुआ-छूत का यह आलम था कि उन्हें दूसरे बच्चों के साथ स्कूल में पानी भी नहीं पीने दिया जाता था जिसके कारण उन्हें पूरे दिन प्यासा रहना पड़ता था। हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होने से पहले ही उसका विवाह रामाबाई नाम की लड़की से सन् 1905 में हो गया। (1907 में सतारा में हाईस्कूल पास करने के बाद उन्होंने एलिफिंस्टन कॉलेज मुम्बई में प्रवेश लिया) 1907 में अम्बेडकर ने हाईस्कूल पास किया तो इसके लिए सर्वत्र उनकी प्रशंसा की गई। उस समय महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक के. ए. केलूसकर द्वारा एक सभा में अम्बेडकर का अभिवादन किया गया। केलूसकर ने ही एक मेधावी छात्र के रूप उनकी भेंट बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ से करवाई। महाराजा ने अम्बेडकर से प्रसन्न होकर उच्च शिक्षा हेतु उन्हें प्रतिमाह पच्चीस रुपये की छात्रवृत्ति देना स्वीकार किया। इस छात्रवृत्ति ने अम्बेडकर की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आत्म विश्वास को बढ़ाया। जिसके कारण अम्बेडकर कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करने में सफल रहे। इसी छात्रवृत्ति की वजह से वे सन् 1912 बम्बई के ऐलिफिंस्टन कॉलेज से स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण कर स्नातक की उपाधि प्राप्त की। स्नातक परीक्षा पास करने के बाद अम्बेडकर ने बड़ौदा राज्य की

सेना में लैफ्टिनेंट के पद पर नौकरी करने लगे लेकिन उनके पिता गम्भीर रूप से बीमार हो गए जिसके कारण वे नौकरी छोड़कर 1913 में बम्बई आ गए। बम्बई में ही उनके पिता रामजी सकपाल का देहान्त हो गया। पिता के देहान्त के बाद पुनः अम्बेडकर ने अपनी शिक्षा को आगे जारी रखा। इसके उच्चशिक्षा के लिए बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ द्वारा छात्रवृत्ति देना स्वीकार कर लिया। बड़ौदा के महाराजा स्वयं भी मानवतावादी एवं प्रगृतिशील विचार के व्यक्ति थे एवं अपने राज्य में सामाजिक समानता लाने के लिए अनेक प्रयत्न किये थे। उन्होंने अपने राज्य में दलितों की दशा में सुधार के लिए अनेक प्रयत्न किये। उन्हीं के द्वारा दी गई छात्रवृत्ति की सहायता से सन् 1913 ई. पू. में डॉ. अम्बेडकर अमेरिका के कोलंबिया विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और सन् 1915 ई. पू. कोलंबिया विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर को महार जाति का पहला व्यक्ति होने का गौरव जिन्होंने विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त किया। भारत के प्रथम अस्पृश्य व्यक्ति थे जिन्होंने इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त की। अपने एम.ए. की पढ़ाई के दौरान उन्हें विश्व प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सैलिंगमैन का सानिध्य प्राप्त हुआ जिसका अम्बेडकर के विचार पर व्यापक प्रभाव पड़ा। 1916 में अम्बेडकर ने कोलंबिया विश्वविद्यालय से पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की। इस उपाधि को लेने के बाद 1916 में वे लंदन चले गए। जहाँ उन्होंने कानून की पढ़ाई की। 1921 में अम्बेडकर ने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में प्रवेश लिया और कार्यशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया। यहाँ से अम्बेडकर ने मास्टर ऑफ साइंस और पीएच.डी. की उपाधि ली इनके पीएच.डी. का शोध विषय "द प्रॉब्लम ऑफ रूपी" था। यह उपाधि उन्हें लंदन विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई साथ ही उन्होंने यहाँ से 'बार एट लॉ' भी किया।

अपनी शिक्षा समाप्त कर डॉ. अम्बेडकर सन् 1923 में भारत लौट आए और बम्बई वकालत शुरू की तथा वकालत के साथ साथ दलितों के उत्थान के लिए कार्य भी प्रारम्भ किया। अपने बचपन में एक अस्पृश्य जाति से सम्बन्धित होने के कारण उन्होंने कई कठिनाईयों का सामना किया था। जब अम्बेडकर बड़ौदा राज्य की सेवा में सचिव के पद पर नियुक्त हुए तब उच्च पदस्थ अधिकारी होने के बावजूद उन्हें निम्न जाति होने कारण वहाँ उन्हें कई अपमान जनक स्थितियों का सामना करना पड़ा। उन्हें पद के अनुसार न तो सुविधाएँ प्राप्त हुई और न ही उनसे निम्न पदाधिकारी या कर्मचारी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। ऐसी अपमानजनक परिस्थितियों में अपने सम्मान के लिए बड़ौदा राज्य की नौकरी छोड़ दी। बाद में बम्बई के एक कॉलेज में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में नौकरी मिली। लेकिन यहाँ भी अम्बेडकर की दलित जाति के होने के कारण अस्पृश्य होना वेदना झेलनी पड़ी।

डॉ. अम्बेडकर के साथी प्राध्यापक भी उनके साथ छुआ-छूत की भावना रखते थे। कॉलेज छात्रों तथा प्राध्यापकों के इस अपमान जनक व्यवहार ने उन्हें चिंतन करने के लिए विवश किया कि दलितों का उद्धार कैसे किया जाए। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि यदि दलितों का उद्धार करना है तो उन्हें शिक्षित एवं जागरूक बनाया जाए। साथ ही संगठनात्मक क्षमता द्वारा दलितों को संगठित किया जाए। इसके लिए डॉ. अम्बेडकर ने सन् 1920 में दलितों की समस्याओं के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए 'मूक नायक' नामक एक समाचार पत्र का सम्पादन/प्रकाशन प्रारम्भ किया। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को शिक्षित करने के लिए 'बहिस्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की। बहिस्कृत हितकारिणी सभा के नेतृत्व में कई स्कूल खोले गए जिसमें दलितों को शिक्षा दी गई।

13.2 पद्धतिशास्त्र

पद्धतिशास्त्र का सम्बन्ध वास्तविक ज्ञान की रचना से नहीं होता बल्कि इसके अन्तर्गत उस कार्यप्रणाली का अध्ययन किया जाता है जिसके द्वारा प्रत्ययों और तार्किक ज्ञान तथा शोध विधियों का निर्माण होता है। सामाजिक विज्ञानों में इसका प्रयोग विज्ञान के दर्शन में व्यापक अर्थों में किया जाता है। अर्थात् सामाजिक वैज्ञानिक और अन्य अनुसंधानकर्ता किस प्रकार अपने अनुसंधानक को प्रारम्भ करता है किस प्रकार के गवेषणा करते हैं। किस प्रकार साक्ष्यों का मूल्यांकन करते हैं और क्या गलत है आदि। इस इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के अध्ययन के लिए किस पद्धतिशास्त्र का उपयोग किया तथा दलितों के सम्बन्ध उनका क्या विचार था।

डॉ. अम्बेडकर ने अपने पद्धतिशास्त्र में दलितों से सम्बन्धित तथ्य/आँकड़े एकत्रित करने के लिए व्यक्तिगत अध्ययन/एकल अध्ययन का उपयोग करते हैं। व्यक्तिगत अध्ययन एक व्यक्ति, एक संस्था, एक परिवार, एक समुदाय, एक घटना, एक व्यवस्था या एक सम्पूर्ण संस्कृति हो सकता है। व्यक्तिगत अध्ययन तथ्य संकलन की एक प्रविधि होने की अपेक्षा अध्ययन विश्लेषण का एक उपागम है। एक शोध-प्रकल्प, या एक व्यूह रचना है जो अध्ययन के किसी एक इकाई को उसकी सन्नगता में अध्ययन करने पर बल देता है। डॉ. अम्बेडकर अपने अध्ययन में 1937 और 1947 के चुनावों का अध्ययन करते हैं। इन चुनावों में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों का अध्ययन करते हैं और अपने अध्ययन को मूल बिन्दू तक पहुँचाने के लिए डॉ. अम्बेडकर ने वैयक्तिक अध्ययन पद्धति का उपयोग किया है। डॉ. अम्बेडकर का ऐसा भी अध्ययन है जिसमें उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों एवं पुरातत्वशास्त्र का उपयोग किया है। डॉ. अम्बेडकर ने अपने अध्ययन 'हू वॉज द शुद्राज' में प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद तथा मनुस्मृति का उपयोग किया जो कुछ विशिष्ट सैद्धान्तिक आधारों का परीक्षण था। इन समूहों में जो कुछ भी आधार है उसकी चर्चा उन्होंने की। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार शुद्धता तथा प्रदूषण हिन्दू जाति व्यवस्था की जड़े पहले से 1000 और 1500 ई. पू. के बीच पहले से ही थी। जब आर्य सिन्धु नदी घाटी के पास बसे। ऋग्वैदिक अवधि एवं पवित्र पाद पारम्परिक हिन्दू समाज में चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की चर्चा है। ऋग्वेद में वर्णित चार वर्णों में 2000 से अधिक उपजातियाँ भी शामिल हैं। इन जातियों के अलावा पाँचवा जनसंख्या समूह है जो बिना किसी जाति के शाब्दिक रूप से निर्वासित होते हैं। उनके साथ अछूत के रूप में व्यवहार किया जाता है। 1950 के भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता को अवैध रूप में पेश किया आज ये लोग खुद को दलित कहते हैं। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू धर्म वर्ण व्यवस्था पर आधारित है और यह वर्ण व्यवस्था ही सामाजिक असमानता एवं सामाजिक अन्याय का कारण है। हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर के विचार महात्मा गाँधी के विचारों से भिन्न हैं। डॉ. अम्बेडकर तथा गाँधी के विचारों में भिन्नता का विश्लेषण अगली इकाई में करेंगे।

13.2.1 डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का भारतीय समाज की संरचना एवं पुनर्निर्माण में विशिष्ट योगदान है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार मानव जीवन अर्थपूर्ण है निरर्थक नहीं। डॉ. अम्बेडकर के ऊपर प्रो. ड्यूम्बी, टी. एच. ग्रीन, फेबियन्स एडविन सेलिगमैन जैसे विद्वानों के विचारों एवं आदर्शों का प्रभाव था। डॉ. अम्बेडकर, प्रो. ड्यूम्बी के मानवतावाद एवं उदारवाद के विचार से बहुत अधिक प्रमाणित थे। इनके अनुसार हमें अपनी पुरानी संस्कृति में से केवल उन्हीं बातों का चमन करना चाहिए जो उपयोगी हो। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने ड्यूम्बी से उपयोगितावादी व्यवहारिकता का सिद्धान्त सीखा तथा उनकी गतिशील पद्धति एवं सिद्धान्तों का भी अनुकरण किया। जिसका सीधा सम्बन्ध नैतिकता, मनुष्यता, एवं समाज से

था। डॉ. अम्बेडकर का दर्शन वास्तविक जीवन से सम्बन्धित था कोरी कल्पना से नहीं। वे स्वर्ग-नरक जैसी पारलौकिकता में विश्वास नहीं करते थे। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि प्रत्येक समाज को एक व्यवहारिक नैतिकता व सामाजिक धर्म का पालन करना चाहिए और इसका मूल्यांकन आधुनिकता, तार्किकता एवं उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार धर्म व्यक्ति के लिए है। व्यक्ति धर्म के लिए नहीं। धर्म हमेशा नैतिकता, तार्किकता, विवेक और मानवीय सम्बन्धों पर आधारित होना चाहिए। इनके अनुसार ऐसे धर्म ही समाज को स्वतंत्रता, समानता, एवं बंधुत्व के आदर्शों की तरफ ले जाता है। डॉ. अम्बेडकर ने भारत में प्रचलित हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, इकाई धर्म, बौद्ध धर्म आदि का अध्ययन किया तथा पाया कि बौद्ध धर्म एक दूसरे के साथ प्रेम भावना पर आधारित है। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर के अनुसार बौद्ध सभी धर्मों से श्रेष्ठ धर्म है।

13.3 डॉ. अम्बेडकर का भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार

13.3.1 वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर के विचार—

डॉ. अम्बेडकर का मानना है कि वर्ण व्यवस्था के लिए मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद और मनुस्मृति जिम्मेदार है। इसके अनुसार चार वर्णों की उत्पत्ति ऋग्वेद के 10 वें मंडल के पुरुषशुक्त में वर्णित है पुरुषशुक्त के अनुसार

ऊँ ब्राह्मणोऽस्थ मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः।
ऊरुतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शुद्रो अजायतः।।

अर्थात् उस महान पुरुष के मुख से ब्राह्मण और भुजाओं से क्षत्रिय उत्पन्न हुए और दोनों जंघाओं से वैश्य एवं पैर से शुद्र प्रकट हुए।

ऋग्वेद के अनुसार यह व्यवस्था कर्म पर आधारित थी जिसमें ब्राह्मण को पूजापाठ करना क्षत्रियों को राजकाज, वैश्य को आर्थिक गतिविधि एवं शूद्रों को उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना बताया बताया गया है। यह वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी। जन्म पर नहीं डॉ. अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू समाज का वर्तमान स्वरूप रुढ़िवादिता एवं विकृतियों से ग्रस्त हैं। इन्होंने वर्णव्यवस्था का विरोध किया और बताया कि शुद्रवर्ण के सदस्यों के सामाजिक अन्याय एवं भेदभाव पूर्ण व्यवहार के लिए मुख्य रूप से चतुर्वर्ण की व्यवस्था करने वाली 'मनुस्मृति' जिम्मेदार है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार यह वर्ण व्यवस्था न सिर्फ अवैज्ञानिक है बल्कि अन्यायकारी भी है। इस वर्ण व्यवस्था ने हिन्दू समाज के सदस्यों की स्थाई रूप से कैद कर उन्नति नहीं होने देती।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार मनु आधारित वर्ण व्यवस्था के बारे में मैंने जैसा सुना है कि यह कर्म पर आधारित थी यदि वैसी ही बनी ही बनी होती तथा समय के साथ इसमें जन्म आधारित नहीं होता तो सम्भवतः वर्तमान समय में भारत में जो स्थिति है वैसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता और केवल जातिवाद को छोड़कर कोई अन्य विषय चल रहा होता। जैसे गरीबी-अमीरी की बढ़ती रगई आदि तथा कम से कम सभी हिन्दू एक स्वर, एक मत व एक शरीर के विभिन्न हिस्से बने रहते। अर्थात् सभी भारतीय समाज के एक लक्ष्य होती। लेकिन इस वर्ण व्यवस्था के विकृत रूप ने विदेशी ताकतों व देश

के भीतर मौजूद राष्ट्र द्रोहियों को हमारे देश के टुकड़े-टुकड़े करने का स्वप्न देखते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था ने ही विदेशी ताकतों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति उपलब्ध कराई।

डॉ. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ण व्यवस्था की कूट आलोचना करते हैं। इनके अनुसार वर्ण व्यवस्था न सिर्फ भारतीय समाज की प्रगृति, उन्नति को अवरुद्ध करता है बल्कि समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव उत्पन्न कर सामाजिक अन्याय को भी बढ़ावा देता है। डॉ. अम्बेडकर मनुस्मृति की कटु आलोचना करते हैं और बताते हैं कि मनु समाज के तीन वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की तुलना में शूद्र को उनके सेवक के रूप में निम्न स्थान प्रदान किया साथ ही साथ शूद्रों से अपनी रक्षा करने की दृष्टि से उचित साधनों से भी वंचित कर दिया। शूद्रों को अपने अन्याय से प्रतिकार करने का कोई अधिकार एवं साधन नहीं था। इस प्रकार शूद्र स्थायी रूप से अधिकार एवं साधन विहिन होना उपरोक्त तीनों वर्णों के अन्याय का शिकार होने के लिए बाध्य थे। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार 'सामाजिक अधिकारों की दृष्टि से मनुस्मृति निकृष्ट है। सामाजिक अन्याय का मनुस्मृति की तुलना में कोई भी नहीं होगा।'

डॉ. अम्बेडकर के ऋग्वेद तथा मनुस्मृति का उल्लेख करते हुए यह बताया कि आर्यों की मूल सामाजिक व्यवस्था में शूद्र वर्ण का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके अनुसार प्रारम्भ में तीन वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य था बाद के समय में एक चौथा वर्ण शूद्र जुड़ा। चार वर्णों का वर्णन ऋग्वेद के 10 वें मंडल के पुरुषशुक्त में किया गया है। ऋग्वेद का दूसरे से लेकर नौवें मंडल प्राचीन है जबकि पहला और दसवाँ मंडल बाद में जोड़ा गया अर्थात् दसवाँ मंडल का पुरुषशुक्त ऋग्वेद का मूल भाग नहीं है बल्कि बाद के समय में धर्माचार्यों द्वारा जोड़ा गया। डॉ. अम्बेडकरके अनुसार आर्य सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत तीन ही वर्ण थे एवं शूद्र क्षत्रिय वर्ण से सम्बन्धित थे। ब्राह्मणों ने इस क्षत्रिय वर्ण को पराजित किया तथा इस पराजित वर्ण को शूद्र वर्ण के रूप में परिवर्तित कर दिया साथ ही इन वर्णों को वैधानिक बनाने के लिए इसे धर्म के साथ जोड़ दिया और ये बताया कि इस व्यवस्था को हमने नहीं बल्कि ईश्वर ने बनाया है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार या ब्राह्मणों का एक षडयंत्र मात्र था जिसने शूद्रों को स्थाई रूप से आधार विहिन एवं साधन विहिन स्थिति में ला दिया। इस प्रकार भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ण व्यवस्था मौलिक रूप से न तो वास्तविक है और न ही सामाजिक न्याय की दृष्टि से व्यवहारिक। अतः डॉ. अम्बेडकर का मानना है कि शूद्रों के उद्धार के लिए वर्ण व्यवस्था का समाप्त होना अति आवश्यक है और इसके लिए शूद्र वर्ण को जागरूकता की परम आवश्यकता है।

13.3.2 जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर विचार

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार भारत में जाति व्यवस्था में दो अलग-अलग अवधारणाएँ हैं, पहली वर्ण और दूसरी जाति। वर्तमान समय में वर्ण की वास्तविकता समाप्त हो चुकी है और वह जाति में बदल चुकी है। पहले यह त्वचा के रंग के आधार पर था लेकिन बाद यह जन्म पर आधारित हो गयी। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार जाति व्यवस्था हिन्दुओं की सामाजिक एवं धार्मिक संस्था है जिनकी जनसंख्या लगभग 80 प्रतिशत है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार जाति सामाजिक स्तरीकरण का कठोरतम रूप है जिसमें रैंक तथा स्थिति की गतिशीलता सम्भव नहीं है। इस जाति व्यवस्था ने मुसलमान, ईसाई और सिक्खों को भी प्रभावित किया है जिसके कारण इन तीनों में भी जातियाँ पाई जाती हैं। भारत में आर्य एवं दृविड़ सभ्यता से पहले आदिवासी समूह रहते थे जो पिछड़े वर्ग के सदस्य थे वे हिन्दू समाज का हिस्सा नहीं थे तब भी इन्होंने दलितों के प्रति अस्पृश्यता की शुरुआत कर दी—जिनके पास जाति का वर्चस्व है।

जाति व्यवस्था की उत्पत्ति—

डॉ. अम्बेडकर कहते हैं कि जब जाति व्यवस्था प्रारम्भ हुआ तब यह स्थापित करना कठिन था कि जाति की उत्पत्ति कैसे हुई लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि शासक वर्ग ने अपनी सुविधा के लिए जाति नामक संस्था द्वारा सफल प्रशासन की ओर ले जाती है। जाति व्यवस्था के उत्पत्ति या स्थापना के विभिन्न सिद्धान्त हैं। ये धार्मिक, रहस्यमय, जैविक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक सिद्धान्त हैं। धार्मिक सिद्धान्त के अनुसार महान पुरुष ने अपने शरीर के चार अंगों से चारों वर्णों को बनाया जिसकी चर्चा पहले की इकाई में किया जा चुका है, लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि कैसे प्रत्येक वर्णों में अछूत स्थापित किये गए। अन्य धार्मिक सिद्धान्त भी यह दावा करता है कि दुनिया के निर्माता ने ही अपने शरीर के चार अंगों से चार वर्णों को बनाया। इरावती कर्वे के अनुसार चार रैंक प्रणाली सत्तारूढ़वर्ग की रचना थी जिसमें मूल रूप से तीन रैंक प्रणाली थी जिनमें रैंक के मतभेद सभी लोगों को जन्म से मृत्यु तक कुछ अनुष्ठानों और संस्कारों का अधिकार था।

जैविक सिद्धान्त यह दावा करता है कि सभी मौजूदा चीजों, एनिमेटेड और एनिमेटेड, अन्तर्निहित तीन गुणों में अलग-अलग विभागों में होता है। सत्व गुण, रजो गुण, तमों गुण। सत्व गुण ब्राह्मण में, रजो गुण क्षत्रिय में एव वैश्य में तमों गुण शूद्र में शामिल है। प्राचीन भारत में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा को भगवान माना जाता था। राजा ने विभिन्न कार्यात्मक समूहों के लिए अलग स्थिति दी। सेनर्ट ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति विधी सम्बन्धि भोजन के आधार पर समझाया।

सामाजिक ऐतिहासिक सिद्धान्त—

सामाजिक ऐतिहासिक सिद्धान्त के अनुसार जाति व्यवस्था भारत में आर्यों के आने के बाद शुरू हुई। डॉ. भीमराव अम्बेडकर का मानना है कि आर्यों से पहले भारत में अन्य समुदाय के लोग जैसे, मंगोलायड, द्रविडियन और ऑस्ट्रालोइड्स रहते थे। इनके अनुसार जब आर्य भारत में आए तो आर्यों का सर्म्पक द्रविडियन और ऑस्ट्रालोइड्स के साथ हुआ। आर्यों ने यहाँ के स्थानीय लोगों को युद्ध में पराजित किया साथ ही आर्यों ने भारत के उत्तरी क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित कर लिया एवं यहाँ के मूल निवासियों को उत्तर भारत के दक्षिण में, जंगलों एवं पहाड़ों की ओर धकेल दिया। आर्यों ने उत्तर भारत क्षेत्र में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए सबसे पहले कार्यों के आधार पर अपने समाज को संगठित किया और आर्य समाज को तीन समूहों में विभक्त किया। पहला राजायण नामक योद्धा था जो बाद में अपना नाम क्षत्रिय बदल दिया। दूसरा समूह ब्राह्मणों का पूजारी था और तीसरे समूह के अन्तर्गत कारीगर एवं किसान आते थे। आर्यों ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए कुछ सामाजिक-धार्मिक योग्यता निर्धारित की जो सिर्फ उन्हें पुजारी, योद्धा और समाज के व्यवसायी होने की इजाजत देता था।

वर्ण शब्द का अर्थ त्वचा के रंग से है वर्ग से नहीं हिन्दू धार्मिक कहानियों में अच्छे आर्यों और गहरे रंग के राक्षसों के बीच कई युद्धों की चर्चा है, लेकिन वास्तविकता यह है कि काली चमड़ी दास वास्तव में भारतीय मूल के निवासी थे जिन्हें आर्यों ने राक्षस, शैतान, राक्षसों के रूप में गढ़ा था दास। इसलिए जाति व्यवस्था अचानक नहीं आई बल्कि यह भारतीय सामाजिक विकास की एक लम्बी प्रक्रिया का

परिणाम था। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार वर्तमान जाति व्यवस्था के विकास के लिए कई कारक जिम्मेदार रहे हैं:—

- वंशानुगत व्यवसाय
- ब्राह्मणों की स्वयं को शुद्ध रखने की इच्छा
- राज्य के कठोर एवं एकात्मक नियंत्रण की कमी
- अवतारवाद एवं कर्म के सिद्धान्त में विश्वास
- भारतीय प्रायद्वीप का भौगोलिक स्थिति
- हिन्दू समाज का स्थिर प्रकृति आदि

इन कारकों के समय-समय पर छोटे अंतर के आधार पर छोटे समूहों के गठन को बढ़ावा दिया।

13.3.3 जाति व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर तथा महात्मा गाँधी के विचार

डॉ. अम्बेडकर और महात्मा गाँधी दोनों ही समानता तथा न्याय के आधार पर दलितों की दशा को सुधारने के लिए कटिबद्ध थे फिर भी उनके बीच में दूरी क्यों बनी रही ? यह सच है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलनों के अन्तर्गत गाँधी जी यह समझ चुके थे कि दलित जातियों की स्थिति में सुधार किये बिना स्वतंत्रता आन्दोलन को मजबूत नहीं बनाया जा सकता लेकिन डॉ. अम्बेडकर को यह विश्वास नहीं था कि कुछ मामूली प्रयत्नों से दलित जातियों के साथ वास्तविक न्याय किया जा सकता है। समय-समय पर उन्होंने इस विषय पर गाँधी जी से लम्बे वार्तालाप भी किये लेकिन उनसे वह सन्तुष्ट नहीं हो सके। इसी आधार पर उन्होंने अपनी पुस्तक 'श्री गाँधी और अछूतों की मुक्ति' में अपने विचारों को विस्तार से स्पष्ट करते हुए महात्मा गाँधी के प्रत्यनों से असहमति व्यक्त की। उन्होंने लिखा कि संसार के सभी राष्ट्रों में दासता, बेगार तथा दमन की स्थिति लगभग समाप्त हो चुकी है लेकिन कौन-सी दशाएँ हैं जिनके कारण भारत में अभी तक दलितों की दशाओं में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो सका। उनका मानना था कि आज भी दलितों के प्रति उच्च जातियों की सोच में किसी तरह का परिवर्तन नहीं हुआ है। आज भी दलित नागरिक सुविधाओं से वंचित हैं तथा प्रकाश की कोई ऐसी किरण नहीं दिखायी पड़ रही जिसके सहारे वे आगे बढ़ सकें।

वैचारिक और व्यावहारिक धरातल पर डॉ. अम्बेडकर तथा महात्मा गाँधी के बीच जो मतभेद था, उन्हें मुख्यतः निम्नांकित तीन बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है:—

1—महात्मा गाँधी यह मानते थे कि हिन्दू समाज के विघटन का मुख्य कारण जाति व्यवस्था है, वर्ण व्यवस्था नहीं। उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार व्यक्ति के गुण तथा कर्म हैं। यह एक परिवर्तनशील व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने गुणों को बदलकर अपने वर्ण को बदल सकता है। वह मानते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभामिक नियम है तथा सभी लोगों के गुण और कर्म समान न होने के कारण उनके बीच पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती। दूसरी ओर डॉ. अम्बेडकर का यह मानना है कि भारत में सामाजिक अन्याय तथा सामाजिक असमानता का मुख्य कारण वर्ण-विभाजन है।

यदि वर्ण व्यवस्था न होती तो जाति व्यवस्था भी विकसित न हो पाती। इसका तात्पर्य है कि जब तब वर्ण विभाजन को ही समाप्त नहीं किया जाता, तब तक दलित जातियों को अमानवीय स्थिति से छुटकारा नहीं दिलाया जा सकता।

2—महात्मा गाँधी की एक मान्यता यह थी कि आनुवांशिक पेशे के द्वारा आजीविका उपार्जित करने से व्यक्ति को अपने व्यवसाय का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। तथा इससे समाज में बेरोजगारी नहीं फैलती। इसके विपरीत डॉ. अम्बेडकर का यह मानना था कि जब तक दलित जातियों को उनके आनुवांशिक व्यवसाय से मुक्ति नहीं मिलती, तब तक न तो उनके प्रति दूसरी जातियों के लोगों के विचारों में परिवर्तन होगा और न ही स्वयं दलित जातियाँ अपना विकास करने का अवसर प्राप्त कर सकेंगी।

3—गाँधी जी का विश्वास था कि हिन्दू सामाजिक संरचना में रहते हुए दलित जातियों की प्रस्थिति में सुधार किया जा सकता है। इसी कारण उन्होंने सदैव दलित जातियों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व देने का विरोध किया। डॉ. अम्बेडकर यह मानते हैं कि दलित जातियों के प्रति उच्च जातियों की मनोवृत्तियाँ इतनी भेदभावपूर्ण बन चुकी हैं कि जब तक दलित जातियों को अलग प्रतिनिधित्व नहीं मिलता, तब तक उनकी शक्ति में वृद्धि होना सम्भव नहीं है।

विचारों में भिन्नता के बाद भी डॉ. अम्बेडकर एक उदारवादी विचारक रहे। जब सन् 1932 में मैकडॉनल्ड पंचाट के द्वारा प्रस्ताव रखा गया तो महात्मा गाँधी के आग्रह और आश्वासन के कारण डॉ. अम्बेडकर ने इस माँग पर जोर देना बन्द कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने 'पूना समझौते' में दलित जातियों को हिन्दू समुदाय का ही अभिन्न अंग मानना स्वीकार कर लिया। उनकी इस उदारतावादी विचारधारा का ही परिणाम था कि उन्होंने स्वयं भी धर्म परिवर्तन की बात छोड़ दी। गाँधी जी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने सन् 1956 में धर्म परिवर्तन किया।

13.3.4 धर्मों के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर विचार

डॉ. अम्बेडकर का धर्म के सम्बन्ध में विचार सामाजिक समानता एवं न्याय के सम्बन्ध में विचारों से प्रभावित हैं। डॉ. अम्बेडकर ने सभी धर्मों के मूल विचार एवं सिद्धान्त का अध्ययन किया और उन सभी धर्मों के सामाजिक एवं व्यवहारिक पक्ष को समझा। डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, सिक्ख धर्म और ईसाई धर्म तथा बौद्ध धर्मों का अध्ययन किया। इनके अनुसार बौद्ध धर्म को छोड़कर किसी भी धर्म में व्यवहारिक रूप में पूर्ण समानता नहीं थी। हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर बताते हैं कि भारतीय जन-जीवन पर स्मृतिकालीन धर्म का इतना अधिक प्रभाव है कि समाज में अस्पृश्यों की अमानवीय दशा के लिए पूर्ण रूप से धार्मिक नियम-कानून किस हद तक जिम्मेदार है। डॉ. अम्बेडकर का यह भी मानना है कि "धर्म व्यक्ति के लिए होता है व्यक्ति धर्म के लिए नहीं" इनके अनुसार "जो धर्म अपने मानने वालों के बीच ही भेदभाव करता है वह धर्म नहीं बल्कि मानवता का अपमान करने वाला एक साधन है।" डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि हिन्दू धर्म असमानता पर आधारित है जिसमें रूढ़ीवादिता अंधविश्वास बहुत है और जब तक अस्पृश्य जातियाँ हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का अंग रहेंगी तब तक इनका विकास

एवं प्रगति नहीं हो सकती। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार अस्पृश्य जातियों का उद्धार एवं विकास हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सम्भव नहीं है। यही कारण था कि डॉ. अम्बेडकर ने महार जाति के लोगों को बौद्ध धर्म अपनाने की सलाह दी। 1935 ई. में डॉ. अम्बेडकर ने धर्मान्तरण की घोषणा भी की। उन्होंने कहा था कि वे एक हिन्दू के रूप में मरना नहीं चाहते। डॉ. अम्बेडकर ने धर्मान्तरण की घोषणा के बाद ईसाई एवं मुस्लिम धर्म के प्रतिनिधियों ने अपने धर्म में आने का प्रस्ताव भेजा था लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने इन सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया और पाया कि जाति भेद की व्यवस्था का समर्थन ईसाई एवं इस्लाम नहीं करता लेकिन हिन्दुत्व के प्रभाव से भारत में ईसाई और इस्लाम समाज में भी जाति भेद उत्पन्न हो गए हैं। डॉ. अम्बेडकर ने यह महसूस किया कि ये दोनों समाज अपना जाति भेद बनाये रखना चाहते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने अपने अध्ययन में पाया कि अस्पृश्य जातियों के लोगों ने ईसाई, इस्लाम, सिक्ख, धर्म को अपनाया था उनमें भी सामानता का व्यवहार नहीं किया जा रहा था। अतः डॉ. अम्बेडकर ने उपरोक्त सभी धर्मों को त्याग कर बौद्ध धर्म की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इनके अनुसार ईसाई धर्म भी हिन्दू तथा इस्लाम धर्म से अलग नहीं है उसमें भी वही सब चीजें मौजूद हैं जो हिन्दू और इस्लाम धर्म में हैं। इन धर्मों में जाकर अस्पृश्य जातियों ने न सिर्फ अपना और अपने धर्म का अस्तित्व खो देते हैं उन धर्म के अंधविश्वासों और पाखण्डों का ही शिकार हो जाते हैं। उनके बल पर उच्च वर्ग के ईसाई और मुसलमान उसी तरह शासक वर्ग बने रहते हैं जिस प्रकार उनके बल पर हिन्दू उच्च वर्ग शासक वर्ग बना हुआ है।

13.3.5 बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर के विचार

धर्म के सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर के विचार स्पष्ट हैं इनका मानना था कि धर्म व्यक्ति के लिए होता है, व्यक्ति धर्म के लिए नहीं। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि जिस धर्म में सामाजिक असमानता, अंधविश्वास एवं रूढ़ीवादिता है उस समाज में कभी भी प्रगतिशील जीवन की आशा नहीं की जा सकती है। इन्होंने हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिक्ख और बौद्ध आदि धर्मों का अध्ययन किया तथा बताया कि बौद्ध धर्म को छोड़कर सभी धर्म व्यवहारिक रूप में असमानता एवं भेदभाव पर आधारित हैं।

डॉ. अम्बेडकर बौद्ध धर्म को वैज्ञानिक, सामाजिक समानता एवं प्रेम तथा एकता की भावना पर आधारित मानते हैं। इनके अनुसार बौद्ध धर्म के प्रवर्तक बुद्ध की सोच वैज्ञानिक है। बुद्ध किसी बात को इसलिए मान लेने का निषेध करते थे कि वह किसी धर्मग्रन्थ में लिखी है या किसी आचार्य, महापुरुष अथवा धर्मगुरु ने कही है याह परम्परा से मानी जा रही है या उसे बहुत से लोग मानते हैं। बुद्ध की शिक्षा थी कि किसी बात को तभी माना जाए जब वह तर्क और अनुभव पर सिद्ध हो जाए। डॉ. अम्बेडकर ने देखा कि बौद्ध धर्म वेदों का खण्डन करता है। ब्राह्मण की श्रेष्ठता को नहीं मानता। बौद्ध धर्म समतावादी है, स्त्रियों की स्वतंत्रता के समर्थक हैं। बुद्ध गुरु हैं, पथ प्रदर्शक हैं तथा बौद्ध धर्म संस्कृत को नहीं बल्कि जन भाषा पाली को महत्व देता है। बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है यह आत्मा एवं ब्रह्मा को नहीं मानता। इस प्रकार बौद्ध धर्म में परलोकवाद, भाग्यवाद, जन्म-जन्मान्तरवाद, अवतारवाद, स्वर्ग-नर्क और अलौकिक सत्ता के सारे पाखण्डों से मुक्ति मिल जाती है। बौद्ध धर्म जातिवाद का विरोधी था। बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वर्ण व्यवस्था का विरोध कर सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति ला दी थी। डॉ. अम्बेडकर सभी धर्मों के अवलोकन के पश्चात् बौद्ध धर्म की विशेषताओं का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि:-

- बौद्ध धर्म एक ऐसी नैतिकता पर आधारित है जिसमें मानवीय मूल्यों एवं उसके नैतिक विकास का समिश्रण है। इनके अनुसार कोई भी समाज नैतिकता के बिना छिन्न-भिन्न हो जाता है अतः धर्म में नैतिकता का होना परम आवश्यक है।
- बौद्ध धर्म के आचरण नियम सामाजिक समानता को महत्व देते हैं।
- बौद्ध धर्म केवल विश्वास पर आधारित नहीं है बल्कि यह स्वविवेक पर आधारित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ. अम्बेडकर बौद्ध धर्म से बहुत अधिक प्रभावित थे। साथ ही उनका यह मानना था कि जो दलितों की समस्या है उन समस्या का समाधान बौद्ध धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म में नहीं था। यही कारण था कि डॉ. अम्बेडकर का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हुआ। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार दलित धर्म के सिद्धान्त बौद्ध धर्म से पूर्ण संगति बैठती थी और केवल बौद्ध धर्म ही दलित धर्म का नया रूप ले सकता है। अंततः डॉ. अम्बेडकर अपने 5 लाख अनुयायियों के साथ 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। इस अवसर पर उन्होंने यह कहा था कि हो सकता है कि दूसरे लोग बौद्ध धर्म को दलित धर्म कहें। लेकिन यदि बौद्ध धर्म दलित धर्म बन जाता है तो भारत में एक महान सामाजिक क्रान्ति होगी।

13.4 डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक न्याय की अवधारणा

सामाजिक न्याय की अवधारणा एक व्यापक अवधारणा है जिसमें एक व्यक्ति के नागरिक अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक समानता के अर्थ भी निहित हैं। भारत में सामाजिक न्याय के प्रेरक डॉ. अम्बेडकर आधुनिक विचारकों में से एक हैं जिन्होंने भारतीय समाज को एक नई दिशा प्रदान की। डॉ. अम्बेडकर के अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभव तथा भारतीय समाज का गहन अध्ययन ने भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण, धर्म, जाति आधारित छुआ-छूत असमान एवं शोषण के विरुद्ध सामाजिक न्याय की अवधारणा को संविधान की मूल पृष्ठभूमि में स्थान दिलाया। सामाजिक न्याय की अवधारणा का मुख्य उद्देश्य यह है कि नागरिक-नागरिक के बीच कोई भेद-भाव न हो। प्रत्येक नागरिक को विकास के समान अवसर प्राप्त हो। सामाजिक न्याय का अंतिम उद्देश्य समाज के कमजोर एवं पिछड़े वर्ग को विकास की मुख्य धारा में लाना तथा उनकी विकास में भागीदारी सुनिश्चित करना है। विश्व की सभी वर्तमान की न्याय व्यवस्था का अंतिम लक्ष्य सबसे कमजोर वर्ग का हित सुरक्षित करना है। यदि हम वर्तमान भारतीय न्याय व्यवस्था की बात करें तो सभी का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उसका सम्बन्ध सामाजिक न्याय से है। अतः सामाजिक न्याय पिछड़े एवं वंचित वर्ग के सशक्तिकरण से सम्बन्धित है। जो सामाजिक न्याय के माध्यम से समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता की स्थापना करना चाहती है। इस प्रकार सामाजिक न्याय समानता का एक दर्शन है। जिसके अन्तर्गत निम्न बिन्दु हैं—

- 1—जातीय भेद-भाव को समाप्त करना
- 2—धार्मिक भेद-भाव को समाप्त करना
- 3—लैंगिक भेद-भाव को समाप्त करना
- 4—क्षेत्रीय भेद-भाव को समाप्त करना

डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक न्याय की अवधारणा पर महाराष्ट्र के महान समाज सुधारक ज्योतिबा फुले का प्रभाव था। 19 वीं शताब्दी में ज्योतिबा फुले एक मात्र ऐसे सामाजिक सुधारक थे जो दलित जातियों की दशा में सुधार के लिए प्रयासरत थे। डॉ. अम्बेडकर ने इन्हीं से प्रेरणा लेकर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प लिया। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मनु स्मृति पर आधारित है मनु स्मृति के नियम भारत के न्याय प्रणाली में अपना महत्व रखते हैं। जैसे पिता की सम्पत्ति में सिर्फ पुत्र को ही अधिकार है पुत्री को नहीं आदि। परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था जो प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित है में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि हिन्दू समाज की जो व्यवस्था है उसे हमने नहीं बल्कि ईश्वर ने बनाया है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार ऐसा करने का एकमात्र लक्ष्य किसी खास जाति विशेष, लिंग विशेष को बिना परिश्रम के सुख सुविधा उपलब्ध कराना था। इनके अनुसार परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था में हमें तीन चीजें दिखाई देती हैं—

1—परम्परागत मूल्यों के प्रति अंधविश्वास।

2—जातीय उच्चता एवं निम्नता।

3—लैंगिक भेद—भाव।

डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक न्याय का सिद्धान्त प्राकृतिक न्याय की अवधारणा के समीप दिखाई देता है। डॉ. अम्बेडकर मानते हैं कि जिस सामाजिक न्याय सिद्धान्त में जातिगत ऊँच—नीच, लिंग भेद, धार्मिक कट्टरता, पूर्व जन्म की कल्पना को मान्यता दी जाती है वह सामाजिक न्याय हो ही नहीं सकता। डॉ. अम्बेडकर इस न्याय सिद्धान्त को ब्राह्मणवादी न्याय सिद्धान्त कहते हैं क्योंकि इस सिद्धान्त से एक विशेष जाति, विशेष लिंग के हित सुरक्षित होते हैं, यही कारण है कि डॉ. अम्बेडकर ने जिस सामाजिक न्याय की अवधारणा को प्रतिपादित किया वह नस्ल भेद, लिंग भेद और क्षेत्रीय भेद से मुक्त हो जाता है। इनकी अवधारणा में समाज के दबे—कुचले वर्ग के साथ न केवल न्याय हो बल्कि उनके अधिकार और हित सुरक्षित हों। डॉ. अम्बेडकर ने अपने न्याय सिद्धान्त में परम्परागत भारतीय सामाजिक व्यवस्था के कई सामाजिक इकाइयों एवं संस्थाओं तथा सामाजिक नियमों का विरोध करते हैं। जिसे हम निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं—

1—परम्परागत जाति व्यवस्था का विरोध डॉ. अम्बेडकर मानते हैं कि चार वर्णों पर आधारित वर्ण व्यवस्था के कारण ही जाति व्यवस्था का जन्म हुआ और साथ ही अस्पृश्यता जैसी असमानता सामाजिक व्यवस्था आई। जो सामाजिक अन्याय और सामाजिक असमानता का चरण है। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार प्रारंभिक अवस्था में भारतीय समाज में किसी प्रकार का जातिय विभाजन नहीं था। लेकिन बाद में कुछ समूहों द्वारा अपने हितों की पूर्ति के लिए समाज को विभिन्न जातियों में विभाजित किया गया ताकि शक्तिशाली लोगों द्वारा कमजोर लोगों से उनकी इच्छा के विरुद्ध काम ले सकें। इसके लिए शक्तिशाली समूह द्वारा कमजोर समूह को शिक्षा, धन, लाभप्रद व्यवसाय एवं हथियार रखने से वंचित किया गया। इसके साथ ही धार्मिक पैजामा पहनाने का प्रयास किया गया कि व्यक्ति को अपने वर्ग एवं जाति के अनुसार ही कर्म करना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि निम्न जातियाँ निम्न होती गईं और उच्च जातियाँ और शक्तिशाली। डॉ. अम्बेडकर का मानना है कि समाज में जब तक जाति व्यवस्था बनी रहेगी तब तक निम्न जाति में सुधार नहीं हो सकता। अतः इस जाति असमानता को दूर करने का एक ही रास्ता है अन्तर्जातीय विवाह। इनके अनुसार रक्त मिलन ही विभिन्न जातियों के बीच निकटता की भावना पैदा कर सकता है। डॉ. अम्बेडकर जाति व्यवस्था को हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी बुराई मानते थे। अतः इस

जाति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए उन्होंने मंदिरों में लोकतांत्रिक आधार पर पुजारी नियुक्त करने की बात कही। इनका मानना था कि जैसे-जैसे जाति व्यवस्था के परम्परागत नियम कमजोर होंगे दलित जाति की स्थिति में सुधार होगा।

2—समाज में लैंगिक भेद-भाव का विरोध—यदि हम परम्परागत भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा को देखें तो उनकी स्थिति बहुत ही निराशा जनक थी। स्त्रियों शिक्षा तथा पिता की सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया था। इन्हें पुनर्विवाह एवं तलाक जैसे अधिकार नहीं थे। स्त्रियों की इस हीन दशा के लिए डॉ. अम्बेडकर मुख्य रूप से हिन्दू धर्म ग्रन्थ मनुस्मृति को मानते थे। मनुस्मृति में यह प्रतिपादित किया गया कि स्त्रियों को हमेशा संरक्षण में रहना चाहिए। अर्थात् वे बाल्यावस्था में पिता के संरक्षण में, युवावस्था में पति के संरक्षण में तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहें। अर्थात् वे सदैव पुरुषों के ही संरक्षण में रहें। डॉ. अम्बेडकर स्त्रियों के इस परतंत्रता से मुक्त कराना चाहते हैं। इन्होंने इस बात का विरोध किया कि परिवार में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों के अधीन होना चाहिए इस सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर मनुस्मृति की कटु आलोचना करते हैं। और कहते हैं कि इसमें दिये गए विधान सामाजिक न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इनके अनुसार स्त्रियों में वे सारे गुण मौजूद हैं जो पुरुषों में हैं। अतः सामाजिक जीवन में पुरुषों के समान ही सभी क्षेत्रों में इनके अधिकार होने चाहिए। इसके लिए डॉ. अम्बेडकर ने वैधानिक दृष्टि से समाप्त किये जाने के पक्ष में थे। इसके लिए इन्होंने हिन्दू कोड बिल को पारित करवाने में अपनी सक्रिय भूमिका निभाई। 'हिन्दू कोड बिल' के तहत महिलाओं को विवाह-विच्छेद का अधिकार, बहुपत्नी पर प्रतिबंध, विधवाओं तथा अविवाहित कन्याओं का पति तथा पिता की सम्पत्ति में अधिकार था।

डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि वास्तविक प्रजातंत्र तब आएगा जब महिलाओं को पैतृक सम्पत्ति में बराबरी का हिस्सा मिलेगा और उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिए जाएंगे। डॉ. अम्बेडकर का विश्वास था कि महिलाओं की उन्नति तभी सम्भव है जब उन्हें घर, परिवार और समाज में सामाजिक बराबरी का दर्जा मिलेगा। शिक्षा और आर्थिक उन्नति उन्हें सामाजिक बराबरी दिलाने में मदद करेगी।

डॉ. अम्बेडकर लैंगिक भेद-भाव का विरोध करने के लिए महिलाओं को शिक्षित करना अति आवश्यकत मानते थे। इनके अनुसार इससे न सिर्फ महिलाओं में आत्म-निर्भरता बढ़ेगी साथ ही उनकी सामाजिक प्रस्थिति भी ऊँची होगी। डॉ. अम्बेडकर ने महिलाओं को अपने संबोधन में कहा था कि अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूल भेजो और उन्हें महत्वाकांक्षी बनाओ। डॉ. अम्बेडकर भारत में लैंगिक न्याय पर आधारित समाज की स्थापना के लिए लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की बात करते हैं जिससे स्वतंत्रता समानता एवं बंधुत्व की स्थापना हो सके।

13.5 डॉ. अम्बेडकर का दलित उद्धार

डॉ. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक व्यवस्था का गहन अध्ययन करते हैं और बताते हैं कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जातिप्रथा, वर्णव्यवस्था, धर्म के आधार पर छुआ-छूत, असमानता एवं शोषण व्यापक रूप से विद्यमान है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था में शूद्रों की स्थिति अति दयनीय है। शूद्रों को अस्पृश्य माना जाता था। शूद्र सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से वंचित थे। शूद्रों को

धार्मिक रूप से और सभी मानवाधिकारों से वंचित रखा गया था। शूद्र द्विजों के लिए सेवक थे जिनका कार्य सिर्फ ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों की सेवा करना था। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार भारतीय हिन्दू समाज में अंधविश्वास रूढ़ी और व्यर्थ के कर्मकाण्ड व्याप्त थे। यहीं कारण है कि डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म में व्याप्त जाति व्यवस्था के घोर विरोधी थे। डॉ. अम्बेडकर जीवन पर्यन्त समाज के वंचित वर्गों को समाज की मुख्यधारा में लाने के लिए संघर्ष करते रहे। डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म में व्याप्त छुआ-छूत के लिए हिन्दू धर्म को मानते हैं। वे कहते हैं कि "हिन्दू धर्म अपने ही समाज के एक वर्ग के व्यक्तियों के प्रति छुआ-छूत का व्यवहार करने का आदेश देता है और साथ ही अस्पृश्य व्यक्तियों को इस स्थापित व्यवस्था के विरोध में न केवल विद्रोह करने से रोकता है, बल्कि उन्हें यह भी आदेश देता है कि अस्पृश्यों का यह कर्तव्य है कि वे इस दैवीय एवं पवित्र व्यवस्था को बनाये रखें।"

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार "जाति प्रथा से लड़ने के लिए चारों तरफ से प्रहार करना होगा। जाति ईंट की दीवार जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है। यह एक विचार है। एक मनःस्थिति है जिसकी नींव धर्म शास्त्रों की पवित्रता में है। वास्तविक उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाए, उनकी पवित्रता को नष्ट किया जाए, इसका सही उपाय है, अन्तर्जातीय विवाह' तभी वे जात-पात का भेदभाव बन्द करेंगे। जब जाति का धार्मिक आधार समाप्त हो जाएगा, तो इसके लिए रास्ता खुल जायेगा। खून के मिलने से ही अपनेपन की भावना पैदा होगी और जब तक यह जाति प्रथा द्वारा पैदा की गई अलगाव की भावना समाप्त नहीं होगी।" डॉ. अम्बेडकर भारतीय समाज में व्याप्त बुराईयों को समाप्त करने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा का उपयोग करते हैं और कहते हैं "अस्पृश्यता की समस्या एक वर्ग संघर्ष का मामला है" साथ ही वे अस्पृश्यों में चेतना लाने के लिए हिन्दू समाज में क्रान्ति एवं हिन्दुओं के हृदय में परिवर्तन की बात करते हैं।

डॉ. अम्बेडकर दलितों के उद्धार हेतु निम्न प्रयास करते हैं—

- 1—जाति प्रथा का विरोध।
- 2—बौद्ध धर्म का समर्थन।
- 3—अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन।
- 4—स्त्रियों के प्रस्थिति में सुधार हेतु प्रयास।
- 5—दलितों को सार्वजनिक स्थानों पर प्रवेश का अधिकार दिलाना।
- 6—सरकारी नौकरियों में आरक्षण।
- 7—औद्योगीकरण का समर्थन।

13.6 निष्कर्ष

डॉ. भीमराव अम्बेडकर आधुनिक भारत में दलितों के मसीहा के रूप में जाने जाते हैं। दलित वर्ग को समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के लिए आजीवन संघर्ष किया। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के उद्धार के लिए शिक्षा पर जोड़ दिया। उनका मानना था कि अशिक्षा सभी बुराईयों की जड़ है। शिक्षा व्यक्ति में तार्किकता एवं बौद्धिकता को जन्म देती है। शिक्षा ही वह माध्यम है जिससे व्यक्ति में किसी भी घटना को सही तरह से व्याख्या करने एवं घटना के पीछे हुए कारणों को समझने में मदद देता है। अम्बेडकर

ने दलितों के उद्धार के लिए न सिर्फ उनमें जागरूकता फैलाने का प्रयास किया बल्कि उन्हें सामाजिक न्याय दिलाने के लिए भी प्रयासरत रहे। डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू समाज में व्याप्त बुराइयों की आलोचना की एवं यह माना कि हिन्दू समाज में रहते हुए कभी भी दलितों का उद्धार नहीं हो सकता। क्योंकि हिन्दू समाज असमानता पर आधारित है यहीं कारण था कि उन्होंने दलितों को बौद्ध धर्म अपनाने को बात की। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार बौद्ध धर्म वैज्ञानिक है जो सामाजिक समानता एवं प्रेम पर आधारित है।

13.7 भावी अध्ययन

- 1—कास्ट इन इण्डिया, 1961
- 2—स्मॉल होल्डिंग्स इन इण्डिया एण्ड देयर रेमेडीज, 1918
- 3—प्रॉब्लेम ऑस रूपी, 1923
- 4—द इवोलूशन ऑफ प्राविन्शियल फाइनेन्स इन द ब्रिटिश इण्डिया, 1924
- 5—द अनटचेबिल्स, हू आर दे ?
- 6—एन्हीलेशन ऑफ कास्ट, 1935
- 7—मिस्टर गाँधी एण्ड इमेन्सीपेशन ऑफ अनटचेबिल्स, 1938
- 8—व्हाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अनटचेबिल्स, 1945
- 9—पाकिस्तान एण्ड माइनोंरटीज, 1947
- 10—स्टेटस एण्ड माइनोंरटीज, 1947
- 11—थॉट ऑन लिंग्युस्टिक स्टेटस, 1953

13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—

- 1—सामाजिक न्याय पर डॉ. अम्बेडकर के विचारों का विवेचना कीजिए।
- 2—डॉ. अम्बेडकर के बौद्ध धर्म सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए।
- 3—जाति प्रथा एवं वर्ण व्यवस्था के बारे में डॉ. अम्बेडकर के विचारों की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न—

- 1—अल्पसंख्यकों पर डॉ. अम्बेडकर के विचारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
- 2—दलितवादी परिप्रेक्ष्य क्या है?
- 3—बौद्ध धर्म एक तार्किक धर्म है स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1—डॉ. अम्बेडकर के अनुसार प्रजातंत्र के कितने आधार स्तम्भ हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पाँच

2—डॉ. अम्बेडकर का जन्म कब हुआ?

(अ) 14 अप्रैल 1891 (ब) 18 अप्रैल 1891

(स) 14 जुलाई 1897 (द) इनमें से कोई नहीं

3—भीमाबाई के मरने के बाद डॉ. अम्बेडकर का पालन किसने किया?

(अ) लक्ष्मीबाई (ब) मीराबाई

(स) राधाबाई (द) नर्मदाबाई

4—किसने कहा था सामाजिक सुधार के बिना राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो सकता?

(अ) डॉ. अम्बेडकर (ब) अरविंद घोष

(स) सुरेन्द्र नाथ बनर्जी (द) महादेव गोविन्द रानाडे

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Ambedkar, B.R (1916) (Reprint in 1977), Castes in India : Their Mechanism, Genesis and Development, Jalandhar : Bheem Patrika Publications.
-(1936) (Reprint in 1995), annihilation of caste, jalandhar : Bheem Patrika Publication.
-(1946) Who were Sudras ? Bombay : Thacker and Co.
-(1946) The Untouchables : Who were They and why They Become Untouchables ? New Delhi. Amrit Co.
2. Baxi, Upendra (1995), "Emancipation as Justice: Babasaheb Ambedkar's Legacy and Vision" in Upendra Baxi and Bhikhu Parikh (eds), Crisis and change in Contemporary india, New Delhi, sage.
3. Bharill, c (1977), Social and Political Ideology of B.R Ambedkar, Jaipur: Alekh Publications.
4. Gore, M.S. (1993), The Social Context of an Ideology: Ambedkar's Political and Social Thought, New Delhi, Sage.
5. Keer, Dhananjay (1971), Ambedkar: Life and Mission, Bombay: Popular Prakashan,
6. Kuber, W.N, (1973), B.R. Ambedkar: A Critical Study, New Delhi: People's Publishing House.
7. Lobo. Lancy (2001), Vision Illusions and Dilemmas

इकाई-14
रणजीत गुहा (Ranajit Guha)

इकाई की रूपरेखा-

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 परिचय
 - 14.1.1 जीवन परिचय
- 14.2 पद्धतिशास्त्र
 - 14.2.1 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य
 - 14.2.2 अधीनस्थ समूहों के अध्ययन द्वारा अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य निर्मित करना।
 - 14.2.3 अधीनस्थ समूहों के अध्ययनों को किस प्रकार मान्यता मिल सकती है, इस पर कार्य।
 - 14.2.4 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य व विचार की समीक्षा।
 - 14.2.5 उभरता अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य।
 - 14.2.6 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के साथ जुड़ी हुई गुणवत्ता।
 - 14.2.7 कृषक विद्रोह।
- 14.3 निष्कर्ष
- 14.4 भावी अध्ययन
- 14.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
 - दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
 - लघु उत्तरीय प्रश्न
 - वस्तुनिष्ठ प्रश्न
- 14.6 सन्दर्भ ग्रंथ

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से निम्नलिखित उद्देश्य है-

- 1-सबअलर्न अध्ययन के माध्यम से Subaltern Studies अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य परिभाषित करना।
- 2-उपनगरीय अध्ययनों की पहचान करना।
- 3-अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य को समझना।
- 4-अधीनस्थ समूह के उभरते परिप्रेक्ष्य को समझना।
- 5-सामाजिक अध्ययन में अधीनस्थ समूह के महत्व को समझना।
- 6-अधीनस्थ समूह के माध्यम से कृषक विद्रोह को समझना।

14.1 परिचय

भारतीय समाज के अध्ययन के कई परिप्रेक्ष्य रहे हैं जैसे संरचनात्मक प्रकार्यवाद परिप्रेक्ष्य, सभ्यतावादी परिप्रेक्ष्य, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य और दलितवादी परिप्रेक्ष्य। इन सभी परिप्रेक्ष्यों में दलितवादी परिप्रेक्ष्य या अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य सबसे नया परिप्रेक्ष्य है जिसका विकास 20 वीं शताब्दी में 90 के दश में हुआ। इस परिप्रेक्ष्य के माध्यम से कई समाजशास्त्री जैसे डॉ० भीमराव अम्बेडकर, डेविड हार्डीमेन एवं रणजीत गुहा ने भारतीय समाज का अध्ययन किया। रणजीत गुहा इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग करते हुए इसके विकास एवं महत्व तथा उसकी गुणवत्ता की बात करते हैं एवं अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का उपयोग करते हुए अपने अध्ययन में भारत में हुए कृषक विद्रोहों की समीक्षा करते हैं। इस अध्याय में हम रणजीत गुहा द्वारा किए गए कार्यों की भी चर्चा करेंगे।

14.1.1 जीवन परिचय

रणजीत गुहा सम्भवतः औपनिवेशिक और अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य अध्ययनों में सबसे प्रभावशाली व्यक्ति हैं। अधीनस्थ समूहों के अध्ययन के वे संस्थापक सदस्य थे। इन्होंने इतिहास का अध्ययन किया तथा इंग्लैण्ड के ससेक्स विश्वविद्यालय में कई वर्षों तक इतिहास पढ़ाया और इतिहास के प्रोफेसर, रिसर्च स्कूल ऑफ पैसिफिक स्टडीज ऑस्ट्रेलिया नेशनल यूनिवर्सिटी और कैनबरा के रूप में भी कार्य किया। गुहा के कामों ने न केवल महाद्विपीय इतिहास के लेखन बल्कि विश्व भर में ऐतिहासिक जाँच, साथ ही सांस्कृतिक अध्ययन, साहित्यिक सिद्धान्तों और सामाजिक विश्लेषणों को भी प्रभावित किया है।

14.2 पद्धतिशास्त्र

रणजीत गुहा ने अपने अध्ययनों जिन पद्धतिशास्त्र का प्रयोग किया वह है अधीनस्थ समूहों का परिप्रेक्ष्य रणजीत गुहा अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के प्रतिपादकों में एक है। यह परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज के अध्ययन का एक तरीका है। इस परिप्रेक्ष्य के माध्यम से आदिवासी तथा किसान आंदोलनों की समझा जा सकता है। यह समाज के उच्च तथा निम्न लोगों के बीच राजनीति का समझने का एक महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य है। अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य इतिहास को समझने का एक नया नजरिया प्रदान करता है। यह परिप्रेक्ष्य स्वयं का ही अपना इतिहास बनाने का प्रयास करता है आदिवासियों, किसान, दलित एवं कृषक मजदूर अभी तक सिर्फ इतिहास के पात्र रहे हैं लेकिन यह परिप्रेक्ष्य उनके द्वारा स्वयं के इतिहास लेखन की क्रिया है। यह बदलती हुई परिस्थितियों में उत्पन्न जागरूकता की है।

14.2.1 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य

अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज में दलितों, शोषितों एवं निम्न वर्ग के लोगों का अध्ययन का एक तरीका है। रणजीत गुहा ने इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग कर भारतीय समाज का अध्ययन किया। इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग कर भारतीय समाज का अध्ययन करने वाले प्रमुख विद्वान डॉ० भीमराव अम्बेडकर, रणजीत गुहा, रणजीत गुहा तथा कपिल कुमार आदि हैं। अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य यह बताता है कि इतिहास सिर्फ राजाओं महाराजाओं एवं राष्ट्रवाद का वर्णन नहीं है बल्कि इसमें कमजोर, दलित एवं शोषित लोगों के आवाज इसमें शामिल हैं। अतः इतिहास का पुनःलेखन किया जाना चाहिए। यही कारण है यह परिप्रेक्ष्य राजाओं, महाराजाओं के इतिहास को छोड़कर अधीनस्थ समूह जैसे किसान, गरीब,

दलित, भूमिहीन श्रमिक एवं शोषित किसान पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यह परिप्रेक्ष्य इस बात पर भी बल देता है कि कैसे अधीनस्थ समूह में स्वयं के प्रति चेतना आती है। इस चेतना के पीछे अधीनस्थ समूह के विभिन्न आंदोलनों का हाथ है जो किसानों, आदिवासियों एवं साहूकारों तथा नगरीय व्यापारियों के बीच हन्द के कारण उत्पन्न हुआ। ब्रिटिश शासन व्यवस्था के विरुद्ध भी अधीनस्थ समूह के लोगों ने संघर्ष किया। इन संघर्षों का ही परिणाम था कि अधीनस्थ समूह के लोगों में जागृति आई एवं वे अपनी स्थिति सुधारने में सफल रहे।

14.2.2 अधीनस्थ समूहों के अध्ययन द्वारा अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य निर्मित करना

भारत में अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का विकास 90 के दशक में हुआ जब रणजीत गुहा एवं उनके साथियों द्वारा इस विषय पर कई आकादमिक लेख लिखे गए। 80 के दशक तक भारत में अधीनस्थ का अर्थ सिर्फ फौडा में एक कनिष्ठ अधिकारी के रूप में ही लिया जाता था। साथ ही साथ ज्यादा से ज्यादा अधीनस्थ शब्द का अभिप्राय वैकल्पिक तथा अधीनस्थ से सम्बन्धित था। 90 के दशक में विशेषकर 1982 से 1984 के बीच में निबन्ध के रूप में नियमित रूप से प्रकाशित हुए लेकिन बाद में इनकी संख्या घटी। 'सबआल्टर्न स्टडीज' के नाम से एक श्रंखला भी प्रकाशित की गई ताकि समाजशास्त्री इस दिशा में काम कर सकें। रणजीत गुहा और उनके साथियों द्वारा लिखे गए लेख को पढ़ने के बाद यह आसानी से समझा जा सकता है कि अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य क्या है ? लेकिन पिछले ही शताब्दियों के प्रयास के बावजूद अब तक इस परिप्रेक्ष्य के विकास का कोई ठोस परिणाम प्राप्त नहीं हुए हैं।

यद्यपि यह कहना विचित्र होगा, पर अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिप्रेक्ष्य को परिभाषित करने के लिए यही श्रेष्ठ है कि प्रकाशित लेखों और विश्लेषणों का सहारा लिया जाए। प्रकाशित ग्रंथों की श्रंखला एक से पांच में राजनीति और विद्रोह का उल्लेख था। बाद में राजनीति और विद्रोह पर चर्चा कम हुई और उसके स्थान पर अधीनस्थ मुद्दों की संस्कृति और उनकी उपनिवेशवादी, प्रभुत्वशाली संस्कृति की गहनता तथा उसके प्रतिरोध के विविध स्वरूपों का विश्लेषण अधिक होने लगा। अधीनस्थ समूहों के परिप्रेक्ष्य के दूसरे चरण में ये विषय प्रमुख थे।

'सबआल्टर्न स्टडीज' के एक से दस भागों में 76 निबन्ध प्रकाशित हुए थे। इन लेखकों में थे, रणजीत गुहा व पार्था चटर्जी (प्रत्येक के सोलह निबन्ध), डेविड आर्नोल्ड, डेविड हार्डीमेन, ज्ञानेन्द्र पांडे (पांच निबन्ध), दीपेश चक्रवर्ती, गौतम भद्र, ज्ञान चक्रवर्ती, स्पिवाक तथा शाहिद अमीन (एक से अधिक निबन्ध) पाँचवें खण्ड के प्रकाशित होने के बाद इस परिप्रेक्ष्य में व्यापक परिवर्तन आया और इसी के बाद सांस्कृतिक आधारों पर अधिक ध्यान दिया जाना प्रारम्भ हुआ। यहीं से इतिहास पक्ष का प्रयोग कम होना प्रारम्भ हुआ।

14.2.3 अधीनस्थ समूहों के अध्ययनों को किस प्रकार मान्यता मिल सकती है, इस पर कार्य

दो कारणों से अधीनस्थ समूहों के अध्ययनों को मान्यता मिली। पहला और सर्वप्रथम तो यह कि इन अध्ययनों ने इस मान्यता पर जोर दिया और दूसरे अन्य लोगों ने इस तथ्य को स्वीकार किया। इन लेखकों का प्रयास एवं उत्साह है, जिन्होंने इतिहास के उन पक्षों को उठाया और उन परिस्थितियों का परिचय दिया जो अज्ञात थे। भारत के समाज विज्ञानों में यह एक बिल्कुल नया परिप्रेक्ष्य था। यह कुछ

ऐसा ही था जैसा विज्ञान में थामस कुन ने अपनी पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रेवोल्यूशन' में कहा था कि विज्ञान में क्रान्ति का सोच कैसे बदला उनका विचार था कि जब समय आता है तब या तो किसी विषय पर प्रयास बीच जाने के कारण या उस क्षेत्र में शोध की बहुतायत से एक नये परिप्रेक्ष्य की सृष्टि हो जाती है।

14.2.4 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य व विचार की समीक्षा

'सबआल्टर्न स्टडीज' के पहले खण्ड में रणजीत गुहा ने अपने कथन में कुछ आरोपों जैसी बात की थी। उनकी मान्यता थी कि अब तक जो ऐतिहासिक विश्लेषण चल रहे हैं उनकी महत्ता धीरे-धीरे कमजोर पड़ रही है और उनका कोई अर्थ भी नहीं है। उनका केन्द्र तथा सीमाएँ धीरे-धीरे शिथिल पड़ रही हैं। अर्थ यही था कि इतिहास के पुराने विश्लेषण को तिलांजलि दे देनी चाहिए। इसी क्रम में उन्होंने सुझाया कि हमारा ध्यान अब दबे कुचले समूहों पर होना चाहिए। यह वह परिप्रेक्ष्य है जिसकी चर्चा होती रही है। ऐसे लोगों, जो युद्ध में तोपों को घसीटते रहे और तोप छोड़ने के लिए सहयोग देते रहे, की परवाह अब करनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त राबर्ट के. मर्टन द्वारा प्रतिपादित यह आधार कि कुछ नये पैराडाइम अध्ययनों को समझने के लिए होने चाहिए, ने नयी सोच पैदा की और इसीलिए पुरानी सोच को समझने का प्रयास प्रारम्भ किया। यह कुछ ऐसा था जैसे किसी शास्त्र के पुराने सन्दर्भ समाप्त कर किन्हीं नये सन्दर्भों के आधार पर नयी व्यवस्थाएँ स्थापित की जाएँ। बौद्धिक विश्लेषणात्मक निबन्धों का लगातार प्रकाशन और उसमें निहित अकादमिकता ने इन प्रयासों को एक नयी वैधता दी।

प्रारम्भिक वर्षों में जो लोग अधीनस्थ समूह के परिप्रेक्ष्य के साथ जुड़े हुए थे, उन्होंने अकादमिक संस्थानों में बहुत हस्तक्षेप नहीं किया। लेकिन ऐसे लेखकों के प्रयास काफी प्रभावशाली थे। दो दशाब्दियों में 6 पुस्तकें तथा 24 लेख लिखे गये थे। इनमें से कुछ भारतीय भाषाओं से अनुमोदित किए गए थे। बौद्धिक उत्पादन का यह बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण था। अपनी-अपनी रुचि के आधार पर यह लेखन पन्द्रह भागों में प्रकाशित हुआ था। इस सारे लेखन में एक ही बात समान थी कि यह सारा लेखन अधीनस्थ समूहों के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया था। यह सभी लेखन शोधपूर्ण क्षमता के आधार पर हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस सब को देखकर इस नये परिप्रेक्ष्य के प्रति मानसिकता विकसित हुई।

'सबआल्टर्न स्टडीज' के खण्डों के प्रकाशन और उसके प्रति लोगों का आकर्षण तथा उसकी लोकप्रियता ने कम से कम यह स्पष्ट कर दिया था कि नया परिप्रेक्ष्य विकसित हो गया है। यह कहा जा चुका है कि अधीनस्थ समूह के सन्दर्भ में इतिहास परिप्रेक्ष्य थे। इसीलिए इस परिप्रेक्ष्य के आलोचक भी थे। 1988 में मृदुला मुखर्जी के समर्थकों ने कहा था कि यह परिप्रेक्ष्य पुरानी बोटल में नयी शराब की तरह है। इस पर इस परिप्रेक्ष्य के समर्थकों ने कहा था कि इस परिप्रेक्ष्य पर विद्वान पहले से ही सशक्त थे और उनको इस परिप्रेक्ष्य के प्रति शंकाएँ थीं। लेकिन इस बीच कई लोगों ने इस परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में सहमति व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। उनका विश्वास था कि नया परिप्रेक्ष्य किन्हीं स्पष्टीकरणों को प्रस्तुत करने में समर्थ है।

14.2.5 उभरता अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य

अधीनस्थ समूहों के सम्बन्ध में पहला वक्तव्य 'सबआल्टन स्टडीज' के पहले भाग में दिया गया है। गुहा ने उसका समर्थन किया है। यह वक्तव्य विभिन्न बिन्दुओं में निहित था। वक्तव्य में कहा गया था कि अब तक इतिहास ने केवल श्रेष्ठजनों के सम्बन्ध में ही लिखा है। अधीनस्थ समूहों, गरीबों और दबे कुचलों की इसने अवहेलना की है। अब तक इतिहास में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा गया वह राष्ट्रीय आन्दोलन की सेवाओं के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया था। जैसा कि भी है यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास को लिखते समय ऐसे समूह अछूते छोड़ दिए गए या राष्ट्रीय आन्दोलन में इन लोगों के योगदान की कोई विशेष परवाह नहीं की गई। गुहा का मत था कि अधीनस्थ समूह का परिप्रेक्ष्य आवश्यक है, जिससे भारतीय समाज के उन लोगों को देखा जा सके जो राष्ट्र की मुख्य धारा थे और इतिहास में विभिन्न संघर्षों के वाहक थे।

भारतीय समाज वैज्ञानिकों की उपर्युक्त चिन्ताओं का यह समर्थन है। भारतीय सामाजिक क्षमताओं की समझ के लिए वे यह मानते हैं कि यह वर्ग उनसे छूट गया है। इतिहास और नृजातीयशास्त्र ने कृषक तथा आदिवासी आन्दोलनों के लिए काफी महत्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं। अधीनस्थ समूहों का इतिहास लेखन श्रेष्ठजनों द्वारा की जाने वाली राजनीति तथा उन राजनीति के बीच संतुलन लाने का प्रयास है। (धनागरे, 1993)। जन द्वारा इतिहास में योगदान, सम्भवतः इसलिए स्थान नहीं पा सका क्योंकि वे गरीब थे, उनकी कोई पहचान नहीं थी और उनके बारे में कुछ लिखा भी नहीं गया था। न उनके पास साधन थे और न ही उनके पास कोई व्यवस्था थी, जिससे वे अपनी पहचान बना पाते। अधीनस्थ समूहों के इतिहास लेखन में इन समूहों का अर्थ था, वे समूह जो स्वतंत्र थे और जिनका श्रेष्ठजनों के साथ सम्बन्ध नहीं था। विचारधारा की दृष्टि से इस परिप्रेक्ष्य के अर्थ श्रेष्ठजन के साथ नहीं जुड़ते थे। वस्तुतः अधीनस्थ समूहों के सन्दर्भ में विचारधारा इतनी गुणात्मक और विश्लेषणात्मक नहीं थी। ज्यादातर यह भी कहा गया कि इसका सम्बन्ध एक विशिष्ट वर्ग से ही था (सिंधी 1996)। भूतकाल के विश्लेषण के लिए गुहा की योजना केवल इतनी थी कि वर्तमान में भविष्य में परिवर्तन के लिए पहले किये गए उनके प्रयासों को समझा जा सके। एक अभ्युदय परिवर्तनवादी चेतना का रूपान्तरण इससे समझा जा सके (धनागरे, 1993)। कृषक तथा किसान आन्दोलनों को मात्र खोज का विषय नहीं समझना चाहिए बल्कि उनके प्रयासों को इतिहास निर्माण के रूप में समझा जाना चाहिए। स्पष्टतः ऐसी सोच मार्क्सवादी थी। भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा मार्क्सवाद की स्वीकारोक्ति अनेक कारणों से थी। मार्क्सवाद ने भारतीय समाज में भविष्य के विकल्प को समझने के लिए ठोस समाजशास्त्रीय सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया था। बुद्धिजीवियों के लिए यह सब कुछ भावात्मक और पहचान किये जाने वाले प्रसंग थे। मार्क्सवाद पर अपार साहित्य ने भी पाश्चात्य समाजवाद के विरुद्ध एक विशिष्ट मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से नयी सोच को विकसित करने में मदद करने में भी मदद की। मार्क्सवाद का पेराडाइम नव बौद्धिकों के लिए महत्वपूर्ण था।

अधीनस्थ समूह अध्ययनों ने उन सम्भावनाओं को जन्म दिया जिनके आधार पर जन जीवन, संस्थाओं, उनकी समस्याओं, आन्दोलनों और मूल्यों को स्थापित तथा क्षेत्रीय स्तर पर समझा जा सकता था। इसीलिए इतिहास के इस लेखन को मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में नहीं इतिहास लेखन तथा संस्कृति लेखन के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति लेखन परिप्रेक्ष्य को विचारात्मक सैद्धान्तिक तथा

आनुभविक सन्दर्भों में संयोजित किया जा सकता है। यह भारत के व्यक्तियों, उनके द्वारा किए जा रहे स्वयं के सामाजिक प्रबंध स्थानीय सूक्ष्म स्तर पर और क्षेत्रीय वृहद् पर समझने में समर्थ हो सकता है। यह एक ऐसी योजना है जिससे वर्तमान समाज की बहुलता, वैचारिकता और समाज में व्याप्त विभिन्न आधारों को समझा जा सकता है।

किसानों और श्रमिकों के आन्दोलनों की व्याख्या, जो अधीनस्थ समूहों के अध्ययनों में की गई है, यह दर्शाती है कि भारतीय समाज का एक पक्ष जन के समाजशास्त्र से समझा जा सकता है। आन्दोलन एक प्रक्रिया है, जो विरोध के सन्दर्भ में उन सम्बन्धों को व्यक्त कर सकती है, जिनका आधार अधीनता, शोषण और उत्पीड़न से है। इन्हीं के विरुद्ध संगठित होकर उसके विरोध करने के प्रयास हैं। यही प्रयास विचारधारा में बदल सकते हैं। समाज में व्यक्ति कई स्थानों पर विचारधारा से ही प्रभावित होते हैं। धर्म, सामाजिक संस्थाएँ राजनीतिक और सामाजिक प्रचलन सभी कुछ विचाराधारात्मक हैं।

स्थानीय नायकों, सामुदायिक नेतृत्व, बहुत से व्यक्तियों, अकादमिक तथा साहित्यिक छवियाँ, जो विचारधाराओं से जुड़ी हुई हैं, को मात्र विचारधाराओं के तत्व और विचारों के सन्दर्भ में नहीं समझा जा सकता है, बल्कि व्यक्तियों के सामाजिक जीवन और अस्तित्व के स्तर पर उनके दिन-प्रतिदिन के जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में भी समझा जा सकता है।

14.2.6 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के साथ जुड़ी हुई गुणवत्ता।

अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य अब भी निष्क्रियता में है। परिप्रेक्ष्य एक प्रचलन सा बन गया है। यद्यपि अब भी यह स्थापित करना शेष है कि शोध कार्यों और विश्लेषण में पूर्व स्थापित साधनों से यह कहा तक श्रेष्ठ है। समाज विज्ञानों में इनका अपना अस्तित्व क्या है ? प्रारम्भिक समाजशास्त्र जो समय के साथ मार्क्सवादी या व्यावहारिक विश्लेषण के प्रवेश के साथ भी यह प्रश्न उठ खड़े हुए थे। इनका प्रयोग भी बड़ा था। अब प्रश्न यह है कि अधीनस्थ समूहवादी कितने हैं ? कुछ लोगों का विचार है कि इस परिप्रेक्ष्य की स्वीकारोक्ति या इसका विरोध वस्तुतः लोगों के व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य पर निर्भर है। उदाहरण के लिए सुमित सरकार जो पहले अधीनस्थ समूह के अध्येता थे, बाद में इसके आलोचक हो गए। उन्होंने अपने अध्ययन साहित्य तथा संस्कृति के आधार पर करने प्रारम्भ किए। यही पद्धति प्रभावशाली होने लगी। उनका विरोध इस परिप्रेक्ष्य से राजनीति को हटाने से था, जो बाद में चलकर अधीनस्थ समूहों के आधारों में सम्मिलित हुआ। उनका आरोप था कि मात्र प्रभुत्ता तथा पराधीनता की संस्कृति के स्वरूपों को समझने से ही समस्या हल नहीं होती। राजनीति का जो प्रभुत्वशाली आधार है, उसका विस्तृत अध्ययन अधीनस्थ समूहों के अध्ययनकर्ताओं ने नहीं किया है, जो उनके समक्ष थे। लगातार संस्कृति पर विचारों और अधीनस्थ समूहों की संस्कृति की वैधानिकता पर प्रश्न क्या देशी स्थानीय संस्कृतियों को मजबूत नहीं करेगी, जो देशी है वही ठीक है, की भावना वस्तुतः एक प्रकार के प्रभुत्व को पैदा करती है काफी समय से अधीनस्थ समूहों पर शोध कार्य कर रहे विद्वानों के लिए ऐसी आलोचनाएँ चिन्ता का विषय नहीं है।

अधीनस्थ समूहों के ये अध्ययन निरन्तर बढ़ते रहे हैं और उनकी एक संरचना स्थापित हुई है। ऐसे अध्ययनों को इतिहासकारों द्वारा प्रशंसा भी मिली और आलोचना भी। मृदुला मुखर्जी ने इकोनॉमिक्स एंड पोलिटिकल वकीलों में अपने एक लेख में लिख है कि उन्हें ऐसे अध्ययनों पर कोई ऐतराज नहीं है। वे

स्वयं परिप्रेक्ष्य के प्रति संवेदलशील है। हालांकि अपनी चिन्ताओं के लिए वे अधीनस्थ शब्द का प्रयोग नहीं करतीं। समाजशास्त्री तथा मानवशास्त्री, जो किनारे खड़े इतिहासकारों के संघर्ष को देख रहे थे, वस्तुतः कुछ कि कर्तव्यविमूढ़ की मुद्रा में थे। 'कन्द्रीब्यूशन्स टू इंडियन सोशयोलॉजी' में अधीनस्थ समूह के अध्ययनों पर समीक्षाएँ तथा समीक्षा लेख प्रकाशित हुए थे। उनके अनुसार औपचारिक संस्थागत आधारों के प्रति यह परिप्रेक्ष्य संवेदलनशील रहा है। समाजशास्त्रीय तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों की मान्यता थी कि जाति और ग्रामीण अध्ययनों में पहले ही अधीनस्थ समूह के कई पक्षों का अध्ययन किया जा चुका है। जाति व्यवस्था और ग्रामीण व्यवस्था के अध्ययनों में इन आधारों की ओर ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। 1990 तक समाजशास्त्रियों की अकादमिक कड़ियाँ इतिहास से जुड़ी हुई थीं। समाजशास्त्रियों ने इतिहास की समझ के लिए इस परिप्रेक्ष्य को भी स्वीकार कर लिया था। अमिताभ घोष ने कई रचनाएँ लिखीं। क्या यह इस बात का सूचक है कि कहा जाए कि अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य अब आ गया है।

14.2.7 कृषक विद्रोह

भारत में कृषक विद्रोह के सम्बन्ध में हमें जानकारी ब्रिटिश शासनकाल के दौरान अंग्रेजों के औपनिवेशिक नीति के कारण मिलती है। अंग्रेजों के आने से पहले यदि हम भारत के इतिहास को देखें तो राजे-महाराजे तथा सुल्तान एवं बादशाह के शासन काल में हमें कृषक विद्रोह देखने को नहीं मिलता है। इसका कारण यह था कि भारत के शासकों द्वारा कर निर्धारित था एवं आकाल तथा सुखा के समय कृषकों के कर माफ भी कर दिया जाता है। किसान कृषि कर चुकाने के लिए शाहूकारों या शूदखोरों से कर्ज लेकर शायद ही चुकाता था। किसान जितना की अंग्रेजों के शासन काल में था। ब्रिटिश शासन के दौरान जो पहले सामंत एवं किसानों के बीच आत्मीय सम्बन्ध थे वे टूट गए। ब्रिटिश शासन ने अपनी आय या राजस्व को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने के लिए भारत में भू-राजस्व नीति लाई। इस नीति के तहत ही भारत में जमींदारी प्रथा, रैयतवाड़ी प्रथा एवं महलवाड़ी प्रथा की शुरुआत हुई। इस प्रथा में अंग्रेजों ने उस व्यक्ति का भूमि का मालिक माना जो ज्यादा से ज्यादा बोली लगाकर उसे ले। इस प्रकार से ऊँची बोली वाले लोग जमींदार हो गए। बाद में अंग्रेजों ने इस प्रथा को स्थाई बना दिया। जमींदार तभी तक जमीन का मालिक होता था जब तक जमींदार एक निश्चित अवधि से पहले तक लगान देता था। यदि निश्चित समय तक लगान जमींदार नहीं देता था तो उसकी जमींदारी का निलाम कर दिया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जमींदारों पर भी अंग्रेजों को कर/लगान देने के बाध्य थे। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनकी जमींदारी ही खतरे में पड़ जाती थी। अंग्रेजी सरकार को सिर्फ एवं सिर्फ लगान से मतलब था चाहे सुखा हो या आकाल। किसान भी भूमि कर देने के लिए बाध्य था चाहे कृषि का उत्पादन हो या न हो। सुखा हो या आकाला प्रत्येक स्थिति में किसान कर देने के बाध्य था। इस कर को देने के लिए किसानों द्वारा शाहूकारों से ऋण लिया जाता था एवं किसान ऋण के जाल में फंस जाता था कि वह कभी भी इससे मुक्त नहीं हो पाता था। किसानों के लिए सिर्फ दो ही रास्ते बचते थे या तो सपरिवार आत्महत्या करे या सरकार के विरुद्ध विद्रोह। भारत के कई हिस्सों में असंतोष व्याप्त हो गया। इसी असंतोष का परिणाम विद्रोह के रूप में उभरा जिसे हम किसान/कृषक विद्रोह के रूप में जानते हैं।

भारत में कृषक विद्रोह की ऐतिहासिकता अक्सर ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर विद्रोह से निपटने के लिए औपनिवेशिक प्रशासन के प्रयासों का रिकार्ड रहा है। ब्रिटिश शासन ने किसान विद्रोह को अपराध या पैथोलॉजी के रूप में देखा। उन्होंने कभी भी इसे सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष के रूप में नहीं देखा। रणजीत गुहा भारत के ग्रामीण क्षेत्रों के किसान संघर्ष को समझना चाहते थे। रणजीत गुहा अपनी पुस्तक “एलिमेंट्री आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेंट इनसर्जेंन्सी इन कोलोनिअल इंडिया” में औपनिवेशिक भारत में किसान विद्रोह के प्राथमिक पहलुओं के अध्ययन में (1983) विद्रोहियों के उद्देश्यों और उद्देश्यों को समझने की विफलता को सही करने की कोशिश करता है। रणजीत गुहा ने किसान के दृष्टिकोण को अपनाया और “किसान विद्रोही की अपनी दुनिया के बारे में जागरूकता और उसकी इच्छा बदलने की जाँच” की जाँच की। 1783–1900 के बीच की अवधि में रणजीत गुहा ने उन प्राथमिक बुराइयों को समझने का प्रयास किया जो उस अवधि की किसानी मानसिकता को स्पष्ट करते थे।

इस अध्ययन का उद्देश्य संघर्षों की श्रृंखला को समझना नहीं था बल्कि पुरा उद्देश्य एक सामान्य अवस्था को समझने का था जो किसानों की अधीनस्थता और उससे मुक्ति पाने के प्रयासों के साथ जुड़ा हुआ था। यदि कोई राष्ट्रवादी और कम्युनिष्ट नेतृत्व के लिए मान्यता प्राप्त लोकप्रिय आन्दोलनों पर ध्यान से देखें तो रोलेट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह हो या भारत छोड़ो आन्दोलन हो या तेभागा आन्दोलन हो या तेलंगाना आन्दोलन ही जो अपनी ही तरह के थे, उनकी संरचनाओं में बहुत कुछ समानताएँ थी। इस पुस्तक में आठ अध्याय शामिल हैं जिनमें परिचय और उपन्यास शामिल हैं। मुख्य अध्याय हैं—नकारात्मक, अस्पष्टता, मॉडेलिटी, एकता, ट्रांसमिशन और क्षेत्रीयता।

अध्ययन उन ऐतिहासिक सम्बन्धों की चर्चा करता है जो प्रभुत्वशाली अधीनता के थे। ब्रिटिश सत्ता में सारे भारत में अधीनता का यही स्वरूप था ऐसा स्वरूप 1900 तक चलता रहा। यह कहा गया कि सभी समाजों के इतिहास में परस्पर विरोधी वर्ग व्यवस्था रही है। विभिन्न समयों में इसका स्वरूप अलग-अलग रहे हैं। लेकिन चाहे जो स्वरूप रहे हों, एक बात सामान्य रही है कि एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता रहा है। यह कथन समस्त युगों पर समान रूप से लागू है। भौतिक तथा आध्यात्मिक परिवेश में परस्पर विरोध रहा है। श्रेष्ठजन और किसानों के बीच आमूलचूल परिवर्तन के आन्दोलन इस प्रकार के विभेदों को मिटाने के लिए होते रहे हैं। ऐसी वर्ग संरचना एक-दूसरे की पूरक है। यह बात साफ है कि भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन वह नहीं है जैसा कि श्रेष्ठ इतिहासकारों के बयान किया है। वस्तुतः विद्रोह की परम्परा पहले से ही इस देश में मौजूद थी। भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी के प्रवेश तथा जवाहर लाल नेहरू के भारत की खोज से भी पहले किसानों के विद्रोह की परम्पराएँ मौजूद थी। स्वाधीनता संग्राम के आन्दोलन उसी परम्परा को निभा रहे थे।

14.3 निष्कर्ष

रणजीत गुहा अधीनस्थ समूह अध्ययन के पहले सम्पादक थे जिन्होंने अधीनस्थ का अर्थ सिर्फ कनिष्ठ अधिकारी नहीं होता बल्कि इस शब्द का प्रयोग अकादमिक लेख के रूप में किया। रणजीत गुहा ने अधीनस्थ समूह अध्ययन के नाम से एक श्रृंखला प्रकाशित की जिनका उद्देश्य समाजशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में एक अलग अध्ययन का तरीका उपलब्ध कराना था। गुहा ने इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग समाज के कमजोर लोगों के दृष्टिकोण से अध्ययन में करते हैं गुहा ने इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग करते हुए भारत

में औपनिवेशिक काल में हुए किसान विद्रोह की व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि उपनिवेशवादियों ने विद्रोह की अपराध के रूप में देखा कभी भी सामाजिक न्याय के रूप में संघर्ष को नहीं देखा।

14.4 भावी अध्ययन

- 1) A rule of Property for Bengal: An essay on the idea of the permanent settlement (1963)
- 2) Subaltern Studies
- 3) Elementary Aspects of insurgency in colonial india

14.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न—Long Questions

- 1—भारत में विद्रोह के सम्बन्ध में रणजीत गुहा के विचारों को स्पष्ट करें।
- 2—अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में डेविड हार्डीमैन तथा रणजीत गुहा के अध्ययन में तुलनात्मक सम्बन्ध स्थापित करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न—Short Questions

- 1—रणजीत गुहा के अनुसार अधीनस्थ समूह अध्ययन में कैसे गुणवत्ता लाई जा सकती है।
- 2—अधीनस्थ समूह से सम्बन्धित इतिहास शास्त्रीय पद्धति क्या है।
- 3—अधीनस्थ समूहों का उभरता परिप्रेक्ष्य से क्या तात्पर्य है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न— Objective Questions

- 1—इनमें से कौन अधीनस्थ समूह अध्ययन से सम्बन्धित नहीं है?

- | | |
|-------------------------|---------------------|
| (क) रणजीत गुहा | (ख) डेविड हार्डीमैन |
| (ग) डॉ. भीमराव अम्बेडकर | (घ) योगेन्द्र सिंह |

- 2—इनमें से कौन सी रचना रणजीत गुहा की है?

- | | | |
|----------------------------------|--------------------|------------------|
| (क) ए रूल ऑफ प्रापर्टी फार बंगाल | (ख) फिडिंग द बनिया | (ग) हू वर शूद्रा |
| (घ) कास्ट इन इण्डिया | | |

- 3—इनमें से कौन सी रचना रणजीत गुहा की नहीं है?

- (a) A rule of Property for Bengal
- (b) Subaltern Studies
- (c) The coming of Devi
- (d) Elementary Aspects of insurgency in colonial india

4. कृषक विद्रोह के अध्ययन के लिए रणजीत गुहा ने किस अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया।

(क)	संरचनात्मक पद्धति	(ख)	प्राकार्यात्मक पद्धति
(ग)	अधीनस्थ समूह पद्धति	(घ)	संघर्षवादी पद्धति

उत्तर— 1—द, 2—क, 3—C, 4—स

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1-Dhanagare, D.N (1993), Themes And Perspectives In Indian Sociology, Jaipur : Rawat Publications.

2-Guha, Ranjit, (1963), A Ruke Of Property For Bengal : An Eassay On The Idea Of The Permanent Settlement, Paris.

3-Guha, Ranjit (1983), Elementary Aspects Of Insurgency In Colonal India, Delhi : Oxford University Press.

4-Laclau, Ernesti, (1979), Polotics And Ideology In Marxist Theory, Loadon: Verso Publications.

5-Singhi, N.K. (Ed.), (1996), Theory And Ideology In Indian Sociology, Jaipur: Rawat Publications.

6-बी.के. नागला, भारतीय समाजशास्त्री चिन्तन, रावत पब्लिकेशन, जयपुर

इकाई-15

डेविड हार्डीमैन (David Hardiman)

इकाई की रूपरेखा-

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 परिचय
- 15.2 पद्धतिशास्त्र
- 15.3 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य
- 15.4 डेविड हार्डीमैन द्वारा किया गया अध्ययन
- 15.4.1 दक्षिण गुजरात में देवी आंदोलन
- 15.4.2 प्रतिरोध की उत्पत्ति
- 15.4.3 बनिया को दूध पिलाना
- 15.5 निष्कर्ष
- 15.6 भावी अध्ययन
- 15.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
- दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
 - लघु उत्तरीय प्रश्न
 - वस्तुनिष्ठ प्रश्न
- 15.8 संदर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं:

1. डेविड हार्डीमैन के जीवन परिचय को जाने का प्रयास करना।
2. डेविड हार्डीमैन के कार्यों और प्रसंगों को समझना।
3. भारत में प्रभुत्वशाली वर्ग तथा अधीनस्थ वर्ग के मध्य सम्बन्ध को समझना।
4. अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के माध्यम से यह समझना की कैसे प्रभुत्वशाली वर्ग अधीनस्थ वर्गों का शोषण करते हैं।
5. गुजरात में देवी आंदोलन की उत्पत्ति एवं वहाँ के लोगों में आई जागरूकता को समझना।
6. बनियों द्वारा आकाल एवं सूखा के समय स्थानीय लोगों आर्थिक सहायता देना तथा बाद में बनियों के द्वारा इनका शोषण करना।

7. आदिवासीयों में आई जागरूता को समझना एवं स्वयं को बनियों तथा जमीनदारों से होने वाले शोषण से बचाना।

15.1 डेविड हार्डीमैन का जीवन परिचय

डेविड हार्डीमैन जन्म अक्टूबर 1947 ई0 में पाकिस्तान के रावलपिंडी में हुआ। आपने लिक्सेस्टर विश्वविद्यालय तथा ऑक्सफोर्ड विश्व विद्यालयों में अध्ययन किया वर्तमान में यह यूनिवर्सिटी ऑफ वारविक, यूके से सम्बद्ध है। 1980 में आप सूरत स्थित 'सेंटर फॉर स्टडीज इन सोशल साइंसेज' के रिसर्च फेला के छात्र रहे। 1981 ई0 में डेविड हार्डीमैन सामाजिक विज्ञान संस्थान कलकत्ता से सम्बद्ध रहे। आप एक विशद लेखक रहे हैं इसके साथ ही आपके द्वारा अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य को विकसित किया गया। डेविड हार्डीमैन इस अधीनस्थ समूह अध्ययन समूह के संस्थापक सदस्य थे सबसे उल्लेखनीय बात यह रही कि 1982 ई0 के बाद आपकी जो भी रचनाएँ प्रकाशित हुई वे सब के सब अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित भी।

आप (डेविड हार्डीमैन) एक समाजशास्त्रीय, संवेदनशील इतिहासकार हैं। आपका सबसे बड़ा योगदान सब अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य की विकसित करने में रहा। एक इतिहासकार के रूप में आपकी विशेषज्ञता आधुनिक भारत के इतिहास के संदर्भ में रही। 1960 के दशक में आपने अपने आप को दक्षिण एशिया के इतिहास पर अध्ययन पर केंद्रित किया और इस अवधि में आपने भारत में रहते हुए दक्षिण एशिया में उपनिवेशीय आधारों को समझने के लिए विशेषकर ग्रामीण समाज पर औपनिवेशिक शासन के प्रभावों पर ध्यान केंद्रित किया। डेविड हार्डीमैन के अधिकांश रचनाएँ दक्षिण एशिया में उपनिवेशीय आधारों को समझने के लिए लिखी गईं। डेविड हार्डीमैन के रचनाओं में औपनिवेशिक कालीन ग्रामीण समाज, विभिन्न स्तरों पर शक्ति सम्बन्ध, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन भारतीय राष्ट्र एवं पर्यावरणीय इतिहास से सम्बंधित विषय शामिल हैं।

डेविड हार्डीमैन 1970 के दशक के अंत में दक्षिण एशिया में अधीनस्थ समूहों के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने वाले इतिहासकारों के सम्पर्क में आए और इन समूह में शामिल होकर अध्ययन किया। ग्रामस्कीयन द्वारा प्रतिपादित सब आल्टर्न जिसका अर्थ है अधीनस्थ समूह को समाज में वर्चस्व और अधीनता के सम्बन्धों की केंद्रीयता पर बल देने के लिए चुना गया था, जिसमें वर्ग के विभाजन को औद्योगिक दुनिया में विकसित नहीं किया गया था। अधीनस्थ समूह का यह भी अर्थ है कि समाज में प्रभुत्वशाली तथा अधीनस्थ लोगों के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन।

डेविड हार्डीमैन ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का स्थानिय स्तर पर परीक्षण किया एवं इसके लिए उन्होने गुजरात को चुना। चूँकि गुजरात महात्मा गाँधी का गृह क्षेत्र था एवं महात्मा गाँधी गुजरात के किसान आंदोलन, मजदूर आंदोलन आदि में आम जनता से प्रत्यक्ष जुड़े थे। अतः इनका अध्ययन गाँधी का नेतृत्व एवं सक्रिय ग्रामीण किसानों के बीच सम्बन्ध एवं विद्रोह था। इसके लिए डेविड हार्डीमैन ने सबसे पहले ग्रामीण समाज की शक्ति संरचनाओं की जाँच की। एवं पाया कि कैसे एक रूपी अधिकार एवं इस अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए कैसे विद्रोह होते हैं। डेविड हार्डीमैन ने गुजरात के शराब विक्रेताओं के खिलाफ आदिवासियों के विरोध के आन्दोलन का भी अध्ययन किया जिन्होंने अंग्रेजों द्वारा आपूर्ति के एकाधिकार का अधिकार प्राप्त किया था और इन शराब के ठेकेदारों ने खुद को आदिवासियों की कीमत पर समृद्ध किया था।

डेविड हार्डीमैन ने महात्मा गाँधी के भारत एवं विश्व में उनकी विरासत पर एक किताब लिखी। जो महात्मा गाँधी पर उनका विशेष अध्ययन है। इस किताब में महात्मा गाँधी जी के समय की स्थिति तथा सामाजिक परिवेश का गहन अध्ययन किया गया है। भारत में रहते हुए महात्मा गाँधी की विरासत का आँकलन करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

डेविड हार्डीमैन ने सन् 1983 से 1989 तक गुजरात में सामाजिक अध्ययन केंद्र में रिसर्च फेलो के रूप में काम किया। यहाँ पर इन्होंने सरकार और गैर सरकारी संगठन विकास परियोजनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। अपने ऐतिहासिक शोध और लेखन को और विकास सम्बन्धित शोध परियोजनाओं पर भी काम किया।

15.2 पद्धतिशास्त्र

डेविड हार्डीमैन ने अपने अध्ययनों जिन पद्धतिशास्त्र का प्रयोग किया वह है अधीनस्थ समूहों का परिप्रेक्ष्य हार्डीमैन अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के प्रतिपादकों में एक है। यह परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज के अध्ययन का एक तरीका है। इस परिप्रेक्ष्य के माध्यम से आदिवासी तथा किसान आंदोलनों की समझा जा सकता है। यह समाज के उच्च तथा निम्न लोगों के बीच राजनीति का समझने का एक महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य है। अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य इतिहास को समझने का एक नया नजरिया प्रदान करता है। यह परिप्रेक्ष्य स्वयं का ही अपना इतिहास बनाने का प्रयास करता है आदिवासियों, किसान, दलित एवं कृषक मजदूर अभी तक सिर्फ इतिहास के पात्र रहे हैं लेकिन यह परिप्रेक्ष्य उनके द्वारा स्वयं के इतिहास लेखन की क्रिया है। यह बदलती हुई परिस्थितियों में उत्पन्न जागरूकता की है।

15.3 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य

अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज में दलितों, शोषितों एवं निम्न वर्ग के लोगों का अध्ययन का एक तरीका है। डेविड हार्डीमैन ने इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग कर भारतीय समाज का अध्ययन किया। इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग कर भारतीय समाज का अध्ययन करने वाले प्रमुख विद्वान डॉ. भीमराव अम्बेडकर, रणजीत गुहा, डेविड हार्डीमैन तथा कपिल कुमार आदि हैं। अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य यह बताता है कि इतिहास सिर्फ राजाओं महाराजाओं एवं राष्ट्रवाद का वर्णन नहीं है बल्कि इसमें कमजोर, दलित एवं शोषित लोगों के आवाज इसमें शामिल हैं। अतः इतिहास का पुनःलेखन किया जाना चाहिए। यही कारण है यह परिप्रेक्ष्य राजाओं, महाराजाओं के इतिहास को छोड़कर अधीनस्थ समूह जैसे किसान, गरीब, दलित, भूमिहीन श्रमिक एवं शोषित किसान पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। यह परिप्रेक्ष्य इस बात पर भी बल देता है कि कैसे अधीनस्थ समूह में स्वयं के प्रति चेतना आती है। इस चेतना के पीछे अधीनस्थ समूह के विभिन्न आंदोलनों का हाथ है जो किसानों, आदिवासियों एवं साहूकारों तथा नगरीय व्यापारियों के बीच हन्द के कारण उत्पन्न हुआ। ब्रिटिश शासन व्यवस्था के विरुद्ध भी अधीनस्थ समूह के लोगों ने संघर्ष किया। इन संघर्षों का ही परिणाम था कि अधीनस्थ समूह के लोगों में जागृति आई एवं वे अपनी स्थिति सुधारने में सफल रहे।

डेविड हार्डीमैन द्वारा किया गया विभिन्न अध्ययन—

1. दक्षिण गुजरात में देवी आंदोलन
2. प्रतिरोध की उत्पत्ति
3. बनियों को दूध पिलाना

15.4 डेविड हार्डीमैन द्वारा किया गया अध्ययन

डेविड हार्डीमैन ने भारत में शोषितों, दलितों एवं आदिवासियों का अध्ययन किया, तथा अपने अध्ययन में पाया कि कैसे प्रभुत्वशाली वर्ग, साहूकार इनका शोषण करते हैं और किस प्रकार से राजसत्ता का उपयोग ये इनका शोषण करने के लिए किया करते हैं। साथ ही इन्होंने यह भी पाया कि शोषितों का शोषण किस प्रकार से किया जाय कि उन में इनके प्रति (साहूकार, प्रभुत्वशाली वर्ग) विद्रोह भी न पनप सके। डेविड हार्डीमैन द्वारा किये गये अध्ययन को हम निम्नलिखित बिन्दुओं से समझ सकते हैं—

15.4.1 दक्षिण गुजरात में देवी आंदोलन

डेविड हार्डीमैन ने दक्षिण गुजरात में देवी आंदोलन के अपने अध्ययन अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का उपयोग किया। इन्होंने दक्षिण गुजरात में 20 वीं शताब्दी के शुरुवाती दिनों में जिस जन आंदोलन को देखा उसे वहाँ देवी आंदोलन कहा गया है। यह एक शांतिपूर्ण आंदोलन था जो यहाँ के जनजातीय

लोगों के नेतृत्व में एक विस्तृत क्षेत्र में फैला था। इस आंदोलन में काफी संख्या में लोग शामिल थे और यह आंदोलन यहाँ के आदिवासियों में सामाजिक सुधार लाने पर आधारित था। इस आंदोलन का नेतृत्व स्वयं आदिवासियों ने ही किया। डेविड हार्डीमैन ने देखा कि आदिवासी सरकारों के बीच यह आंदोलन वर्तमान सरकार अखबारों राष्ट्रवादियों और बाद के इतिहास कारों में इसे नजर अंदाज कर दिया है। ऐसे आंदोलनों पर कोई पूर्ण मोनोग्राफ भी नहीं है और न ही महत्वपूर्ण गतिविधियों के दस्तावेज मौजूद है। आदिवासियों के उद्धार के लिए बाहरी तथा बाहरी लोगों के प्रभाव जैसे महात्मा गाँधी, देवी आंदोलन या आदिवासी मूल के कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने आवश्यक कार्य किया है। आदिवासियों के इस कार्य के लिए कोई अपनी भूमिका नहीं निभाई। आयोजकों की भूमिका नगण्य थी। जो आंदोलन समाजवादियों द्वारा निर्देशित हो रहे थे वे आदिवासी क्षेत्र के बाहर से आए लोग थे। इस आंदोलन के लिए आदिवासियों के लिए न ही कोई प्रोत्साहन था और न ही कोई आधार। हार्डीमैन ने देखा कि आदिवासी जीवन के मौजूद पर्यवेक्षकों ने आदिवासियों के अस्तित्व को चुनौति दी और बताया कि आदिवासियों में कोई क्षमता है। इस प्रकार आदिवासी अस्तित्व का इस प्रकार से नकारा गया। हार्डीमैन तथा अन्य अधीनस्त समूहों पर कार्यरत लोगों ने इसकी आलोचना की।

15.4.2 प्रतिरोध की उत्पत्ति

आदिवासियों को मद्यपान, शराब के विरुद्ध कई व्यक्ति और समूहों ने चेतावनी दी थी। इसमें ग्रामीण अभिजात की और गाँव के भजन मंडल समूह शामिल हैं लेकिन आदिवासियों के चेतना में महत्वपूर्ण परिवर्तन देवी आंदोलन के साथ आया।

डेविड हार्डीमैन ने अपनी पुस्तक 'कमिंग ऑफ देवी' में पश्चिमी भारत में साहूकारों द्वारा आदिवासियों के शोषण के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की है। इनके अनुसार 1921 ई0 में पालघर तालुक के मछुवारों के बीच देवी आंदोलन एक छोटे से प्रायोजित समारोह के रूप में शुरू हुआ और बाद में यह गुजरात के अन्य क्षेत्रों में फैल गया। देवी आंदोलन के सम्बन्ध में डेविड हार्डीमैन ने देखा कि किस प्रकार आदिवासियों ने स्वयं को सामाजिक सुधार आंदोलन में शामिल किया बल्कि जमीनदारों एवं पारसी शराब विक्रेताओं के वर्चस्व के विरुद्ध विद्रोह भी किया। देवी आंदोलन के सम्बन्ध में देवी के बारे में डेविड हार्डीमैन बताते हैं कि पश्चिमी भारत में यह मान्यता बनी हुई थी कि देवी पूर्व के पहाड़ी से उत्तरी और उनकी माँग आत्मा के माध्यम से मुख द्वारा व्यक्त किया गया। भोपा अपने आदिवासियों के साथ लाल कपड़ा लेकर बैठता था और आत्मा के आने पर जोर-जोर से सिर हिलाता था तभी देवी की आज्ञाएँ सुनाई देती थी ये आज्ञाएँ निम्न हैं—

- 1—शराब और ताड़ी पीना बन्द करो।
- 2—माँस खाना बन्द करो।
- 3—साफ—सुथरा और सादा जीवन जीओ।
- 4—स्वच्छता से रहो।
- 5—आदमी को दिन में दो बार स्नान करना चाहिए।
- 6—औरतों को दिन में दो बार नहाना चाहिए।
- 7—पारसियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखें।

जब ये आज्ञाएँ समाप्त हो गईं तब देवी के रूप में तैयार की गई लड़की को सिक्कों का उपहार भेंट किये जाते थे और अंत में सभी लोग भण्डारा (एक साथ भोजन) करते थे। सामूहिकता और देवी के शब्द ने आदिवासियों के बीच चेतना में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न किया। इससे शाहूकारों और पारसियों के पंजों से मुक्ति मिली इसके साथ-साथ आदिवासियों में राजनीतिक लाम्बंदी बढ़ी एवं अंततः उनके जीवन स्तर में सुधार हुआ इस प्रकार हार्डीमैन मानते हैं कि इस देवी आंदोलन के कारण आदिवासियों को सम्पूर्ण मुक्ति मिल गई। आगे डेविड हार्डीमैन बताते हैं कि इस आंदोलन के कारण इन आदिवासियों को पारसियों से तो मुक्ति मिल गई लेकिन वे अपने ही प्रमुखों के अधिपत्य में आ गए। आदिवासियों में इस आंदोलन के कारण ही इनमें से कुछ श्रेष्ठजन के रूप में उभर कर आए जिन्होंने इस क्षेत्र में बड़े किसानों का पैर जमने नहीं दिया। इनके कारण ही आदिवासियों में स्वाभिमान आया और उन्होंने अपनी अवस्था को नियंत्रित भी किया। ये अंग्रेजों की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से जुड़ गए जिसे ब्रिटिश सरकार ने संरक्षण दिया। इस प्रकार यहाँ के आदिवासियों ने औपनिवेशिक सरकार में भी अपनी गरिमा और आत्म नियंत्रण बनाए रखने में कामयाब रहे। यहाँ तक कि जब देवी आंदोलन समाप्त हो गया उसके बावजूद भी इस क्षेत्र के आदिवासियों पर इसका व्यापक प्रभाव रहा। मुखर और उन्हें यदि दे रही हैं जिसमें सामूहिक कल्याण के लिए स्वयं सहायता और कार्यवाही शामिल है।

इस लिए यदि दक्षिणी गुजरात के वन क्षेत्र के आदिवासियों के वर्तमान अस्तित्व में विशिष्टता और आत्म-स्वामित्व की समझना है तो यह सिर्फ ऐसा पहला तरीका है जिसे आदिवासियों द्वारा निर्मित देवी आंदोलन को समझना होगा कि कैसे आदिवासियों ने देवी आंदोलन के प्रति अपनी रवैया रखी एवं कैसे इस आंदोलन में उन्होंने भाग लिया। अतः यदि समाज वैज्ञानिकों को डेविड हार्डीमैन द्वारा प्रस्तुत

उदाहरणों के आधार पर समझना होगा नहीं तो वे विशेष समझ से हट जायेंगे एवं गहन अध्ययन नहीं कर पायेंगे।

15.4.3 बनिया को दूध पिलाना

‘फीडिंग द बनिया’ नामक पुस्तक में हार्डीमैन ने शताब्दियों से ग्रामीण भारत में अधीनस्थ समूहों के ऊपर लोगों द्वारा शक्ति प्रयोग के स्वरूपों के सम्बन्ध में चर्चा किया है। इस पुस्तक में हार्डीमैन ने बताया है कि अधीनस्थ समूहों के शोषण के पीछे मजबूत राजनीतिक तथा सांस्कृतिक शक्तियाँ रही हैं। इन शक्तियों के प्रयोग से पीछे अनेक पक्ष रहे हैं। सबसे आश्चर्य बात यह है कि प्राचीन काल से ही ये शक्तियाँ नये वातावरण में भी उपस्थित हैं। प्रतिरोध किये जाने और विद्रोह की स्थिति उत्पन्न होने के बावजूद बनियों तथा व्यापारियों ने न सिर्फ अपनी स्थिति को बनाये रखा साथ ही साथ अधीनस्थ समूहों से सम्बन्धों को भी बनाये रखने में सफल रहे। और अपने लाभ को बरकरार रखा। हार्डीमैन ने यह देखने का प्रयास किया कि कैसे प्रभावशाली तरीके से ये शोषक अपने प्रचलनों को बनाये रख सकें राज्य की संरचना को मदद कर सकें जिनका वे शोषण कर रहे थे उनके साथ सम्बन्धों और विद्रोह की अवस्थाएँ क्यों बनीं।

पश्चिम भारत में एक कहावत जो बनियों के किसानों के ऊपर अधिपत्य सम्बन्ध को दर्शाता है हमने सेठ-बनियों को इतना प्यार दिया है कि उनकी निरन्तर माँग पर अपने द्वारा उत्पन्न अन्न से पेट भरते हैं, इसलिए बनिये धनी हो गए जबकि किसान स्वयं गरीबी के चक्र में फँस गए।

डेविड हार्डीमैन की यह दूसरी प्रमुख पुस्तक एक बड़े पैमाने पर कृषक समाज के एक बड़े पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ सम्बन्धों को दर्शाती है। डेविड हार्डीमैन ने ग्रामीण और धन के बीच सम्बन्धों में शामिल गहन अर्थों की जांच की। जिनका भी इन साहूकारों से कर्ज लेने का अनुभव है वही जानते हैं कि शोषण का स्वरूप क्या होता है? और गाँव का साहूकार कितना लाभप्रद है। यहाँ एक प्रश्न उठकर खड़ा होता है कि गाँव में भारतीय स्टेट बैंक या अन्य बैंकों की स्थानीय शाखा होते हुए भी ग्रामीण अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बनियों के पास क्यों जाते हैं? ये बैंक बिना किसी कठिनाई के सस्ते दर पर कर्ज उपलब्ध कर सकते हैं। इस पहली का जबाब का एक महत्वपूर्ण हिस्सा डेविड हार्डीमैन के अध्ययन द्वारा प्रदान किया गया। ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय तथ्यों से परिपूर्ण हार्डीमैन का मानना है कि किसान स्थानीय प्रमुख वर्ग के मकड़जाल में फसा हुआ है। बनिया स्वयं भले प्रमुख वर्ग का सदस्य न हो पर उसके निहित सम्बन्ध ऐसे प्रमुख वर्ग के सदस्यों के साथ हैं। ग्रामीण स्तर पर ये शक्तियाँ मजबूत रही हैं। यह एक समाज या जो पर्याप्त रूप में उन संस्थाओं और सम्बन्धों से परिपूर्ण पूँजीवादी

था। यहाँ साहूकारों ने विस्तृत रूप अपने लाभ कमाने के लिए एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी थी कि उत्पादन तो किसान करेगा लेकिन उनका वितरण उनके माध्यम से होगा। इस प्रकार सिर्फ उत्पादन पर ही ये बनिये अपने अनुसार अपने लाभ के लिए उत्पादित वस्तुओं को अपने नियंत्रण में रखते थे।

अपने अध्ययन में हार्डीमैन ने पश्चिम भारत के किसानों एवं शोषक बनियों के बीच अतः सम्बन्धों की चर्चा करते हैं और बताते हैं कि शोषक बनियों ने शताब्दियों से अधीनस्थ समूहों पर अपना अधिकार बनाए रखा। इस में डेविड हार्डीमैन ने बताया कि औपनिवेशिक काल के पहले तथा औपनिवेशिक शासन व्यवस्था में इन बनियों को राज्य की ओर से प्राश्रय मिला। यह प्राश्रय उन्हें राज्य की अधिपत्यवादी नीति तथा वैचारिक दृष्टि दोनों से ही मिला। इन्हीं शक्तियों के आधार पर बनियों ने किसानों आदिवासियों तथा अन्य को समूहों को अधीनस्थ बनाये रखा।

डेविड हार्डीमैन के विचारों तथा उनके अंतर्दृष्टि पर ग्रामों की फूको तथा बोर्दियों का प्रभाव रहा है। डेविड हार्डीमैन बनियों के संदर्भ में व्याख्या करते हैं और कहते हैं कैसे बनियों ने अपनी शक्ति को मजबूत किया जबकि पश्चिम भारत में बनियों एवं स्थानिय लोगों के सम्बन्ध तनावपूर्ण थे जिसके कारण वहाँ कई बार विरोध एवं प्रतिरोध का जन्म दिया था। डेविड हार्डीमैन की किताब बनिया को दूध खिलाने की शुरुआत गुजरात में परिश्रम के अध्ययन के रूप में हुई थी जो ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए उनका प्रमुख क्षेत्र रहा है। हालाँकि अध्ययन के दौरान पश्चिम भारत के अन्य क्षेत्रों को भी शामिल किया गया जिसमें राजस्थान भी शामिल किया गया क्योंकि मारवाडी बनियों का मूल स्थान राजस्थान रहा है। इन बनियों को भी शोषक की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह पुस्तक पूर्ण-औपनिवेशिक, औपनिवेशिक काल के इतिहास का अभूतपूर्व वर्णन है जो किसानों के अतिरिक्त उत्पादन को इन व्यापारियों द्वारा हड़पने की प्रक्रिया का वर्णन करता है साथ ही यह भी तर्क देता है कि भारतीय स्वतंत्रता के बाद इस व्यवस्था में कुछ हद तक बदल गई है।

देवी आंदोलन के अपने अध्ययन के सम्बन्ध में डेविड हार्डीमैन ने ग्रामीणों की बदलती दुनिया में एक अतिरिक्त परिप्रेक्ष्य प्रदान किया क्योंकि उन्होंने अपने आसपास के व्यापक समाज में परिवर्तनों के साथ सामना करने की कोशिश की थी। इस प्रकार डेविड हार्डीमैन के अपने अध्ययन में अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल किया।

15.5 निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि डेविड हार्डीमैन भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए एक नये परिप्रेक्ष्य का उपयोग करते हैं जो भारत के विभिन्न समाजशास्त्रीयों से अलग हट कर है। डेविड हार्डीमैन ने

भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का उपयोग करते हैं। इनके परिप्रेक्ष्य को दलितवादी परिप्रेक्ष्य भी कहा जाता है इन्होंने इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग कर इतिहास को समझने का एक नया तरीका दिया और बताया की इतिहास सिर्फ श्रेष्ठजनों की कहानियाँ नहीं हैं बल्कि इसमें दलित एवं शोषित वर्ग भी शामिल होना चाहिए। डेविड हार्डीमैन ने अध्ययन दक्षिण गुजरात में देवी आंदोलन के माध्यम से यह दर्शाने का प्रयास किया है कि कैसे इस आंदोलन के प्रभाव में आकर जागृत हुए एवं अपने आप को साहूकारों एवं शहरी व्यापारियों के शोषण से भी बचा लिया। इनमें एक नई राजनीति चेतना का प्रसार हुआ एवं अपने समाज के लिए इनमें से कुछ राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने में भी सफल रहे। इनके राजनीतिक शक्ति की सफलता का ही परिणाम था कि बाहरी जमींदार इनका शोषण नहीं कर पाए। हार्डीमैन ने 'बनिया को दूध पिला' नामक पुस्तक में बताया है कि कैसे बनियों ने आदिवासियों तथा स्थानीय लोगों का शोषण सदियों से किया है और राज्य कैसे बनियों को संरक्षण प्रदान करती है। अपने अध्ययन में हार्डीमैन पाते हैं कि आकाल के समय ये बनिये आदिवासियों एवं स्थानीय किसानों को ऋण प्रदान करते हैं और अपनी सहानुभूति भी इनके प्रति दर्शाते हैं और बाद ब्याज देते रहें। यह सिल-सिला पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। किसान तथा आदिवासी कभी भी इन बनियों के कर्ज से मुक्त नहीं हो पाते। ब्रिटिश शासन प्रणाली भी अधीनस्थ समूहों के शोषण में योगदान दिया लेकिन इन अधीनस्थ समूहों जिसके अन्तर्गत दस्ताकार, भूमिहीन कृषक, दलित, आदिवासी आदि आते हैं ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ विद्रोह किया एवं अपनी स्थिति से सुधार लाया। हालाँकि उस दौरान कई राष्ट्रीय स्थल के नेता और न ही प्रमुख समाचार पत्रों ने इस पर ध्यान दिया। आदिवासियों ने स्वयं ही अपने आंदोलनों के माध्यम से अपने अंदर जागृति लाकर स्वयं अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि डेविड हार्डीमैन ने भारतीय समाज का अध्ययन एक अलग परिप्रेक्ष्य का प्रयोग कर अपनी पहचान बनाई जो सभी समाजशास्त्रियों से अलग हट कर है। भारत जैसे समाज में जहाँ दलित पिछड़े एवं किसान अधिक है। इन सब का अध्ययन करने के लिए डेविड हार्डीमैन का परिप्रेक्ष्य बहुत ही उपयोगी है।

15.6 भावी अध्ययन (Further Readings)

- 1- village India : studies in the Little Community (1955)
- 2- Caste Ranking and Community Structure in the Five Regions of India and Pakistan (1960)
- 3- India Through Hindu Categori (1990)
- 4- Peasant Resistance in India : 1858-1914 (1992)
- 5- Subaltern Studies VIII : Essays in Honour of Ranjit Guha (1994)
- 6- Feeding the Baniya : Peasants and Usurers in western India (1996)
- 7- Gandhi in his Time and our (2003)

8- Histories for the Subordinated (2006)

9- Missionaries and their Medicine : A Christian Modernity for Tribal India(2008)

15.7 अभ्यासार्थ प्रश्न (Practice Questions)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Question)

- 1-दलितवादी परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में डेविड हार्डीमैन के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या करें?
- 2-दक्षिण गुजरात में देवी आन्दोलन ने किस प्रकार आदिवासियों में जागरूकता फैलाई।
- 3-देवी आन्दोलन ने किस प्रकार से आदिवासियों में प्रतिरोध की उत्पत्ति में योगदान दिया।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Questions)

- 1-अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य क्या है?
- 2-देवी आन्दोलन के मुख्य शिक्षा क्या है?
- 3-पद्धतिशास्त्र को परिभाषित कीजिए।
- 4-बनिया को दूध पिलाने से क्या तात्पर्य है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Question)

1-डेविड हार्डीमैन द्वारा भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए निम्न में से किस परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया गया-

- | | |
|--------------------------|------------------------|
| (अ) पुस्तक दृष्टिकोण | (ब) क्षेत्र दृष्टिकोण |
| (स) सम्यतात्मक दृष्टिकोण | (द) उपाश्रित दृष्टिकोण |

2-किसका शोध दक्षिण एशियाई इतिहास के प्रमुख औपनिवेशक और राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्यों से अलग करता है जो कि अधीनस्थ समूहों के इतिहास के अतिरिक्त विशिष्ट वर्ग के इतिहास को अभिपुष्ट करता है?

- | | |
|-------------------|---------------------|
| (अ) ए.आर. देसाई | (ब) बी.अम्बेडकर |
| (स) सुरजीत सिन्हा | (द) डेविड हार्डीमैन |

3-देवी आन्दोलन का सम्बन्ध है-

- | | | |
|--------------|---------------|-----|
| (अ) राजस्थान | (ब) गुजरात | (स) |
| मध्यप्रदेश | (द) छत्तीसगढ़ | |

15.8 संदर्भ ग्रंथ (References)

1. Dhanagare, D.N.(1998).Themes and Perspectives in Indian Sociology, Jaipur: Rawat Publications.
2. Guha. R. (1982). Subaltern Studies, V, New Delhi: Oxford University Press.

3. Hardiman, David (1980). "The Quit India Movement in Gujarat", in Gyanendra Pandey (ed.), *The Indian Nation in 1942*, Calcutta.
4. (1981), *Peasant Nationalists Movement of Gujarat: Kheda District (1917-1934)*, New Delhi : Oxford University Press.
5. (1987). (Paperback edition in 1995). *The Coming of Devi: Adivasi Assertion in Western India*, New Delhi : Oxford University Press. Gujarat version Published as *Devi Andolan*, Centre for Social Studies, Surat, 1986.
6. (1987) "The Bhils and Shaulars of Eastern Gujarat", in R. Guha (ed.) *Subaltern Studies*, V, op. Cit.
7. (1994) (Paperback edition 1996, 1997, 1999), *Subaltern Studies VIII: Essays in Honour of Ranajit Guha* (edited with David Arnold), New Delhi: Oxford University Press.
8. (1996) (Paperback edition in 2000). *Feeding the Baniya: Peasants and Usurers in Western India*, New Delhi: Oxford University Press.
9. (ed.) (1992) (Paperback edition in 1994). 'Introduction', *Peasant Resistance in India: 1858-1914*, New Delhi: Oxford University Press.

इकाई नं०-16
मनु एवं कौटिल्य
Manu & Kautilya

इकाई की रूपरेखा-

- 16.1 उद्देश्य
- 16.2 प्रस्तावना
- 16.3 मनु के विचार
 - 16.3.1 मनु के सामाजिक व्यवस्था पर विचार
 - 16.3.2 मनु के संस्कार
 - 16.3.3 मनु के वर्ग व्यवस्था पर विचार
 - 16.3.4 मनु के प्रस्थिति एवं भूमिका पर विचार
- 16.4 कौटिल्य के विचार
 - 16.4.1 कौटिल्य के द्वारा समाज का चित्रण
 - 16.4.2 कौटिल्य के दण्ड के सिद्धांत
- 16.5 सारांश
- 16.6 शब्दावली
- 16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 16.8 सन्दर्भ ग्रंथों की सूची
- 16.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 16.10 निबंधात्मक प्रश्न

16.1 उद्देश्य: (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आपको निम्न तथ्यों की जानकारी व समझ विकसित कर सकेंगे-

- ✓ मनु को क्यों प्रथम समाज का जनक माना गया है।
- ✓ मनु ने कैसे समाज का विचार किया है।
- ✓ समाज के निर्माण में राज्य की क्या भूमिका है।
- ✓ मनु के द्वारा हिन्दू सामाजिक संगठन व संरचना पर क्या कहा है।
- ✓ मनु के द्वारा सामाजिक व्यवस्था को समझ सकेंगे।
- ✓ मनु ने संस्कार के वर्णन को समझ सकेगी।
- ✓ मनु के द्वारा वर्ण व्यवस्था को समझ सकेगी।
- ✓ मनु के प्रस्थिति एवं भूमिका पर विचार को समझ सकेगी।

16.2 प्रस्तावना: (Introduction)

समाजशास्त्र के अध्ययन में मनु का एक विशेष स्थान है। मनु को एक ऐतिहासिक चरित्र के रूप में भारतीय परम्परानुसार मनु को प्रथम समाज व्यवस्थापक माना जाता है और इनके द्वारा रचित मनुस्मृति का रचना काल सामान्यतः ई०पू० चतुर्थ शताब्दी में माना जाता है। वैसे तो मनु के जीवन के बारे में कोई प्रमाणिक जानकारी नहीं है और ऐसी संभावना व्यक्त की गयी है, इसकी रचना और अन्य स्मृतियों के लेखन के बाद ही वैदिक अनुष्ठान एवं संस्कारों का पुनः प्रचलन हुआ था। मनु को प्रथम विधि वेत्ता तथा मानव जाति का जनक कहा जाता है। ऋग्वेद से लेकर बाद तक के अनेक ग्रंथों में मनु का उल्लेख आता है। कुछ स्थानों पर ऐसा वर्णन आया है, यदि मनु आदि पुरुष और सभ्यता के सृजक हैं तो यह मानना अनुचित भी नहीं है कि एक कथा के अनुसार जब मत्स्य न्याय से समाज दुखी होने लगा और सामाजिक व्यवस्था टूटने लगी तो ब्रह्म ने मनु को पृथ्वी का राजा बनाया था। वैसे तथ्यों के आधार पर मनुस्मृति मानव समाज का प्रथम ग्रंथ नहीं है।

मनुस्मृति में जो सामाजिक व्यवस्था मिलती है वह बहुत बाद की है। वैसे मनु स्मृति के अनुसार राज्य का कार्य समाज के सभी घटकों को समन्वित रूप से संगठित करना है। मनु ने राज्य का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें पशु-पक्षी, पर्यावरण भी शामिल हैं। राज्य का कार्य समाज ने इतना संतुष्ट बनाये रखना है कि एक-दूसरे को दबा न सके। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता है तो उसमें उसका स्वयं का ही नहीं सम्पूर्ण समाज का हित होता है। उन्होंने कहा है कि अच्छा राज्य वह है जहां अच्छी जनता निवास करती हो। संत पुरुष निवास करें, जिसमें कोई बीमारी न हो, निवासी विनम्र निर्भीक हो वही समाज सम्पूर्ण संतुलित समाज है।

16.3 मनु के विचार: (Idea of Mannu)

मनु को प्रथम कानूनविद और मानव जाति का जनक कहा गया था। ऋग्वेद से लेकर बाद के अनेक ग्रंथों में मनु का उल्लेख है। अनेक स्थानों पर इसका वर्णन आया है। पुस्तकों में ऐसा वर्णन है कि महाप्रलय के बाद केवल एक पुरुष ही बचा था वह था मनु। तैत्तरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण, पुराणों वह अन्य ग्रंथों में भी मनु का वर्णन मिला है। मनु महाभारत के बहुत पहले हुए थे। ऐसा कई वर्णन मिला है। मनु आदि पुरुष और सभ्यता के सृजक हैं तो यह मानना अनुचित भी नहीं है कि प्राचीन हिन्दू परम्पराओं के अनुसार मनु को मानव समाज का प्रथम राजा माना था। जब मत्स्य न्याय से समाज दुखी होने लगा और सामाजिक व्यवस्था टूटने लगी तो ब्राह्मण ने मनु को पृथ्वी का राजा बनाया। वैसे मनुस्मृति मानव समाज का प्रथम ग्रंथ नहीं है। मनुस्मृति में जो सामाजिक का ताना-बाना मिलता है, वह बहुत बाद का है। इसलिये हो सकता है कि बाद के लोगों ने मनु के नाम से जोड़ दिया है।

मनु ने राजनीति को समाज के ताने-बाने के साथ जोड़ा है। राजनीति के बिना समाज का संचालन ही मुश्किल है। राजा के बिना अराजकता हो जायेगी। लेकिन यह केवल कानून और व्यवस्था ही नहीं है, बल्कि इसका लोक कल्याणकारी स्वरूप उन्होंने प्रस्तुत किया है। मनुस्मृति के अनुसार राज्य का कार्य समाज के सभी घटकों को समन्वित रूप से संगठित करता है। राज्य का कार्य इतना है कि समाज के संतुलन व व्यवस्था बनी रहे और कोई एक-दूसरे को दबोच न सके।

मनु ने समाज के लिए व समाज के राजा के लिये एक श्रेष्ठ शिक्षा पद्धति की व्यवस्था की थी। यह शिक्षा केवल ज्ञान का माध्यम ही नहीं अपितु राजा के चरित्र निर्माण हेतु भी है। मनु का विचार समाज में राजा को कोई भी अनैतिक कार्य करने की आज्ञा नहीं देते थे। मनु ने तो स्पष्ट कहा कि राजा को अपनी पत्नी, बच्चों और परिवार के लिए भी सत्य का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए। मनुस्मृति में राज्य के संगठन, कर वेतन और प्रशासन के बारे में पता चलता है। इन्होंने कहा कि ग्राम की समस्या में जिले का हस्तक्षेप तब ही आवश्यक है जबकि ग्राम स्तर पर उसका समाधान न हो पाये। मनु विकेंद्रित व्यवस्था को मानते थे। इन्होंने राजा के अनेक कार्य बताये, जिनमें प्रमुख प्रजा की रक्षा करना, वर्णाश्रम धर्म का पालन करना, न्याय करना, राज्य की आन्तरिक कलह एवं बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना, आर्थिक विकास करना, ब्राहमणों, गुणियों, विद्वानों का सम्मान करना, असहाय वृद्धों, अपाहिजों, विकलांगों, विधवाओं एवं गर्भवहियों स्त्रियों की रक्षा करना। प्रजा को नैतिक बनाना भी राजा का ही कर्तव्य मनु ने माना है। इसलिये मनु ने कहा कि जुआ, मद्यपान पर स्त्री गमने, नैतिकता, पराये धन का अपहरण, ईर्ष्या आदि से प्रजा को बचाये। मनु ब्राहमण नहीं थे।

16.3.1 मनु के सामाजिक व्यवस्था पर विचार: (Ideas of Mannu on Social System)

मनु को सामाजिक व्यवस्था का निर्माण असमानता के सिद्धांत पर करने का दोषी बताया गया है। मनुस्मृति बारह अध्यायों में बड़ी हुई है। इसका लेखन श्लोक के रूप में हुआ। इसमें लगभग 2700 श्लोक हैं। इसके विषय इस प्रकार हैं— (1) जगत की उत्पत्ति, (2) संस्कार विधि, (3) स्नान, श्रमक कल्प, (4) वृत्ति लक्षण, (5) शौच अशुद्धि, स्त्री धर्म, (6) वान प्रस्य, मोक्ष, सन्यास, (7) राज धर्म, (8) कार्य विनिर्णय, (9) स्त्री-पुरुष धर्म, (10) आपाह धर्म, (11) प्रायश्चित, (12) संसार गति, कर्म और कुल धर्म है। मनु ने हिन्दुओं में सामाजिक व्यवस्था व संस्थाओं और संस्थापनाओं के अतिरिक्त राज धर्म जैसे जीवन के सभी पहलुओं पर लिखा है। इसमें वर्णित विचारों संकल्पनाओं और भावों को आज मनुवाद के रूप में चुनौती दी जा रही है। मनुस्मृति में वर्णित सामाजिक व्यवस्था के नियमाचार काल विशेष के लिए सार्थक रहे हैं। किन्तु आधुनिक परिवर्तित स्थितियों में इन्हें न्यायोचित कठिनतः ही माना जा सकता है। मनु को लेकर भारत में ज्यों-ज्यों पिछड़े और दलित वर्गों का समाज में प्रभाव बढ़ने लगा, मनु की आलोचना

तीव्र होती जा रही थी। उन्हें पुरातन वफी, कट्टरपंथी और ब्राहमण संस्कृति और जीर्ण-शीर्ष परम्परा का पोषक कहा जाने लगा। उन्हें स्त्री और शूद्र विरोधी एवं उच्च जातियों का पक्षधर कहा गया है। उन्होंने कहा ब्राहमण को मारा न जाये, चाहे उसने सभी अपराध किये हों। ब्राहमण के अतिरिक्त अपराध के लिये सभी को मजबूर न किया जाये। नारी को स्वतन्त्रता

16.3.2 मनु के संस्कार: (Ceremonies of Mannu)

मनु ने संस्कार के बारे में विस्तृत चर्चा की है। मनुस्मृति में हिन्दू जीवन के आधार कर्म और पुर्नजन्म के सिद्धांत से लेकर पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) संस्कार मनु के द्वारा 13 बताये गये हैं। वर्णाश्रम, धर्म, विवाह और परिवार स्त्रियों की प्रस्थिति, व्यक्तित्व के गुण आदि का विशुद्ध विश्लेषण इन्होंने मनुस्मृति ने किया है।

वर्णाश्रम में चार वर्णों का जिक्र किया है। ब्राहमण, श्रत्रिय, वैश्य, शूद्र का वर्णन है। मनुस्मृति ने जिस व्यक्ति का जो कार्य है उसे करे। व्यक्ति का धर्म पर विशेष जोर राजा के धर्म पर दिया है कि वह प्रजा की सेवा करे एवं प्रजा पर नियंत्रण रखे। स्त्रियों के बारे में मनुस्मृति से गर्भवती स्त्रियों की रक्षा की बात इसमें कही है। इन्होंने कहा कि नारी कभी स्वतंत्र होने लायक नहीं; यानि स्त्री एक तरह से बन्धनों में बंधी हुई है। बचपन में पिता, जवानी में पति, वृद्धावस्था में पुत्र उसका संरक्षक है। तीनों उच्च वर्णों को वेद पढ़ने का अधिकार है। लेकिन पढ़ाने का अधिकार केवल ब्राहमणों को है। परिवार व विवाह का वर्णन भी मनुस्मृति में किया गया है।

16.3.3 मनु की वर्ण व्यवस्था पर विचार: (Ideas of Mannu on Varn System)

मनु की वर्ण व्यवस्था पर मनुस्मृति में विस्तार से चर्चा की गयी है। मनु की समाज व्यवस्था में व्यक्ति की उपेक्षा सम्पूर्ण समूह, समुदाय और समाज को महत्व किया गया है। इस दृष्टि से हिन्दू सामाजिक व्यवस्था की इकाई व्यक्ति नहीं अपितु परिवार है। परिवार की रचना अन्न सम्बन्ध और यौन सम्बन्ध से मिलकर बने प्राण संबंधों जैवकीय बंधनों से होती है। जो ऐन्द्रियक वासना को आध्यात्मक भावनाओं और आत्म-नियंत्रण ये उदारीकरण कर परिवर्तित कर दिया जाता है। मनु के अनुसार पुरुषार्थ में धर्म, अर्थ, काम के चित्रण के यथोचित समन्वय में ही मानवता का कल्याण निहित है। मनु की स्पष्ट चेतावनी है कि मनुष्य को अपनी पत्नी, बच्चों और परिवार के लिये भी सत्य का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए। प्रजा को नैतिक बनाना भी राजा का ही कर्तव्य है। नियमित रूप से यज्ञ करना। मनु ब्राहमण वाही थे। न्याय व्यवस्था में ही ब्राहमण वाद झलकता है, यथज्ञासम्भव मुकदमों का फैसला स्वयं राजा को ही करना चाहिए। आज की भाषा में केवल ब्राहमण ही न्यायाधीश हो सकते हैं शूद्र नहीं, लेकिन शूद्रों की तरह स्त्रियों के प्रति भी उनका पूर्वाग्रह है। वो स्त्रियों को साक्षी बनाने के विरुद्ध हैं। स्त्रियों की बुद्धि स्थिर नहीं है। सृष्टि के विकास हेतु ब्राह्म ने ब्राहमण को अपने मूह से क्षत्रिय अपनी भुजाओं से, वैश्य को अपनी जंघा से और शूद्र को अपने पाकै से जच किया है।

16.3.4 मनु के प्रस्थिति एवं भूमिका पर विचार: (Ideas of Mannu on Status & Role)

मनु ने प्रस्थिति एवं भूमिका पर अपने विचारों में कहा है कि राजा का कर्तव्य अपनी प्रजा का सुख-दुख देखना है कि कोई किसी व्यक्ति को दबा तो नहीं रहा है। प्रजा का नैतिक कर्तव्यों का विकास करना ही राजा का कार्य है। मनु ने ब्राह्मणों को राजा माना है और इसका समाज में सर्वोच्च स्थान है। राजा को ही न्याय करने का अधिकार प्राप्त है। राजा का कर्तव्य अपनी प्रजा का सुख-दुख देखना है। उनके साथ किसी प्रकार का अन्याय न हो। राजा इसकी व्यवस्था करेगा। शूद्रों व स्त्रियों को हीन माना है। इनको समाज में नीचता के रूप में देखा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता रहे। अच्छा राजा का कर्तव्य प्रजा की सेवा ही नहीं है बल्कि उसके राज्य में अच्छे नागरिक निवास करें, जिसमें कोई बीमार न हो। नागरिक विनम्र एवं निर्मिम हों। अच्छी खेती ही वाणिज्य हो। राजा का कर्तव्य अपने लोगों की रक्षा करना व दुष्टों का दमन करना है। निर्धन लोगों, विधायकों और ककों की रक्षा करना ही राजा का कर्तव्य है। वे ऐसे राज्य की कल्पना करते हैं, जिसमें विकास वैकल, सुरक्षा एवं एकता हो और राजा यदि कर्तव्य नहीं करता है तो राज्य नष्ट हो जाता है।

16.4 कौटिल्य के विचार: (Ideas of Kautilya)

हिन्दू धर्म ग्रंथों में अर्थशास्त्र ग्रंथ की गणना एक अग्रणी ग्रंथों में की जाती है। यह प्रथम भारतीय ग्रंथ है, जिसमें आध्यात्म, धर्म आदि परम्परागत प्रभावों से मुक्त होकर राजनीति, शासन, प्रशासन, आर्थिक एवं समाजशास्त्रीय तत्वों, कूटनीति, परराष्ट्र सम्बन्धों आदि पर वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से लिखा गया है। कौटिल्य को विष्णुगुप्त और चाणक्य के नाम से भी जाना जाता है।

कौटिल्य के जीवन एवं उससे जुड़ी घटनाओं के बारे में अनेक मतमतान्तर हैं और ठोस ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है। फिर भी सामान्य तौर पर यही माना जाता है कि ईसा की कुछ शताब्दियों पूर्व तक्षशिला में उनका जन्म हुआ और वहां के विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। उस समय नन्द वंश का शासन था जिसके अत्याचारों से प्रजा दुखी थी। उससे निजात पाने के लिए उन्होंने चन्द्रगुप्त नामक युवक को सम्राट बनाने का संकल्प लिया। यद्यपि चन्द्रगुप्त नीची जाति का था, लेकिन उसमें अद्भुत प्रतिभा थी जिससे प्रभावित होकर कौटिल्य ने एक विशाल साम्राज्य के निर्माण एवं संचालन का उसे दायित्व सौंपा। यह भारत वर्ष का प्रथम विशाल सुसंगठित और सुदृढ़ मौर्य शासन था, जिसकी स्थापना और नियोजित कार्यप्रणाली के केन्द्र में कौटिल्य की विलक्षण बुद्धि, सूझबूझ एवं दृष्टि थी। चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट बनाकर कौटिल्य ने स्वयं प्रधानमंत्री पद सम्भाला। कौटिल्य पर कुछ विस्तार से आगे के पृष्ठों में लिखा गया है। प्राचीन भारत के सामाजिक चिन्तकों में कौटिल्य का स्थान बहुत ऊँचा है। अर्थशास्त्र केवल आर्थिक विषयों का एक दस्तावेज नहीं है, अपितु इसमें आर्थिक विषयों के अतिरिक्त प्राचीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक संहिताओं, प्रथाओं, संस्थाओं की रीति-रिवाजों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

16.4.1 कौटिल्य के द्वारा समाज का चित्रण: (Diagram of Society by Kautilya)

भारतीय सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा के विकास एवं विश्लेषण में इस ग्रंथ का अपूर्व योगदान है। इसमें तत्कालीन समाज के चित्रण के साथ समाज में होने वाले भविष्यगत परिवर्तनों का भी पूर्वाभास किया गया था। इस ग्रंथ में वर्णाश्रम, धर्म, शिक्षा, विवाह, वैवाहिक जीवन के नियम, स्त्री-पुरुष के आपसी कर्तव्य, सम्भोग नियम, विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह, उत्तराधिकार के नियम, स्त्री धन, स्त्रियों का

समाज में स्थान, शूद्रों की स्थिति, दण्ड के सिद्धांत एवं प्रमारों के अतिरिक्त मानव के विज्ञान का भी सूक्ष्म एवं शुद्ध विवेचन देखने को मिलता है।

राज धर्म, राज व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और नागरिक संगठन जैसे विषय इस ग्रंथ के प्रमुख अंग हैं। पत्नी को ऐसे पति को छोड़ देने का अधिकार है। नारी के अधिकारों के बारे में अनेक और भी प्रावधान हैं लेकिन दुष्चरित्र औरत के लिए सजा की भी व्यवस्था है। उत्तराधिकार के नियमों का भी उल्लेख है। सम्पत्ति के अधिकार सम्बन्धी नियमों का भी वर्णन है। ऋण वसूली, श्रम कानून, स्वामी का नौकर पर अधिकार, खरीद फरोक्त से जुड़े नियमों का भी उल्लेख है। अर्थशास्त्र में ऊँची और नीची जाति के मध्य प्रचलित भेदभाव का भी वर्णन मिलता है।

राजव्यवस्था में गाँवों के निर्माण, भूमि विभाजन, दुर्गों के निर्माण, राजस्व वसूली, हिसाब-किताब की व्यवस्था, राजस्व की चोरी को रोकने के उपाय, सरकारी कर्मचारियों के आचरण, उनकी ईमानदारी, राज्य के प्रति निष्ठा, कार्य कुशलता आदि का वर्णन है। कौटिल्य का मानव स्वभाव का अध्ययन कितना पैना और यथार्थवादी है।

“जिस प्रकार जिह्वा पर रखे बिना शहद या जहर का पता नहीं लगाया जा सकता, उसी प्रकार यह असम्भव है कि सरकारी कर्मचारी सरकारी राजस्व का कुछ न कुछ दुरुपयोग न करे। जिस प्रकार पानी में रहने वाली मछली ने पानी पिया अथवा नहीं पिया यह मालूम करना मुश्किल है, ठीक उसी प्रकार राज कर्मचारी द्वारा सरकारी धन का खुर्द-बुर्द किये जाने को मालूम करना मुश्किल है।”

कौटिल्य का कथन है कि आसमान में पक्षियों की ऊँची उड़ान को पहचान पाना आसान है, लेकिन सरकारी कर्मचारियों के गुप्त इरादों को समझ पाना मुश्किल है।

करों के बारे में विशद वर्णन मिलता है। वाणिज्य, जंगलात, नाप-तोल, बाट, चुंगी, कृषि, आबकारी, वेश्यालयों, जहाजों, गोधन, घोड़ों, हाथियों, नगर प्रशासन आदि के बारे में समझौतों के वैधिक स्वरूप, न्याय आदि के बारे में सांगोपांग वृत्तान्त मिलता है। न्याय करना राजा का परम कर्तव्य है। इस सम्बन्ध में कुछ बहुत ही दिलचस्प और उपयोगी उद्धरण अर्थशास्त्र में मिलते हैं। कुछ यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

धर्मके विपरीत आचरण को रोकना राजा का पुनीत कार्य है। राजा न्याय का स्रोत (धर्म प्रवर्तक) हैं। पवित्र कानून (धर्म), प्रमाण (व्यवहार), इतिहास (चरित्र) एवं राज्यादेश (राजशासन) कानून के चार स्तम्भ हैं।

न्याय की स्थापना करना, राज्य में व्यवस्था बनाये रखना, प्रजा की रक्षा करना, इन कर्तव्यों का पालन करने से राजा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, जो अपनी प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है अथवा सामाजिक व्यवस्था को भंग करता है वह व्यर्थ ही में दण्डधारी हैं।

शादी विवाह, स्त्री सम्पत्ति, पुनर्विवाह के बारे में भी हमें पर्याप्त सामग्री मिलती है। नारी के अधिकारों से सम्बन्धित अनेक प्रावधान अर्थशास्त्र में हैं और आज से करीब अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व नारी स्वातंत्र्य की बात कौटिल्य ने कही है। उनके अनुसार यदि पति दुष्चरित्र बन गया है या लम्बे समय के लिए विदेश

चला गया है या राजद्रोही बन गया है या पत्नी के लिए खतरा बन गया है, जाति से बाहर कर दिया गया है या नपुंसक।

16.4.1 कौटिल्य के दण्ड में सिद्धांत: (Theory of Punishment for Kautilya)

कौटिल्य के अनुसार अन्वीक्षिकी, त्रयी (तीनों वेद), वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) और दण्डनीय (शासन विज्ञान) कुल मिलाकर चार विज्ञान हैं। मनु ने अन्वीक्षिकी को वेदों की एक विशिष्ट शाखा माना है। अन्वीक्षिकी में सांख्य, योग एवं लोकायत का दर्शन निहित है। कौटिल्य ने अन्वीक्षिकी को बहुत ही उपयोगी ज्ञान माना है, यह मस्तिष्क को सभी परिस्थितियों में शान्त रखता है। मन, वचन और कर्म में एकाग्रता और स्थितप्रज्ञता प्रदान करता है।

कौटिल्य यथार्थवादी विचारक थे। उन्होंने सभी विद्याओं, कलाओं और विज्ञानों का ध्येय वार्ता और दण्डनीति में देखा। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कृषि, पशु-पालन और व्यापार वार्ता की परिधि में आते हैं। अनाज, पशु, सोना, जंगल, उत्पादन और श्रम से कोष भरता है और इसके परिपूर्ण होने से राजा सेना की व्यवस्था करता है तथा अपने राज्य और शत्रु पक्ष पर नियंत्रण कर पाता है। अन्वीक्षिकी, त्रयी की वार्ता का सीधा सम्बन्ध दण्ड से है। आचार्य कौटिल्य के अनुसार यह दण्ड कही सजा देने की विधि है और इसे शासन विज्ञान अथवा दण्डनीति भी कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य दण्डनीति को सारी विद्याओं के मूल में मानते हैं। वह दण्डनीति को अपने में साध्य तो नहीं मानते, लेकिन इसे आधार मानते हैं। इसके बिना राज्य अव्यवस्थित हो जायेगा, अराजकता फैल जायेगी और ऐसी स्थिति में सांख्य, योग्य एवं लोकायत की प्रगति, त्रयी (तीनों वेदों) का अध्ययन; कृषि, पशुपालन, व्यापार (वार्ता) की उन्नति असम्भव हो जायेगी। कोष खाली हो जायेगा, राजा सेना नहीं रख पायेगा, राज्य कर्मचारियों और अधिकारियों को वेतन नहीं मिल सकेगा और सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो जायेगा। यही कारण है कि दण्डनीति का सुचारु रूप से पालन राज्य और समाज की समस्त गतिविधियों के केन्द्र में है।

दण्डनीति भी स्वतंत्र नहीं है। दण्ड जीवन में सुरक्षा लाने हेतु अनिवार्य है, लेकिन दण्ड अनुशासन (विनय) पर आश्रित है। अनुशासन दो प्रकार का होता है— कृत्रिम और प्राकृतिक। विधाओं का अध्ययन केवल उन्हीं को संस्कारित कर सकता है, जिनमें कुछ मानसिक गुण विकसित हो अन्यथा नहीं। इन गुणों में कौटिल्य आज्ञापालन, समझने की शक्ति, स्मरण शक्ति, नीर क्षीर विवेक शक्ति, वक्तृत्व शक्ति सम्मिलित करते हैं। विद्याओं का अध्यापन गुणी, अनुभवी और विशेषज्ञों द्वारा किये जाने का प्रावधान किया गया है। राजा को सलाह दी गयी है कि उसे वृद्ध प्रोफेसरों की संगत करनी चाहिये क्योंकि ये ही इन विद्याओं के पारंगत ज्ञाता हैं।

राजा से अपेक्षा है कि वह पूर्वाह्न काल सैनिक शिक्षा जैसे घोड़ों, हाथियों, रथों एवं हथियारों के प्रयोग के प्रशिक्षण में बिताये। दोपहर बाद का समय इतिहास सीखने में व्यतीत करे। आचार्य कौटिल्य ने पुराण इतिवृत्त (इतिहास), आख्यायिका (कहानियाँ), उदाहरण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र को इतिहास में ही सम्मिलित किया है। शेष दिन और रात्रि में वह नये पाठ पढ़े और पुराने याद करें और जो स्पष्ट नहीं हुआ उसे समझे। आचार्य कौटिल्य का कथन है कि सुनने (श्रुत) से ज्ञान की वृद्धि होती है और ज्ञान के निरन्तर कार्यान्वयन से योग सिद्धि प्राप्त होती है और योग द्वारा आत्म विश्वास आता है। चाणक्य स्पष्ट

कहते हैं कि सुशिक्षित, अनुशासित और विद्याओं का ज्ञाता राजा सुशासन देता है और निष्कण्टक राज कर सकता है।

कौटिल्य इंद्रियों पर नियंत्रण रखने वाले राजा को ही सफल मानते हैं। इंद्रियों के वशीभूत राजा नष्ट हो जाता है और इसके लिए उन्होंने छठे अध्याय में बहुत उदाहरण दिये हैं। उन्होंने राजा के छः शत्रु माने हैं— काम, क्रोध, लोभ, अहंकार (मन), मद और अत्यधिक हर्ष।

कौटिल्य का मत है कि राजत्व (संप्रभुता) सहायकों के बिना संभव नहीं है। एक पहिये से गाड़ी चलती नहीं है। अतः राजा को मंत्रियों एवं अन्य अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है। कौटिल्य मंत्रियों के लिए निम्नांकित योग्यताएँ निर्धारित करते हैं— स्थानीय, व्यक्ति, उच्च परिवार में उत्पन्न, प्रभावशाली, कलाओं में निपुण, दूरदर्शी, बुद्धिमान, अच्छी स्मरण शक्तिवाला, निर्भीक, अच्छा वक्ता, चतुर, उत्साही, गरिमापूर्ण, सहिष्णु, शुद्ध चरित्र वाला, प्रसन्न मुख, स्वामीभक्त, शुद्ध आचरण, दृढ़ निश्चय वाला होना चाहिये।

16.5 सारांश: (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि मनु ने सामाजिक व्यवस्था पर अपने विचारों के बारे में क्या कहा है? आप ये जान गये होंगे कि मनु को प्रथम विधिवेता या मानव जाति का जनक कहा गया है। मनु मानव समाज का प्रथम राजा है। आप यह भी जान गये होंगे कि मनुस्मृति में जो सामाजिक व्यवस्था की गयी है वह बहुत बाद की है। मनु ने राजनीति को सामाजिक स्वरूप प्रदत्त किया है, आप मनु के द्वारा राजा की तरह से राज्य का एवं वहाँ रहने वाली जनता का पोषण किस तरह से करता है यह भी जान गये होंगे। आप ये भी जान गये होंगे कि मनु की मान्यता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता है तो उसमें उसका स्वयं का ही सम्पूर्ण समाज का हित निहित है। हमारे लिये अच्छा राजा वही है तो प्रजा की सेवा करता है।

आप ये भी जान गये होंगे कि मनु ने मनुस्मृति में संस्कारों का वर्णन किस तरह से किया है और संस्कारों के प्रकार कितने हैं, किस संस्कार में क्या-क्या होता है। आप ये भी जान गये होंगे कि वर्ण व्यवस्था पर विचार क्या है? ये भी समाज का महत्वपूर्ण अंग है, जिसमें भारतीय समाज की व्यवस्था वर्ण व्यवस्था पर ही आधारित है। इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

आप इस इकाई का अध्ययन करने के बाद ये भी जान गये होंगे कि मनु ने मनुष्य/मानव की प्रस्थिति एवं भूमिका का वर्णन किस प्रकार से किया है। मनु समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखते हैं और कहते हैं कि समाज में प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य निर्धारित है। उसी के अनुसार उसे प्रस्थिति प्राप्त है, वो राज्य व राजा व राजनीति की भूमिका का वर्णन बड़े विस्तार से किया है।

इस इकाई में आप मनु के साथ-साथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में क्या-क्या वर्णन किया है, उसको भी समझ गये होंगे। आप ये भी जान गये होंगे कि अर्थशास्त्र कोई अर्थव्यवस्था की पुस्तक नहीं है, इस पुस्तक में भारतीय समाज की व्यवस्था व लिपिक कानूनों का वर्णन है। आप ये भी जान गये होंगे कि अर्थशास्त्र में राजधर्म, राजव्यवस्था, न्याय व्यवस्था और नागरिक संगठन इस ग्रंथ के प्रमुख अंग हैं।

आप ये भी समझ गये होंगे कि राजव्यवस्था में किन चीजों का निर्माण होता है। आप इस इकाई से ये भी समझ गये होंगे कि कौटिल्य ने दण्ड के कोने-कोने से सिद्धांत का वर्णन किया है। आप यह भी

समझ गये होंगे कि कौटिल्य किन लोगों को सकल माना है तथा राजा के लिये क्या जरूरी है? इत्यादि।

16.6 शब्दावली: (Glossary)

- (1) मनुस्मृति— एक ऐसा ग्रंथ जिसके रचियेता मनु हैं एवं यह मानव समाज का प्रथम ग्रंथ है।
- (2) लोक कल्याणकारी— एक ऐसी व्यवस्था जिसमें पशु-पक्षी से लेकर मानव सभी का कल्याण हो सके।
- (3) अनैतिक कार्य— अनैतिक कार्य से तात्पर्य ऐसा कार्य जिसमें राज्य का समाज का, मानव का किस का भी बुरा हो जाये।
- (4) राजतंत्रवादी— एक ऐसी व्यवस्था जिसमें राजा सर्वोच्च है, वह जो करे वही सही है। यदि वह गलत करता है तो उसे दण्डित नहीं किया जाये, क्योंकि उसमें देवता निवास करते हैं। राजा गलत नहीं कर सकता।
- (5) त्रिवर्ण— त्रिवर्ण से तात्पर्य धर्म, अर्थ और काम से है।
- (6) सामान्त शाही— एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें राजा सर्वोच्च है और उसमें सब नीचे है। राजा जो करेगा वह सही करेगा, वह गलत नहीं कर सकता है।

16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर: (Answer Questions of Practice)

- (1) प्रथम विधि वेत्ता किसको कहा गया है—

(क) कौटिल्य	(ख) कार्ल मार्क्स
(ग) दुर्खीम	(घ) मनु

 उत्तर— (घ)
- (2) मनु का उल्लेख पहले किस प्राचीन ग्रंथ में किया गया है—

(क) ऋग्वेद	(ख) सामवेद
(ग) अथर्ववेद	(घ) यजुर्वेद

 उत्तर— (क)
- (3) प्राचीन हिन्दू परम्पराओं के अनुसार किसको मानव समाज का प्रथम राजा माना जाता है—

- (क) कौटिल्य (ख) हैबर मास
(ग) मनु (घ) बेवर

उत्तर— (ग)

(4) राजनीति क्षेत्र में ऐसे चिंतक का नाम बताओ जिसने राजनीति को सामाजिक स्वरूप प्रदान किया है—

- (क) गाँधी (ख) अरविन्द
(ग) कौटिल्य (घ) मनु

उत्तर— (घ)

(5) मनु के अनुसार अच्छा राज्य क्या है?

- (क) जहां बुरे पुरुष निवास करें (ख) जहां सत व स्त्रियां निवास करें
(ग) जहां अच्छे संत पुरुष निवास करें (घ) जहां बुरी स्त्रियां निवास करें

उत्तर— (ग)

(6) भारतीय राजनीति चिंतन के आदिम विचारक निम्न में से कौन हैं?

- (क) मनु (ख) कौटिल्य
(ग) नेहरू (घ) गाँधी

उत्तर— (क)

(7) 'अर्थशास्त्र' नामक की रचना किसने की?

- (क) मनु (ख) अलयुजर
(ग) गाँधी (घ) कौटिल्य

उत्तर— (घ)

(8) किस विचारक के अनुसार पशु-पक्षी और पर्यावरण भी राज्य क्षेत्र में शामिल हैं?

- (क) गाँधी (ख) नेहरू
(ग) मनु (घ) कौटिल्य

उत्तर— (ख)

(9) मनु के अनुसार राज्य की इकाई क्या है?

- (क) ग्राम (ख) जिला
(ग) पंचायत (घ) प्रांत

उत्तर— (क)

(10) किस विचारक ने प्लेटो के समान राजा के यिले श्रेष्ठ शिक्षा पद्धति की बगावत की?

- | | |
|-------------|-----------|
| (क) कौटिल्य | (ख) नेहरू |
| (ग) मनु | (घ) गाँधी |

उत्तर— (ख)

(11) आचार्य मनु विचारक थे—

- | | |
|------------------|-----------------|
| (क) लोकतंत्रवादी | (ख) आदर्शवादी |
| (ग) राजतंत्रवादी | (घ) उपरोक्त सभी |

उत्तर— (घ)

(12) न्यायवस्था और दण्डनीति के मूल भारतीय विचारक माने जाते हैं?

- | | |
|-----------|-------------|
| (क) गाँधी | (ख) मनु |
| (ग) नेहरू | (घ) कौटिल्य |

उत्तर— (ख)

(13) किस भारतीय विचारक ने संरलोग सिद्धांत प्रस्तुत किया?

- | | |
|-----------|-------------|
| (क) मनु | (ख) नेहरू |
| (ग) गाँधी | (घ) कौटिल्य |

उत्तर— (घ)

इकाई नं०-17

गाँधी जी के विचार (Gandhian Thoughts)

- 17.1 उद्देश्य
- 17.2 प्रस्तावना
- 17.3 गाँधी जी का जीवन परिचय
- 17.4 गाँधी जी के नीति सिद्धान्त एवं सामाजिक उपयोगिता
- 17.5 अहिंसा के तत्व
- 17.6 सत्याग्रह का अर्थ
- 17.7 सत्याग्रह के तत्व
- 17.8 सत्याग्रह के लक्षण
- 17.9 सत्याग्रह की विधियाँ
- 17.10 सत्याग्रह के प्रयोग
- 17.11 सत्याग्रह का मनोविज्ञान
- 17.12 सत्याग्रह का मूल्यांकन
- 17.13 सर्वोदय-अवधारणा
- 17.14 सर्वोदय का अर्थ एवं परिभाषा
- 17.15 सर्वोदय के सिद्धान्त
- 17.16 सर्वोदय के आधारभूत उद्देश्य
- 17.17 सर्वोदय की कार्यपद्धतियाँ
- 17.18 संरक्षकता का सिद्धान्त
- 17.19 संरक्षकता का अर्थ
- 17.20 संरक्षकता के तत्व
- 17.21 संरक्षकता के सिद्धान्त का महत्व
- 17.22 संरक्षकता का आलोचनात्मक मूल्यांकन
- 17.23 गाँधी जी के सामाजिक विचार
- 17.24 साम्प्रदायिक एकता
- 17.25 नारी का स्थान

- 17.26 शिक्षा सुधार
 17.27 मद्यनिषेध
 17.28 महात्मा गाँधी के विचारों की वर्तमान में प्रासंगिकता
 17.29 गाँधी और मार्क्स
 17.30 गाँधी और मार्क्स में समानताएँ
 17.31 भिन्नताएँ
 17.32 मूल्यांकन
 17.33 सारांश
 17.34 शब्दावली
 17.35 अभ्यास प्रश्न
 17.36 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 17.37 संदर्भ
 17.38 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
 17.39 निबंधात्मक प्रश्न

17.1 उद्देश्य—

- ✓ महात्मा गाँधी के जीवन परिचय को विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत करना।
- ✓ गाँजी जी के नैतिक सिद्धान्तों को विद्यार्थियों के समक्ष रखना, जिससे वे जीवन में इसका अनुपालन करने का प्रयत्न कर सकें।
- ✓ गाँधी जी के विचारों का ज्ञान कर विद्यार्थियों में देशप्रेम की भावना को जाग्रत करना।
- ✓ गाँधी जी की बेसिक शिक्षा पद्धति को जीवन में लागू करने के लिए प्रोत्साहित करना।
- ✓ विदेशी वस्तुओं के स्थान पर स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग हेतु जाग्रत करना।
- ✓ गाँधी जी द्वारा बतलाये गये नियमों को आत्मसात् कर एक नव विकसित समाज की स्थापना करने में युवाओं व अन्य देशवासियों से अपेक्षा रखना।

17.2 प्रस्तावना

व्यवहारिक समाजशास्त्री, राजनीतिक, अर्थशास्त्री, शिक्षाशास्त्री, क्रान्तिकारी एवं समाज सुधारक दार्शनिक एवं समाज विचारक के रूप में गाँधी जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। भारतीय संस्कृति और परम्पराओं को आधुनिक जीवन और परिस्थितियों पर खड़ा करने वाले गाँधी जी उन विचारकों में थे,

जिन्होंने परम्पराओं मानव जीवन के रचनात्मक पहलुओं पर सबसे अधिक चिन्तन किया था। उनका व्यक्तित्व आकर्षक एवं दृष्टिकोण भारतीय था, उन्होंने समस्त समकालीन समस्याओं की जड़ों को छूकर उन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा। समाज एवं सामाजिक समस्याओं पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाकर उन्होंने समाजिक वैज्ञानिक का अपना पद सुरक्षित कर लिया है। अपनी उपकल्पनाओं का प्रयोग उन्होंने सर्वप्रथम अपने में ही किया। इसके साथ ही उन्होंने भारतीय आदर्श मूल्यों की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विवेचना की और सिद्ध कर दिया। भारतीय आदर्श और मूल्य समाज और व्यक्ति की सशक्त विवेचना करने में समर्थ है। उन्होंने जीवन की विविध समस्याओं गम्भीरता से प्रस्तुत किया और नवीन विचारधारा को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। यहाँ हम गाँधी जी के जीवन परिचय का अध्ययन करेंगे—

17.3 गाँधी जी का जीवन परिचय (Biography of Gandhiji)

मोहनदास करमचन्द गाँधी जी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 में कठियावाड़ा के पोरबन्दर नाम स्थान पर हुआ। इनके पिता करमचन्द्र गाँधी पोरबन्दर रियासत के दीवान तथा माता पुतलीबाई अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति की श्रद्धालु और सहृदय महिला थीं, जिसका अमिट प्रभाव गाँधी जी के व्यक्तित्व में स्पष्ट दिखायी पड़ता है।

गाँधी जी का परिवार पहले पंसारी का व्यवसाय करता था। मोहनदास के दादा से लेकर तीन पीढ़ियों से उनका परिवार रियासत में दीवानगिरि का काम करते थे। अपने पिता के विषय में गाँधी जी ने लिखा है—‘वे अत्यंत ही परिवार प्रेमी, साहित्यप्रिय, उदार, किन्तु क्रोधी थे।’ पिताजी की शिक्षा को उनहोंने केवल ‘अनुभव’ कहकर संबोधित किया है।

गाँधी जी की प्रारम्भिक शिक्षा 5 वर्ष की आयु में गुजरात के हिन्दी स्कूल में हुई। तत्पश्चात् 10 वर्ष की आयु में उन्हें अंग्रेजी स्कूल में प्रवेश मिला। 13 वर्ष की आयु में बिना किसी वैयक्तिक सहमति के उनका विवाह 1883 में कस्तूरबाबाई से हुआ। 17 वर्ष की अवस्था में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर गाँधी जी ने अपने विद्यार्थी जीवन के उच्चतम आदर्शों का परिचय दिया। 4 सितम्बर 1882 को गाँधी जी ने बैरस्ट्री पास करने के लिए विलायत (इंग्लैंड) प्रस्थान किया और उसके बाद बैरस्ट्री पूर्ण कर वे भारत लौटे। 16 वर्ष की छोटी सी उम्र में पिता का साया उठ जाने के पश्चात् भी गाँधी जी ने देश-विदेश में अपना अध्ययन जारी रखा। विलायत से लौटने के पूर्व ही उनकी माता जी का भी देहान्त हो गया।

1891 में जब वे मात्र 22 वर्ष के थे, बैरस्ट्री पास कर इसी वर्ष से मुम्बई के कठियावाड के वकालत शुरू की। जहाँ निवासित एक व्यापारी दक्षिण अफ्रिका में व्यापार करते थे। उन्होंने अपने मुकदमे की पैरवी के लिए 1893 में गाँधी जी को दक्षिण अफ्रिका भेजा। यद्यपि मुकदमा मध्यस्थता से तय हो गया, लेकिन वहाँ की सामाजिक दशाएँ, भारतीयों की करुणाजनक स्थिति, उन पर होने वाले अत्याचार व अन्याय ने गाँधी जी को भारतीयों के साथ रहने को विवश कर दिया। धीरे-धीरे वहाँ उनका जीवन सार्वजनिक बनता गया। सरकार के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व कर उन्होंने नेटाल में ‘नेटाल भारतीय काँग्रेस का संगठन स्थापित कर प्रवासी भारतीयों के प्रति होने वाले क्रूर, अमानवीय व्यवस्थाओं को दूर करने का लक्ष्य बनाया। लगभग 20 वर्षों तक अफ्रिका में रहकर अहिंसात्मक

सत्याग्रह के आन्दोलन का सर्वप्रथम प्रयोग उन्होंने अफ्रिका में प्रवासी भारतीयों के अधिकारों की रक्षा के लिए किया, जिसमें वे तो सफल हुए ही साथ में उनकी वकालत को भी सफल घोषित किया गया। इस सारी प्रक्रिया में उन्हें 7 दिन व चौदह दिन का दो बार उपवास रखना पड़ा और दो बार जेल भी जाना पड़ा।

सन् 1915 में देश के नेता के रूप में भारत लौटे। भारत में अंग्रेजी सरकार की नीति के खिलाफ, सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया और देशवासियों को देश की स्वतंत्रता के लिए संगठित करने का शक्तिशाली अभियान प्रारम्भ किया। विदेशी सामग्री का बहिष्कार, अंग्रेजी कानूनों का विरोध राष्ट्रहित के लिए उपवास एवं अनशन जेल यात्राएँ कर देश की आजादी उनके जीवन का लक्ष्य बन गयी, और 1920 में उनका सक्रिय राजनैतिक जीवन प्रारम्भ हो गया। असहयोग आन्दोलन, स्वतंत्रता, स्वाधीनता एवं भारतीयों में नवजीवन संचार करने के लिए चर्खा, खादी का प्रचार किया। 'यंग इण्डिया तथा 'नवजीवन' पत्रों का सम्पादन, हरिजन संघ की स्थापना कर गतिविधियों में वृद्धि की।

1942 में भारत छोड़ा का नारा बुलंद कर अंग्रेजों से भारत को मुक्त कराने की दृढ़ इच्छा से 15 अगस्त 1947 में देश की आजादी में अहम् भूमिका का निर्वाह किया, लेकिन स्वतंत्र भारत में गाँधी जी अधिक सांस न ले सके और 30 जनवरी 1948 ई० को नाथूराम गोडसे द्वारा उनकी हत्या कर दी गयी। गाँधी जी के जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उनका सम्पूर्ण जीवन आन्दोलनों से भरा पड़ा या ये कहा जाए कि उनका जीवन अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलनों का इतिहास रहा है।

17.4 गाँधी जी के नीति-सिद्धान्त एवं सामाजिक उपयोगिता

(Moral Principles and their social Implications of Gandhi)

गाँधी जी अपने जीवन में प्रमुख राजनीतिज्ञ व समाज सुधारक थे। नवीन वर्धा शिक्षा पद्धति के संस्थापक, पिछड़े वर्गों के लिए समर्पित मसीहा, पूंजीवादी एवं साम्यवाद से भिन्न एक अहिंसात्मक समाजवादी समाज की स्थापना के प्रणेता, उच्च दार्शनिक थे। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व बहुमुखी एवं विशाल था। उनका सम्पूर्ण सामाजिक दर्शन नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित था, जो धर्म, नैतिकता को महत्व देता है। अतः आवश्यक है कि उनके नैतिक सिद्धान्तों को समझा जाए। जिनका उद्देश्य व्यक्ति को अनुशासित, संयमित आत्मा एवं ईश्वर का अनुभव तथा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंतर को मिटाने के लिए किया गया था।

सत्य (Truth)- गाँधी जी ने लिखा था—“सत्य धर्म और सच्ची नैतिकता एक-दूसरे से अपृथक रूप से बंधे हुए हैं। धर्म का नैतिकता से वही संबंध है, जो भूमि में बोये हुए बीज के साथ जल का है। ऐसा कोई धर्म नहीं होता, जो नैतिकता का अनुकरण कर सके।” सत्य और अहिंसा भारतीय संस्कृतिक का मूल आधार है। सत्य को शब्दों में बाँधना कथन है। अतः गाँधी जी के मतानुसार अन्तर आत्मा की आवाज ही सत्य है। इसके अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है। उन्होंने लिखा है—“मेरे विश्वास अनुभव ने मुझे आस्वस्त किया है कि सत्य के अलावा और दूसरा ईश्वर नहीं है....सत्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन अहिंसा है।” सत्य को गाँधी जी का पहला नैतिक सिद्धान्त माना जाता है। सत्य शब्द सत् से बना है जिस का तात्पर्य है— यथार्थ सत्ता जो संसार का संचालक करती है। गाँधी जी ने

हमेशा इसको पहुँचाने व अनुकरण की बात कही है। इसका संबंध व्यक्ति यथार्थ में सत्ता को पहचानने की क्षमता को विकसित करना है। जैसा कि गाँधी जी ने लिखा भी है—“यह सत्य शाब्दिक सत्य से नहीं है, बल्कि विचारों की सत्यता से संबंधित है। यह केवल हमारी अवधारणाओं का सापेक्ष सत्य नहीं, अपितु निरपेक्ष सत्य, सनातन सिद्धान्त है जो कि ईश्वर है।”

गाँधी जी ने सत्य व असत्य को समझने के लिए सत्य-असत्य दो प्रकार की अवधारणाओं को व्यक्त किया है—

क-सत्य— शुद्ध आत्मा की वाणी ही सत्य कता अधार है, जो ब्रह्म है, ईश्वर है व संसार में टिकाऊ है, जो यथार्थ सत्ता के नमा से प्रचलित हैं

ख-असत्य— असत्य वह है जो संसार में नहीं टिकता, जो न तो यथार्थ है और नहीं धारण करने योग्य है।

उनका मानना था कि कोई भी व्यक्ति चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, सत्य की इस सत्ता से इन्कार नहीं कर सकता। इसी सत्य पर सृष्टि आधारित है, जिसे आधार बनाकर गाँधी जी ने ‘सत्याग्रह’ के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। दादा धर्माधिकारी ने भी गाँधी जी की सत्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—“सामाजिक मूल्य के रूप में जब हम सत्य की उपासना करते हैं तो ध्रुव सत्य हमारे लिए यह है कि दूसरे व्यक्ति और मैं एक हूँ। मेरा दूसरों के साथ एकता, मेरी सामाजिकता, मेरी नैतिकता व सदाचार का आधार है जो दूसरों के साथ हमारी परमार्थिक एकता है।”

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि गाँधी जी के सत्य का सिद्धान्त विचारों की सत्यता, निरपेक्ष, सनातन व ईश्वर से जुड़ा है, जिसमें अन्तरात्मा की आवाज सुनने, अहिंसा को अपनाने, मन, वचन, कर्म से निर्विकार व शुद्धिकरण पर बल दिया है।

अहिंसा (Ahinsa or Non violence)- सत्य प्राप्ति गांधी जी का लक्ष्य व अहिंसा उनके लिए साधन था, वे अहिंसा को जीवन की सबसे बड़ी शक्ति मानते थे, जो जीवन को हिंसा से मुक्त रखती हैं। उनके अनुसार अहिंसा के बिना सत्य की खोज व ईश्वर प्राप्ति का स्वप्न अधूरा है। गाँधी जी के अनुसार—हिंसा कायरता का अस्त्र नहीं है, बल्कि व्यक्ति की सबलता का सशक्त प्रतीक है। अहिंसा कायर का कवच नहीं, बल्कि बहादुर का उच्चतम गुण है। किसी भी व्यक्ति के लिए कुविचार रखना ही हिंसा है। “सामान्य रूप से अहिंसा को सकारात्मक (Positive) एवं नकारात्मक (Negative) दो रूपों में देखा जाता है। गाँधी नकारात्मक रूप से पृथक है और सकारात्मक अहिंसा को अपनाते हुए उसके गुणों को बिजली से अधिक तेज और ईश्वर से भी अधिक शक्तिशाली रूप में वर्णित करता है। अतः ऊँची से ऊँची हिंसा का विरोध ऊँची से ऊँची अहिंसा के द्वारा किया जा सकता है।

17.5 अहिंसा के तत्व (Essential Elements of Non violence)

गाँधी जी द्वारा प्रस्तुत अहिंसा के सिद्धान्त के आधार पर अहिंसा के आवश्यक तत्वों की चर्चा निम्नवत् की जायेगी—

1) **सत्य (Truth)**- सत्य अहिंसा का पहला आवश्यक व महत्वपूर्ण तत्व है जो स्वयं में ब्रह्म है। परमात्मा है, ईश्वर है, जिसकी प्राप्ति मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। इसकी विस्तार में चर्चा पूर्व में की जा चुकी है।

2) **प्रेम (love)**- सभी जीवधारियों के साथ प्रेम की भावना व व्यवहार की आवश्यकता को गाँधी जी महत्वपूर्ण मानते थे, प्रेम जिसमें सत्य का होना नितान्त आवश्यक है। सबसे बड़ी अहिंसा है। गाँधी जी ने लिखा है—“प्रेम कभी कोई चीज पाने का इच्छुक नहीं होता। वह सदा कुछ देता है। यह सदा मुसीबतें सहन करता है। कभी घृणा नहीं करता, कभी बदला नहीं लेता।”

3) **आन्तरिक पवित्रता (inner purity)**- अंतरात्मा की शुद्धता एवं पवित्रता अहिंसा का तीसरा तत्व है। जहाँ आन्तरिक पवित्रता के अन्तर्गत आत्मा-अनुशासन, नम्रता जैसे गुणों को सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि इसी के आधार पर व्यक्ति स्वयं को अहिंसा के लिए प्रेरित करता है। डॉ० सुशील नायर ने लिखा है—“आन्तरिक पवित्रता व चट्टान है जिस पर एक सत्याग्रही को खड़ा होना चाहिए, ताकि वह अपने शत्रु के हृदय को प्रभावित कर सके और उनके अन्दर निहित मानवीय तथा ईश्वरीय शक्ति चिंगारी को प्रज्वलित कर सके।”

4) **लगन (perseverance)**- अहिंसा के लिए लगन का होना नितान्त आवश्यक है। गाँधी जी मानते थे कि व्यक्ति को किसी भी कार्य को केवल सफलता की लालसा से नहीं करना चाहिए, क्योंकि सफलता का मार्ग प्रशस्त करने पर कई बार असफलता का सामना करना पड़ता है, ऐसी स्थिति में अटूट लगन ही सफलता प्राप्ति की अनिवार्यता है।

5) **भयहीनता (Fearlessness)**- अहिंसा को एक सक्रिय शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए गाँधी जी मानते थे कि अहिंसा एक सतत् क्रियाशीलता शक्ति है, जिसमें सत्यता का पालन करने के लिए निडरता या भयहीनता का गुण होना आवश्यक है। अहिंसा बहादुरों का अस्त्र है, कायरता से अहिंसा में वजह पाना असंभव है।

6) **लालच का न होना (Non Possession)**- गाँधी जी के अहिंसा के प्रमुख तत्वों में व्यक्ति का लालची प्रवृत्ति से दूर रहना भी एक है। लालच जहाँ व्यक्ति के आत्मविश्वास को क्षीण करता है, वहीं अपराधिक प्रवृत्ति को जन्म देकर व्यक्ति को पदभ्रष्ट भी कर देता है।

7) **व्रत (fasting)**- गाँधी जी के अनुसार व्रत केवल व्यक्ति में नियम व अनुशासन को संचालित नहीं करता, बल्कि शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक पवित्रता का विकास करता है, और जिनमें इस प्रकार की पवित्रता निहित होती है। वह अहिंसा के सिद्धान्त का आसानी से पालन करने में सक्षम होता है।

उपरोक्त आधार पर गाँधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त को निष्कर्षतः निम्नवत् समझा जायेगा—

- अहिंसा के लिए आत्मबल की शक्ति आवश्यक है।
- अहिंसा आन्तरिक शक्ति के रूप में प्रयुक्त होकर आत्मा को विकसित करती है।

- अहिंसा मानव जीवन का उच्चतम आदर्श है, जिसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को निरन्तर प्रयत्नशील होना चाहिए।
- अहिंसा के लिए सत्य, प्रेम आन्तरिक पवित्रता, लगन, निडरता, लालची प्रवृत्ति का न होना तथा व्रत के आधार पर शारीरिक, मानसिक व आत्मिक पवित्रता को विकसित करना आवश्यक है।
- अहिंसा बुद्धि को नहीं हृदय को पवित्र करती है।
- अहिंसा जीवन का एक नियम है।

17.6 सत्याग्रह का अर्थ (Meaning of Satyagrah)

व्यक्ति के जीवन की अनेक आवश्यकताएँ तथा समस्याएँ होती हैं। जिनकी पूर्ति विभिन्न उद्देश्यों के आधार पर की जाती है। इन उद्देश्यों को कैसे पूरा किया जाए। इस संबंध में विभिन्न विद्वान अपनी अलग-अलग राय रखते हैं। इनमें से गाँधी जी भी एक हैं जिनका मानना है कि अहिंसा का व्यवहारिक रूप सत्याग्रह है। जिसके आधार पर लक्ष्य तक पहुँचना आसान हो जाता है। साथ ही लक्ष्य तक पहुँचने के लिए क्रान्ति को भी गाँधी जी ने आवश्यक मानते हुए सत्याग्रह को उसका मुख्य शस्त्र बतलाया है।

सत्याग्रह दो शब्दों से मिलकर बना है— सत्य और आग्रह। अर्थात् सत्य का आग्रह करना, सत्य पर दृढ़ रहना ही सत्याग्रह है, जिसकी उत्पत्ति के लिए अपनी पत्नी को कारक माना है। उन्होंने लिखा है—“मैंने अपनी पत्नी से सत्याग्रह का पाठ पढ़ा। मैंने उसे अपनी इच्छा के सामने झुकाने का प्रयास किया। उसमें एक ओर मेरी इच्छाओं का दृढ़तापूर्वक विरोध किया और दूसरी ओर मेरी मूर्खता के लिए मूक रहकर कष्ट सहन किया। मुझे अन्त में अपने आप में शर्म आने लगी और अपने इस विचार का कि मेरा जनम ही उस पर हुकूमत चलाने के लिए हुआ है, मुझे पागलपन दिखायी देने लगा। अन्त में अहिंसा के मामले में वह मेरी गुरु बनी और अनजाने में ही उसने जिस सत्याग्रह का अवलम्बन किया। उसी के नियमों का विस्तार मात्र मैंने दक्षिण अफ्रिका में किया।

17.7 सत्याग्रह के तत्व (elements of satyagrah)

यहाँ पर गाँधी जी के सत्याग्रह में निहित तत्वों की चर्चा करेंगे—

1) सत्य एवं अहिंसा (Truth and Non Violence)—गाँधी जी ने सत्याग्रह के पहले तत्व के रूप में सत्य की शक्ति व दूसरे के रूप में अहिंसा को आधार माना है। उनका मानना था कि सत्याग्रही को हमेशा यह विश्वास होना चाहिए कि वह सत्य के लिए लड़ रहा है। वह सत्य जो ईश्वर का रूप है, प्रेम है, न्याय है, क्योंकि सत्य सामाजिक क्रिया पर आधारित है। ऐसे ही अहिंसा के तत्व को प्रस्तुत कर उन्होंने लिखा है—यह एक ऐसा सकारात्मक व्यवहार है जो सत्य प्राप्ति का लक्ष्य है। इसके अन्तर्गत किसी के विचारों को मन को व शरीर को किसी प्रकार का कष्ट एवं आघात न पहुँचाना,

प्रेम व स्नेह के भाव को सम्मिलित किया गया है। सत्य व अहिंसा के सविस्तार चर्चा पूर्व में की गयी है।

2) आत्मपीड़ा (self Torture)- सत्याग्रह प्रेम पर आधारित है जिसे पाने के लिए व्यक्ति को समझौता, कष्ट व आत्मपीड़ा अनिवार्य हो जाती है। प्रेम की परीक्षा, त्याग व बलिदान से होती है और तपस्या का अर्थ स्वयं को कष्ट भुगतने के लिए सर्वदा तत्पर रखना, आत्मपीड़ा में भी संतुष्टि का होना है। आत्मपीड़ा से तत्पर व्यक्ति निडर व निर्भीक होता है, जिसमें मृत्यु से सामना करने की क्षमता होती है। गाँधी जी ने लिखा है—“प्रेम कभी मांग नहीं करता, वह हमेशा देता है, प्रेम कष्ट सहता है, कभी शिकायत नहीं करता है और न ही बदला लेता है।” अतः सत्याग्रह एक धर्मयुद्ध है, जिसमें भगवान की सहायता आवश्यक है, जो आत्मपीड़ा, अहिंसा तथा सत्याचरण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

17.8 सत्याग्रह के लक्षण (qualities of satyagarh)-

सत्याग्रह के प्रमुख दस लक्षणों को गाँधी जी द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिसकी चर्चा निम्नवत् करेंगे—

1) अहिंसा (Non violence)- दूसरों की आत्मा को दुखी न करना।

2) सत्य (Truth)- दूसरों के साथ हमारी परमार्थ एकता।

उपरोक्त दोनों लक्षण सत्य—अहिंसा के हैं, जिनकी चर्चा पूर्व में कई बार हो चुकी है। ये सत्याग्रह के लक्षणों में से एक हैं।

3) अस्तेय (Non Stealing)- यद्यपि यह नियम भी सहायक नियम है, तथापि सामाजिक संगठन की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्व है। व्यक्ति में आत्मसंतोष होना आवश्यक है, क्योंकि आत्मसंतोष ही अस्तेय की प्राप्ति का प्रतीक है। सामान्यतया दूसरे की अनुमति के बिना उसकी वस्तु को उठाना या उपयोग करना तो चोरी है ही, लेकिन यदि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यक जरूरतों से अधिक वस्तुओं की आकांक्षा करता है। उनके लिए प्रयत्न करता है तथा उनको अपने पास रखता है तो वह भी एक प्रकार का चोरी है। आवश्यकता से अधिक अपने पास रखने का अभिप्राय हम दूसरों के अधिकार की वस्तु में हाथ डाल रहे हैं, जिसको कि इसकी जरूरत है। दूसरे की वस्तु के लिए इच्छा ही न करना, जरूरत से अधिक वस्तुओं को समेटना अस्तेय है। अतः कहा जा सकता है कि अस्तेय एक वृत्ति और प्रवृत्ति भी है। यह एक निष्ठा है। केवल आचरण नहीं।

वृत्ति और आचरण की समानता के साथ अपने ही श्रम से प्राप्त वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति की वस्तु की आकांक्षा न करना ही अस्तेय है।

4) **ब्रह्मचर्य (Brahmcharya)**- ब्रह्मचर्य को गांधी जी ने सत्य-अहिंसा के लिए आवश्यक माना है। इसके प्रति उनकी धारणा सामाजिक थी। वे सार्वभौमिक प्रेम पर विश्वास करते थे, जिसमें प्रेम की सीमा स्त्री-पुरुष तक ही सीमित न रहकर सबके लिए होनी चाहिए। उनके अनुसार ये तभी संभव है, जब लैंगिक सुखों का प्रयोग या उपभोग दायरे के अन्तर्गत होगा। परिवार में स्त्री की अवस्था मातृत्व की भावना से सम्पन्न होनी चाहिए, जिससे उसमें त्याग वृत्ति का विकास हो। स्त्री को व्यक्तिनिष्ठ न होकर तत्त्वनिष्ठ होना चाहिए। स्त्री के सहजीवन की नींव पवित्रता पर होनी चाहिए। पुरुष की वृत्ति स्त्री के प्रति अनाक्रमणशीलता की होनी चाहिए और स्त्री की निर्भोकता की। यही जीवन का आधार है। ब्रह्मचर्य है, जो समाज के पतन के रास्ते से बचाने के लिए आवश्यक है।

5) **अपरिग्रह (Aparigarh)** गाँधी जी का विचार है कि व्यक्ति एवं समाज की सुख शान्ति परिग्रह या संचय करने में नहीं है, अपितु विचारपूर्वक एवं स्वेच्छा से संग्रह की हुई है। वस्तुओं, सम्पत्ति या सुख-सुविधाओं का त्याग करने में सच्ची शान्ति व सुख है, ज्यों-ज्यों परिग्रह कम होता है, मानव चिन्ताएँ कम होती जाती हैं तथा सच्चे सुख व शान्ति प्राप्त होती है। जहाँ ऐसा करने से व्यक्ति की आत्मा को सच्चा सुख मिलता है। वहीं समाज में धन का समान वितरण, गरीबी, भूखमरी आदि की भी समाप्ति होती है और समाज में प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता पूरी होने लगती है। परिग्रह का त्याग आवश्यक है, क्योंकि यह सभी बुराईयों की जड़ है।

6) **शारीरिक श्रम (Physical labour)**- शारीरिक श्रम के सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य को जीवित रखने के लिए श्रम आवश्यक है जो कि मस्तिष्क से नहीं शरीर से होना चाहिए। काम और आराम के बीच का अन्तर संघर्ष का कारण होता है, जिसे दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक श्रम आवश्यक करना चाहिए। हम जो कार्य कर सकते हैं, उसे स्वयं करना चाहिए। सामाजिक दृष्टि से भी यदि हम अपनी आवश्यकतानुसार के अनुमाप में कार्य करके खा लेते हैं तो इससे समाज में व्याप्त समस्याओं का भी समाधान हो जायेगा। पूंजीपति व श्रमिकों के बीच पाया जाने वाला संघर्ष कम होगा तथा समाज में न्याय की स्थापना होगी और शोषण कम होगा। गाँधी जी के अनुसार- 'व्यक्ति को धन निष्ठ न होकर श्रमनिष्ठ होना चाहिए।'

7) **अस्वाद (Tastelessness)**- शारीरिक श्रम के बदले कुछ प्राप्त करने की कामना अस्वाद है। दूसरों को खिलाकर खाना, उत्पादन पर स्वयं की जगह समाज का अधिकार मानना, आनन्द की छाया दूसरे की आँखों में देखकर आनन्दित होना अस्वाद है। अर्थात् पहले दूसरों को वितरित हो फिर यदि बचे तो मैं लूँ यही भावना अस्वाद कहलाती है। गाँधी जी के अनुसार- 'भोजन शरीर की आवश्यकता के

लिए नहीं होना चाहिए। न कि स्वाद के लिए। यदि हम अपनी पाश्विक वृत्तियों एवं कामनाओं पर विजय पाना चाहते हैं तो हमें स्वाद का त्याग करना होगा।

8) स्वदेशी (Swadeshi)- स्वालम्बन व्यक्ति के लिए अत्यंत आवश्यक व्रत है। गाँधी जी ने कहा है—“स्वदेशी ऐसी भावना है जो हमें आस-पास रहने वाले लोगों की सेवा के लिए प्रेरित करती है, जो व्यक्ति अपने निकट वालों को छोड़कर दूर वालों की सेवा के लिए दौड़ता है। वह स्वदेशी व्रत को भंग करता है। स्वयं उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग हमारा स्वाभिमान है। ऐसी भावना सत्याग्रह के लिए आवश्यक है।

9) स्पर्श भावना (Touchability)- गाँधी जी के अनुसार जाति-वर्ण के बन्धन से उत्पन्न ऊँच-नीच के आधार पर चलने वाली अस्पृश्यता का सर्वोदय समाज व्यवस्था में कोई स्थान नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपने बराबर समझे तथा प्रत्येक व्यक्ति में स्पर्श की भावना का उदय होना चाहिए। सभी मनुष्य समान हैं। अतः किसी के भी उचित तरीके से जीने का अधिकार को छीनने का किसी को हक नहीं है।

10) धार्मिक समानता (Religious Equality)- विभिन्न सम्प्रदायों का निराकरण कर देना धार्मिक समानता है। गाँधी जी के अनुसार सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त एक हैं, जिसका उद्देश्य सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखना है। यदि इस प्रक्रिया को जीवन में लागू किया जायेगा तो धर्म परिवर्तन की समस्या का भी अन्त हो जायेगा।

संक्षेप में गाँधी जी ने सत्याग्रह को ‘क्रान्ति का विज्ञान’ कहा है। सत्याग्रह के लिए उपरोक्त लक्षणों का पालन अनिवार्य है जो एक-दूसरे से किसी-न-किसी प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हैं।

17.9 सत्याग्रह की विधियाँ (Methods of satyagrah)

गाँधी जी सत्याग्रह में जिन विधियों का उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

1. हड़ताल
2. उपवास
3. प्रार्थना
4. प्रतिज्ञा
5. असहयोग
6. करबन्दी
7. धरना
8. सविनय अवज्ञा
9. अहिंसक धावे
10. आमरण अनशन
11. अपनी इच्छा से सरकारी सीमा छोड़ना।

17.10 सत्याग्रह का प्रयोग (Experiment of satyagraha)-

सामान्यतया यह माना जाता है कि सत्याग्रह का प्रयोग केवल शत्रुओं पर ही किया जाना गलत है। गाँधी जी के अनुसार—यदि सत्याग्रह न्याय और सत्य पर आधारित है तो इसका प्रयोग परिवार के सदस्यों, मित्रों, पड़ोसियों, साथियों, यहाँ तक कि संसार के विरुद्ध तक किया जा सकता है। सत्याग्रह आलौकिक शक्ति है, जो जाति, धर्म, लिंग, सम्प्रदाय, क्षेत्र आदि किसी आधार पर भेदभाव नहीं करता। अतः सत्याग्रह एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, जिसका प्रयोग सभी व्यक्तियों, सभी स्थितियों में किया जाता है।

17.11 सत्याग्रह का मनोविज्ञान (Psychology of satyagarh)–

सत्याग्र को मानव समाज की एक मनोवैज्ञानिक अवस्था माना जाता है। मनुष्य में पायी जाने वाली मूल प्रवृत्तियों को प्रमुख रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1) **सद्प्रवृत्ति या दैवी प्रवृत्ति**— गाँधी जी का विचार था कि यदि हम मनुष्य का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि वह सद्प्रवृत्तियों का प्राणी है। जिसमें देवत्व के गुण विद्यमान होते हैं। जो मनुष्य के अन्दर स्वभाविक रूप से विद्यमान देवत्व की प्रवृत्ति को जाग्रत करता है। इसमें व्यक्ति का स्वभाव व आत्मा अन्याय से न्याय की ओर, असत्य से सत्य की ओर, दानव से देवत्व, घृणा से प्रेम तथा स्वार्थ से परार्थ की ओर अग्रसारित होता है। सत्याग्रह व्यक्ति में सद्प्रवृत्ति को जाग्रत करने की कला है।

2) **असद् या दानवी प्रवृत्ति**—गाँधी जी के अनुसार, यदि मनुष्य में असद् प्रवृत्तियाँ होती हैं, तो सम्पूर्ण संसार में युद्ध और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती और मानव समाज नष्ट हो गया होता। अन्याय, असत्य, घृणा, स्वार्थ, दानवता का सर्वत्र बोलबाला होता और समाज अव्यवस्थित हो जाता।

अतः गाँधी जी मानते थे कि सत्याग्रह का सिद्धान्त व्यक्ति की मानवीय प्रवृत्तियों को सत्यप्रिय, न्यायप्रिय, परार्थी और अहिंसक बनाता है, जिसे एक वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक आधार कहा जा सकता है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि सत्याग्रह का तात्पर्य सत्य के आग्रह से है। जो व्यक्ति सत्य के लिए अपने प्राणों का बलिदान करने को भी तैयार रहता है, वहीं वास्तविक सत्याग्रही है। सत्याग्रह में प्रेम, स्नेह, सदाचरण, न्याय, परार्थी, सत्य, अहिंसा की प्रक्रिया को अपनाया जाता है, जिससे न केवल व्यक्ति, बल्कि सम्पूर्ण समाज, देश व राष्ट्र भी विकसित होता है।

17.12 सत्याग्रह का मूल्यांकन (Evaluation of Satyagarh)-

गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह के सिद्धान्त का मूल्यांकन निम्नवत् किया जा रहा है—

1) **व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में महत्व (Importance of Individual and social life)**— सत्याग्रह के प्रमुख तत्वों, विशेषताओं के आधार पर माना जा सकता है कि यदि व्यक्ति इनका अनुसरण करेगा, या जीवन में इन्हें आमसात् करेगा तो न केवल व्यक्ति के स्वयं के जीवन में, बल्कि सम्पूर्ण समाज में इसका महत्व होगा।

2) समाज का पुर्ननिर्माण (Reconstruction of society)- सत्याग्रह के सिद्धान्तों को जीवन में लागू कर व्यक्ति नकारात्मक से सकारात्मक प्रवृत्ति की ओर अग्रसारित होता है। गाँधी जी द्वारा वर्णित नये व नैतिक विचारों के आधार पर समाज का पुर्ननिर्माण भी संभव है।

3) सामाजिक अनुशासन व नैतिकता में वृद्धि— अनुशासन व संयम सक्षम व्यक्तित्व व सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है, जिसकी सहायता से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त दुष्परिणामों को समाप्त किया जा सकता है।

4) मानवता के प्रति प्रेम (Love for humanity)- सत्याग्रह एक ऐसा सिद्धान्त जिसमें मानवता के प्रति प्रेम के दर्शन होते हैं, जिससे समाज में स्नेह एवं सहयोग की भावना विकसित होती है और इस प्रकार समाज की प्रगति को प्रोत्साहन मिलता है।

अतः स्पष्ट है कि गाँधी जी में सौजन्यता, नम्रता, सत्य व अहिंसा के प्रति अटल विश्वास था, इसीलिए उन्होंने विश्व को विशेषकर भारत को सत्याग्रह के आधार पर नया मार्ग दिखलाया। श्रीमन्नारायण ने लिखा है—‘सत्याग्रह की बुनियाद भी साधन शुद्धि।’ गाँधी जी को यह विश्वास था कि हमको हमारा शुद्ध साध्य अशुद्ध व अपवित्र साधनों द्वारा कभी प्राप्त नहीं हो सकता। उनके अनुसार— “जैसे साधन होंगे वैसे ही साध्य होंगे, जैसा बीज वैसा ही वृक्ष होंगे।”

6— सत्याग्रह (Satyagarh)- समाजशास्त्र के सिद्धान्त के अंतर्गत सत्याग्रह का अध्ययन किया जाता है। इसका कारण है कि समाज सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था है और सत्याग्रह इन्हीं संबंधों में मधुरता व अनुकूलता को विकसित करता है। यद्यपि सत्याग्रह का प्रयास गांधी जी ने व्यक्तिगत जीवन में किया था, लेकिन इसका संबंध केवल व्यक्ति तक सीमित न होकर एक सार्वज्ञिक व व्यवहारिक सिद्धान्त के रूप में सामाजिक जीवन में भी है। सत्याग्रह की प्रक्रिया को अपनाकर समाज में व्याप्त असत्य, अन्याय, शोषण को समाप्त किया जा सकता है तथा सहयोग, सहकारिता, सद्भाव जैसी भावनाओं को विकसित कर सामाजिक व्यवस्था को एक व्यवस्थिति रूप प्रदान किया जा सकता है। सामाजिक जीवन इन्हीं महान सिद्धान्तों पर टिका हुआ है जो व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में प्रयोग किया जा सकता है। सत्याग्रह केवल सिद्धान्त की बात नहीं है, अपितु गाँधी जी ने इसका व्यवहारिक जीवन में भी प्रयोग किया है और पाया है कि इसकी सहायता से अन्याय व प्रतिकार को भी समाप्त किया जा सकता है। इस सिद्धान्त की मौखिक बात यह है कि इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी किया जा सकता है।

17.13 सर्वोदय (Sarvodaya)

अवधारणा (concept)-आधुनिक युग में विज्ञान ही शक्ति है, किन्तु सत्ता वैज्ञानिक के हाथ में नहीं है। सत्ता का सूत्र राज्य, धन, शस्त्र के हाथ में है। संसार शान्ति चाहता है, पर शस्त्र नहीं छोड़ता। व्यक्ति की सम्पन्नता, समृद्धि और सुशिक्षा के लिए पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद भिन्न-भिन्न प्रयोग चल रहे हैं। प्रगति विश्व का नारा बन गया है। गांधी जी ने आधुनिक विश्व के संघर्ष पूर्ण वातावरण को देखकर एक नवीन समाज रचना की व्यवस्था दी, जिसमें प्रेम, सत्य व शान्ति के आधार पर व्यक्ति प्रगति की ओर बढ़े, लक्ष्य के अनुरूप साधन जुटाए। ये तभी संभव है जब सर्वोदय का पालक किया जाए।

17.14 सर्वोदय का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions of Sarvodaya)-

यहाँ सर्वोदय का अर्थ व विद्वानों द्वारा दिये गये विचारों की चर्चा होगी।

सर्वोदय का अर्थ जानने से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि गाँधी जी का आदर्श समाज सर्वोदय समाज है। सर्वोदय शब्द को गाँधी जी ने रस्किन के प्रभाव व प्रेरणा से प्राप्त किया। रस्किन की पुस्तक 'अन टू दि लास्ट' पढ़ी और उसका गुजराती में अनुवाद कर सर्वोदय नाम से प्रकाशित किया और अपनी आत्मकथा में गाँधी जी ने सर्वोदय को इस प्रकार समझने की बात कही है—

1. सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है।
2. वकील व नाई दोनों के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का आधार सबको समान है।
3. किसान, मजदूर व कारीगर का जीवन ही सच्चा जीवन है और यही सर्वोदय का आदर्श है।

उनका कहना था—“पहली चीज में जानता था, दूसरे को मैं धुंधले रूप में देखता था, तीसरे को मैंने कभी विचार नहीं किया 'सर्वोदय' ने मुझे दीये की तरह दिखा दिया कि पहली चीज में दूसरी व तीसरी दोनों चीजें समायी हुई हैं।”

सर्वोदय के अर्थ को जानने से स्पष्ट होता है कि वह दो शब्दों सर्व और उदय से मिलकर बना है। 'सर्व' का तात्पर्य सबसे अर्थों में सबका उदय, सब का विकास व सब की उन्नति ही सर्वोदय है या सभी के जीवन के सभी पक्षों की सम्पूर्ण प्रगति ही सर्वोदय है, जो ऐसे वर्ग विहीन, जाति विहीन और शोषण विहीन समाज की स्थापना चाहता है, जो सर्वभू हिताय अर्थात् सबके अधिकतम हित पर विश्वास करती हो। जिसे सत्य अहिंसा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विनोबा भावे जी के शब्दों में— “सर्वोदय कुछ या बहुतों का या अधिकतम का उत्थान नहीं चाहता। हम अधिकतम से अधिकतम सुख से संतुष्ट नहीं हैं। हम तो केवल एक की और सब की, ऊँचे और नीचे की। सबल और निर्बल की, बुद्धिमान और बुद्धिहीन की भलाई से ही सन्तुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय शब्द एक उत्कृष्ट और सर्वव्यापक भावना की अभिव्यक्ति करता है।”

गाँधी जी ने लिखा है—“मेरा स्वराज्य का स्वप्न गरीबों के स्वराज्य का है। उनके लिए जीवन की आवश्यक वस्तुएँ वैसे ही सुलभ होनी चाहिए, जैसे कि धनिकों और राजाओं की। निःसन्देह कह सकता हूँ कि जब तक ये सुविधाएँ सर्व—सुलभ न हों, तब तक स्वराज्य 'पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा।”

डॉ० सिन्हा के अनुसार—“एक समाज में समस्त सदस्यों का समान, नैतिक, सांस्कृतिक विकास ही 'सर्वोदय' है।”

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है। सर्वोदय समाज व्यवस्था मानव मात्र के कल्याण के लिए विकसित की गयी समाज रचना है, जिसमें हर व्यक्ति अपनी शक्ति समाज को अर्पण करे और समाज की ओर से जो मिले उसे प्रसाद रूप में ग्रहण करें। यही साम्य योग और सर्वोदय का प्रमुख तत्व है।

17.15 सर्वोदय के सिद्धान्त

सर्वोदय के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों की चर्चा निम्नवत् की जा रही है—

1) **अक्षम को सक्षम बनाना**—सर्वोदय की समाज व्यवस्था में मनुष्य की वीरता दुर्बल की सुरक्षा के लिए प्रयोग की जायेगी। निर्बल का शोषण या उनको मारना वीरता नहीं है, बल्कि उनको सबल बनाने को प्रयत्न करना ही सच्ची वीरता है। एक-दूसरे की असमर्थता को दूर करके, सब एक दूसरे का जीवन सम्पन्न करें। प्रत्येक व्यक्ति के विकास में अपना विकास समझे। दूसरे की असमर्थता का निवारण ही अपने सामर्थ्य का विकास है। इसमें व्यक्तिवाद की भावना सर्वोदय में विलीन हो जायेगी। इस प्रकार के विचार का आचरण ही सर्वोदय का प्रथम सिद्धान्त है।

2) **प्रेम और अहिंसा**— सर्वोदय समन्वयवादी नीति पर आधारित है। जिसमें एक दूसरे को अपना बनाकर त्याग की भावना को विकसित किया जा सकता है। जहाँ मार्क्स संघर्ष को स्वाभाविक बतलाते हैं, वहीं सर्वोदय प्रेम को स्वाभाविक मानता है। सर्वोदय का आधार सत्य और निष्कपट प्रेम है। निश्छल मन से सब के साथ साथ सद्व्यवहार करने से समन्वय होता है। अतः प्रेम और अहिंसा सर्वोदय का दूसरा सिद्धान्त है।

3) **मानवीय मूल्यों की स्थापना**— गाँधी जी व्यक्ति को सर्वाधिक महत्व देते थे तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित करना चाहते थे। प्रत्येक समाज में मानव जीवन के कुछ निश्चित मूल्य होते हैं, जिनकी रक्षा सामाजिक कल्याण की दृष्टि से आवश्यक हैं। अतः सर्वोदय का तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त मानवीय मूल्य है, जिसमें सत्य, अहिंसा, प्रेम निहित होता है। गाँधी जी के अनुसार “मानवीय मूल्य वही है जो सब पर समान रूप से लागू हो, जो परमार्थिक हो और जो निरपेक्ष हो।” सर्वोदय समाज की वह अवस्था है, जो इन मानवीय मूल्यों को स्थापित करने में सहयोग देती है और समाज की प्रगति में सहायक होती है। सर्वोदय समाज बाधक मूल्यों का निवारण कर निरपेक्ष, शाश्वत एवं व्यापक मानवीय मूल्यों की स्थापना करना चाहता है।

17.16 सर्वोदय के आधारभूत उद्देश्य

(Fundamental objectives of Sarvodaya)

सर्वोदय मानव समाज के विकास की एक वैज्ञानिक योजना है, जिसका उद्देश्य सभी का उत्थान व विकास करना है। गाँधी जी के अनुसार— “मनुष्य स्वभाव से सहयोग करने वाला प्राणी है, लेकिन इसके लिए उसे पर्याप्त अवसर मिलना आवश्यक है। सर्वोदय व्यक्ति को सहयोगात्मक अवसर प्रदान करता है। संक्षेप में सर्वोदय के आधारभूत उद्देश्यों की चर्चा निम्नवत् की जा रही है—

1) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण (Decentralization of Power)**—सर्वोदय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता का अधिकारी है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें समाज को संगठन और प्रगति के लिए सत्ता के उपयोग की आवश्यकता ही नहीं होती। अतः संस्थाओं द्वारा सत्ता का प्रयोग या तो समाप्त कर दिया जायेगा या फिर कम कर दिया जायेगा। गाँधी जी ने स्वीकार किया था कि व्यक्ति की प्रगति के लिए शक्ति के केन्द्रीकरण को समाप्त करना होगा और इसे छोटी-छोटी इकाइयों तक फैलाना होगा। साथ ही इन्हें विशिष्ट अधिकार व कर्तव्य

प्रदान किये जायें। इसलिए गाँधी जी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक, सभी क्षेत्रों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना चाहते थे। उनके ग्राम स्वराज्य की कल्पना विकेन्द्रीकरण पर ही आधारित थी।

2) आत्म संयम (Self Restraint)- व्यक्ति व राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए गाँधी जी सर्वोदय को महत्वपूर्ण मानते थे। आत्मसंयम व्यक्ति का एक ऐसा गुण है, जो व्यक्तित्व विकास के साथ समाज व राष्ट्र के विकास में भी सहायक होगा, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, निर्भीकता, आध्यात्मिकता, शारीरिक श्रम, अस्वाद, स्वावलम्बन तथा अस्पृश्यता का अन्त जैसी विशेषताओं का समावेश होगा। ये सभी विशेषताएँ आत्म संयम पर आधारित हैं इसके लिए सर्वोदय का लक्ष्य प्रमुख है।

3) आजीविका का साधन (Employment)- सर्वोदय समाज व्यवस्था समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक रोजगार देने की व्यवस्था करती है। इसका अर्थ है कि विज्ञान (science) और यंत्र (Machines) उत्पादन में सहायक होंगे। हर व्यस्क सेवाभाव से कार्य करेगा, श्रम की प्रतिष्ठा, व्यक्ति के लिए भौतिक व आध्यात्मिक विकास के अवसर इत्यादि की उपलब्धता होगी। उत्पादन में भारी साधनों में ग्राम संस्थाओं, सहकारी संस्थाओं अथवा राज्य का अधिकार होगा। कोई बेकार नहीं रहेगा। सब अपना-अपना काम करेंगे।

4) अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति (Satisfaction of Necessities)- गाँधी का सर्वोदय प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण विकास पर विश्वास करता है। अतः हर एक की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति सर्वोदय का लक्ष्य है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की उपलब्धता के लिए मुख्य रूप से रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था के लिए उपयुक्त आमदनी के साधन जुटाना आवश्यक होगा।

5) क्षेत्रीय स्वावलम्बन (Regional Sufficiency)- सर्वोदय आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से 'ग्रामीण गण राज्यों' (village republics) का निर्माण करना चाहता है। क्षेत्रीय आधार पर आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन हो। गाँव-गाँव और क्षेत्रों में प्रेम, सेवा और सहयोग के आधार पर पारस्परिक आदान-प्रदान हो सकता है, किन्तु मौलिक आवश्यकताओं के बारे में प्रत्येक गाँव और क्षेत्र स्वावलम्बी होगी। कहने का तात्पर्य है कि परावलम्बन, शोषण, अन्याय व आलस्य को मिटाकर क्षेत्रीय स्वावलम्बन का विकास सर्वोदय का लक्ष्य है।

6) सभ्य व सुसंस्कृत समाज (Civilized and Cultured Society)- सर्वोदय एक सभ्य व सुसंस्कृत समाज की स्थापना का समर्थक है। जहाँ विज्ञान व अहिंसा का समन्वय, शारीरिक श्रम की महत्ता, राजनीतिक साम्य, नैतिक मूल्य, जनशक्ति का उपयोग, एक नवीन शासनमुक्त व वर्ग विहिन सामाजिक रचना, सत्यता के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में शान्ति और संतोष का वातावरण उत्पन्न होने में सहायता मिलेगी। गाँधी जी का सर्वोदय एक ऐसे ही आदर्श समाज की स्थापना पर आधारित है।

उपरोक्त उद्देश्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि गाँधी जिस सर्वोदय की बात करते थे। उसमें व्यक्ति की अत्याचारों से मुक्ति, दलबन्दी की समाप्ति, समानता, सत्ता की समाप्ति, जनहित का प्रोत्साहन, निरंकुशता का अन्त, सत्यता, प्रेम, अहिंसा, सहयोग, सद्भावना, वर्गविहीनता के उद्देश्यों को साथ लेकर विश्व में शान्ति और बन्धुत्व की भावना को निहित है और यही सर्वोदय के मौलिक

उद्देश्य एवं लय हैं। उपनिषद् में वर्णित शब्दों के अनुसार— सर्वोदय ऐसे वर्ग विहीन, जातिविहीन एवं शोषण विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को अपने सर्वांगीण विकास का साधन और अवसर मिलेंगे। यह क्रान्ति सत्य व अहिंसा द्वारा ही संभव है। सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार गाँधी जी ने सर्वोदय द्वारा डार्विन के 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (struggle for existence) तथा बेन्थम के 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सिद्धान्त को चुनौती दी। उन्होंने सर्वोदय द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि समाज संघर्ष पर नहीं सहयोग व प्रेम पर जीवित है जो सभी व्यक्तियों के सम्पूर्ण कल्याण की भावना पर आधारित है।

17.17 सर्वोदय की कार्यपद्धतियाँ (Technique of Sarvodaya)

गाँधी जी ने सर्वोदय की कुछ पद्धतियों को स्पष्ट किया है—

1—अहिंसक क्रान्ति (Non Violence Revolution)— गाँधी जी का मानना था कि सामाजिक परिवर्तन बल के प्रयोग से नहीं, बल्कि हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा मानव समा में समानता लाने के लिए विचारों की संकीर्णता को समाप्त कर लाया जा सकता है। अतः गाँधी जी की इस मौलिक प्रतीति पर ही सर्वोदय विश्वास करता है। जिसका आधार अहिंसक क्रान्ति है।

2— वैचारिक उदारता (Broad Mindedness)— विचारों में शुद्धता लाना आवश्यक है। सत्य—असत्य, उचित—अनुचित, न्याय—अन्याय का मूल्यांकन कर सह अस्तित्व की भावना को विकसित किया जा सकता है। विरोध एवं संघर्ष को समाप्त करने के लिए विचारों में उदारता उत्पन्न करना सर्वोदय के लक्ष्य सिद्धि के लिए आवश्यक साधन है।

3—सत्याग्रह (Satyagrah)— सत्यनिष्ठा के साथ बड़े—छोटे, अमीर—गरीब सभी को सहजीवन अपनाने का आग्रह व प्रेरणा ही सत्याग्रह है। सत्य के लिए कुछ भी कर सकने का जज्बा, निर्भीकता, त्याग आदि से विरोधी लोगों के जीवन को परिवर्तित कर देना ही सर्वोदय की उत्तम कार्यविधि है।

4— दान (Dan)— सर्वोदय की विचारधारा इस बात पर विश्वास करती है कि जो व्यक्ति आर्थिक रूप से सम्पन्न है। वह स्वयं ही अपनी इच्छा से उन लोगों की सहायता करे जो अक्षम हैं या जिनके पास मूलभूत आवश्यकताओं का भी अभाव है। भूमिदान, सम्पत्तिदान, जीवनदान, सर्वोदय समाज की स्थापना की प्रमुख कार्य प्रणालियाँ हैं। जिन्हें जबरदस्ती नहीं, बल्कि स्वेच्छा व विश्वास से प्राप्त किया जाए।

अतः गाँधी जी समाज ने समानता के लिए अहिंसक क्रान्ति, विश्वास, विचारों में उदारता, दान, सहयोग आदि को सर्वोदय की कार्यप्रणाली में शामिल किया है।

17.18 संरक्षकता का सिद्धान्त (Theory of Trusteeship)

प्रत्येक समाज चाहे वे आदिम हो या आधुनिक, सभ्य हो या असभ्य में एक निश्चित सामाजिक संस्तरण विद्यमान रहा है, जिन्हें जाति, वर्ण, वर्ग आदि नामों से पुकारा जाता है। इस संस्तरण का आधार सामाजिक, धार्मिक आर्थिक, राजनैतिक रूप में भिन्न-भिन्न समाजों में पाया जाता रहा है। वर्तमान पूँजीवादी युग में अर्थव्यवस्था की आधिक महत्ता है जिसके आधार पर समाज धनी-निर्धन दो वर्गों में विभाजित है। जिसका मुख्य कारण आर्थिक भिन्नता है जो अपनी चरम सीमा पर विद्यमान है। जहाँ आर्थिक रूप से सम्पन्न धनी, पूँजीवादी वर्ग के पास आर्थिक साधनों की सम्पन्नता होती है। शेष समाज (निर्धन वर्ग) आर्थिक कठिनाईयों का सामना करते दिखायी पड़ता है। इससे समाज में आर्थिक असमानता और शोषण का जन्म होता है। गाँधी जी के अनुसार—“व्यक्ति में अपने पास उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिए, जिसके द्वारा वे अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। आवश्यकता से अधिक धन के संग्रह से शोषणकारी प्रवृत्ति विकसित होती है और असमानता व विषमता फैलने लगती है।

वर्तमान में धनी-निर्धन के बीच व्याप्त असमानता को दूर करने के लिए गाँधी जी ने शोषणहीन और विषमताहीन समाज की स्थापना के आधार पर आर्थिक असमानताओं को दूर करने के लिए संरक्षकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। गाँधी जी मानते थे कि साम्यवादी उपाय अर्थात् कानून व शक्ति की सहायता से और स्वेच्छा से सम्पत्ति को समाज की समझते हुए व्यक्ति (धनी) स्वयं उसका संरक्षक बन जाए। इस प्रकार आर्थिक असमानता को दूर किया जा सकता है। गाँधी जी साम्यवादी उस व्यवस्था के विरोधी थे, जिसमें धनियों के धन को जबरदस्ती छीनकर सर्वहित के उपयोग में लाने की बात थी, क्योंकि यह रास्ता हिंसात्मक है, बल्कि स्वेच्छा से धन को सर्वहिताय के लिए प्रयोग करने में अहिंसात्मकता के आधार पर समानता विकसित करने के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा है—“न पूँजीवाद को, हम पूँजीपति को निमन्त्रण देते हैं कि वे अपने को उन लोगों का संरक्षक माने जिनके परिश्रम पर वह अपनी पूँजी को बनाने, कायम रखने तथा उसको बढ़ाने के लिए आश्रित हैं।”

17.19 संरक्षकता का अर्थ (Meaning of Trustsheep)-

संरक्षकता का तात्पर्य किसी वस्तु को किसी के संरक्षण में रख देना है। गाँधीवादी अर्थशास्त्र में संरक्षकता के सिद्धान्त में समानता का भाव निहित है। गाँधी जी की मान्यता है कि वकील हो या मजदूर सभी को बराबर धन मिलना चाहिए। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाज कल्याण के लिए धन कमाए तो वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी, व्यक्ति को चाहिए कि कमाया हुआ धन समाज की आवश्यकतानुसार समर्पित कर देना है, अर्थात् संरक्षकता के सिद्धान्त की मूलभूत भावना यह है कि पूँजीपतियों के पास जो धन है वह समाज की धरोहर है, जिसका उपयोग समाज कल्याण में निहित है।

17.20 संरक्षकता के तत्व (Elements of Trustaship)

संरक्षकता का अर्थ इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि किसी द्रव्य या रूपये को संरक्षण में रखना अर्थात् पूंजी को संरक्षण में रखना है, जिसका उपयोग समाज के कल्याण के लिए किया जा सके। इसके बाद संरक्षकता के तत्वों की चर्चा की जायेगी, जो गाँधी जी के अनुसार निम्नवत् है—

1—उचित आवश्यकताओं की पूर्ति— संरक्षकता का सिद्धान्त इस बात पर विश्वास करता है कि मानव को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही धन खर्च करने न कि भौतिकवादी आवश्यकताओं के पीछे भागे। गाँधी जी ने लिखा है, “प्रत्येक व्यक्ति उन सामान्य नागरिकों की तरह जीवन यापन करें। जिस प्रकार समाज में रहने वाले व्यक्ति करते हैं और ये तभी संभव होगा जब व्यक्ति की आवश्यकताएं सीमित होगी।”

2— आवश्यकतानुसार पूंजी— अपनी आवश्यकता के पश्चात् बचे धन के उपयोग के लिए सुरक्षित रखने के स्थान पर उसका संरक्षक बन कर रहना संरक्षकता का दूसरा तत्व है। हरिजन सेवक (3-6-1939) में गाँधी जी ने लिखा है—“मान लीजिए विरासत या उद्योग व्यवसाय के द्वारा मुझे काफी बड़ी सम्पत्ति मिल गयी, तब मुझे यह जानना चाहिए कि यह सारी सम्पत्ति मेरी नहीं है, बल्कि उसमें मेरा उतना ही अधिकार है जिस तरह लाखों व्यक्ति गुजर करते हैं। मेरी शेष सम्पत्ति पर राष्ट्र का अधिकार है उसी के हित के लिए उसका उपयोग आवश्यक है।” ऐसे आत्मविश्वास से समाज में समानता व सही समाजवाद की स्थापना संभव हो पायेगी।

3— नैतिकता पर आधारित— पूर्व अध्ययनों से स्पष्ट है कि गाँधी जी का दर्शन नैतिकता व धर्म पर आधारित है। यही कारण है कि संरक्षकता के सिद्धान्त को भी उन्होंने नैतिक तत्वों के आधार पर प्रतिपादित किया है। गाँधी जी ने हमेशा अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को सर्वाधिक महत्व दिया है। जिसके लिए व्यक्ति को जाग्रत रहने के वे पक्षधर थे, क्योंकि कर्तव्यों के प्रति जागरूकता स्वयं व्यक्ति में नैतिकता को विकसित कर देती है। गाँधी जी मानते थे कि सम्पूर्ण गीता का सिद्धान्त कर्म व त्याग पर आधारित है। अपने-अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूकता ही समाज में संरक्षकता के सिद्धान्त को विकसित करने में सहायक होती है।

4— सत्याग्रह व असहयोग पर आधारित— सत्याग्रह और असहयोग दोनों संरक्षकता के सिद्धान्त के महत्वपूर्ण तत्व हैं जिनकी विस्तार विवेचना पूर्व में की गयी है। यदि पूंजीपति अपनी अतिरिक्त पूंजी को सामाजिक हित में न दे तो उसे प्राप्त करने के लिए गाँधी जी के अनुसार अहिंसक असहयोग और सविनय कानून भंग सिद्धांत के आधार पर बाध्य कर प्राप्त करना होगा। गांधी जी ने लिखा है—“लोग यदि स्वेच्छा से संरक्षकों की भांति व्यवहार करने लगे तो मुझे सचमुच खुशी होगी, लेकिन यदि वे ऐसा न करे तो हमें राज्य के द्वारा हिंसा का आश्रय लेकर उनकी सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी।” ऐसा करने से हिंसक क्रांति उत्पन्न होगी जिसके गाँधी जी विरोधी थे। अतः गाँधी जी ने संरक्षकता के सिद्धान्त के आधार पर संरक्षित धन का उपयोग अहिंसा एवं नैतिकता के आधार पर लोक हित को समर्पित करने की बात कही है।

5— अहिंसक क्रान्ति— परिवर्तन प्रकृति का अनिवार्य नियम है। इसे गति देने के लिए गाँधी जी अहिंसात्मक क्रान्ति पर बल देते हैं और एक व्यवस्थित सामाजिक परिवर्तन लोने के पक्षधर दिखायी देते हैं। उनका मानना था कि अहिंसक क्रांति में एक-दूसरे के प्रति प्रेम, सहयोग की भावना निहित

होती है जो हिंसक अर्थात् खून-खराबे की क्रान्ति को नकारती है। गाँधी जी के अनुसार—“ स्वयं पूंजी बुराई नहीं है लेकिन इसका दुरुपयोग करना बुराई है।”

उपरोक्त तत्त्वों की चर्चा के पश्चात् गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित संरक्षकता के सिद्धान्त को संक्षिप्त रूप में समझेंगे—

- ✓ गाँधी के संरक्षकता का सिद्धान्त सभी की आवश्यकताओं की समानपूर्ति पर आधारित है।
- ✓ पूंजीपतियों द्वारा संरक्षित अतिरिक्त धन समाज कल्याण के हित में लगाने को पक्षधर हैं।
- ✓ अहिंसात्मकता, नैतिकता, सत्याग्रह आदि के आधार पर संरक्षकता की सार्थकता को स्वीकार करना।
- ✓ जमींदार, राजा, व्यवसायी, उद्योगपति सभी को लोभ व परिग्रह की भावना का त्याग कर आत्मविश्वास में वृद्धि करना।
- ✓ इसका प्रमुख उद्देश्य अतिरिक्त सम्पत्ति को राज्य की भलाई को समर्पित करना है जिससे व्यक्ति, समाज, देश, राष्ट्र सभी का विकास हो सके।

गाँधी जी के संरक्षकता के सिद्धान्त को कुछ लोग केवल धनी व पूंजीपति वर्ग के लिए ही मानते हैं जो कि गलत है। यह समाज के सभी व्यक्तियों व सम्पूर्ण समाज के लिए समान रूप से लागू होता है। पूंजीपति—श्रमिक, शिल्पी, कलाकार, वैज्ञानिक इत्यादि भी समाज के हित में अपने ज्ञान का उपयोग करके समाज के सहायक बन सकते हैं। इसका तात्पर्य है कि इन लोगों के पास जो भी ज्ञान है। वे उन्ही तक सीमित न होकर सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोग में लाया जायेगा।

17.21 संरक्षकता के सिद्धान्त का महत्व

गाँधी जी के संरक्षकता का सिद्धान्त व्यक्ति, समाज, देश, राष्ट्र सभी के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कैसे? इसकी चर्चा का अध्ययन निम्न बिन्दुओं के माध्यम से किया जायेगा—

1— संरक्षकता का सिद्धान्त मानव—मानव के बीच प्रेम, अहिंसा, सहानुभूति, सहयोग और भ्रातृत्व जैसे आदर्श गुणों को विकसित करने का प्रयास किया जाता है—

1. प्रेम और सहयोग से सामाजिक एकता व संगठन में सहायता मिलती है।
2. आर्थिक असमानता की समाप्ति के साथ सभी को समान अवसर के लिए संरक्षकता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है।
3. वर्ग संघर्ष की समाप्ति के लिए भी इस सिद्धान्त की सहायता ली जा सकती है।
4. संरक्षकता का सिद्धान्त सम्पत्ति तथा वस्तुओं के व्यक्तिगत स्वामित्व की अवहेलना करता है।

5. यह एक नैतिक सिद्धान्त है जिसका प्रसार सामाजिक कल्याणार्थ होता है, जो व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक है।
6. सम्पत्ति का प्रयोग स्वभावतः सामाजिक होता है (capital is social in its use) संरक्षकता का सिद्धान्त पूँजी को सामाजिक उपयोग की वस्तु बनाने में योगदान प्रदान करता है।
7. संरक्षकता का सिद्धान्त अहिंसक क्रान्ति का पक्षधर है।

उपरोक्त बिन्दु स्पष्ट करते हैं कि संरक्षकता का सिद्धान्त व्यक्ति, समाज, देश, राष्ट्र सभी के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

17.22 संरक्षकता का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Trusteeship)

उपरोक्त चर्चा के पश्चात् गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित संरक्षकता के सिद्धान्त की आलोचना का अध्ययन किया जायेगा, जो निम्न बिन्दुओं पर आधारित है—

- विद्वानों का मानना है कि पूँजीवादियों को संरक्षक बना देने मात्र से परिवर्तन नहीं हो सकता।
- आज तक का अनुभव बतलाता है कि कोई भी पूँजीपति, व्यवसायी सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को छोड़कर अपनी सम्पत्ति का इच्छापूर्वक उपयोग दूसरों के लिए नहीं करता है। इस प्रकार का सिद्धान्त मात्र कल्पना है।
- इस सिद्धान्त के द्वारा समाजवाद और पूँजीवाद दोनों का विकल्प बतलाया गया है, किन्तु व्यवहारिक रूप से इसमें पूँजीवाद और समाजवाद दोनों के दोष शेष दिखायी पड़ते हैं। पूँजीपतियों का अबोध संचय और शोषण कम होने की संभावनाएँ इसमें नजर नहीं आता है।
- यदि इस सिद्धान्त का मूल्यांकन करें तो हम पाते हैं कि जहाँ एक ओर गाँधीवादी के औद्योगिक संस्थानों में इस सिद्धान्त के आधार पर कुछ कार्य किये जा रहे हैं। वहीं मजदूरों की स्थिति अन्य पूँजीवादी संस्थानों में कार्य करने वाले मजदूरों से भी बहुत खराब है। संरक्षक कहे जाने वाले निरंकुश अधिकारी पूँजीपतियों से अधिक शोषण कर रहे हैं।

अतः स्पष्ट है कि वर्तमान समाज में जहाँ अमीर और अमीर तथा गरीब और गरीब होता जा रहा है, वहाँ समानता की कल्पना निरर्थक है। सहयोग, प्रेम, अहिंसा के स्थान पर हिंसा, वर्ग संघर्ष, असमानता, व्यक्तिवादिता आज सर्वत्र विद्यमान है।

संरक्षकता के सिद्धान्त को जानने के पश्चात् आगे गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सामाजिक विचारों की संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

17.23 गाँधी जी के सामाजिक विचार (social views of Gandhi ji)

पूर्व में चर्चा की गयी है कि समाज सुधार के कार्यों में निर्णायक भूमिका का निर्वाह करने के कारण गाँधी जी को राजनैतिक, आर्थिक, सुधारकों के साथ सामाजिक सुधारक के रूप में भी जाना जाता है। यही कारण है कि उनकी गणना भारत के महान सुधारकों—नानक, कबीर, राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती आदि से की जाती है। एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए उन्होंने न केवल सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया, बल्कि उन्हें व्यवहारिकता देने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये। उनकी मान्यता थी कि समाज सुधार आन्दोलन के माध्यम से ही भारत स्वतंत्रता के लक्ष्य के निकट पहुँचकर उसको प्राप्त करने में सफल होगा। भारतीय समाज के सुधार हेतु विकसित समाज सुधार कार्यक्रमों की चर्चा निम्नवत् है—

1 वर्णव्यवस्था (Varna Vyavashtha)— भारतीय हिन्दू जन्म पर आधारित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों पर आधारित है। सामाजिक व्यवस्था के संचालन के लिए चारों वर्णों को अलग-अलग कार्य सोचे गये, लेकिन वर्तमान समय में वर्ण व्यवस्था का अर्थ मूल रूप से परिवर्तित हो गया। जिसमें सामुदायिक भावना संकुचित हुई। राष्ट्रीय एकता में बाधा उत्पन्न होने के साथ-साथ, अस्पृश्यता और शोषणकारी नीति में वृद्धि हुई और एक स्वस्थ प्रजातंत्र को स्थापित करने में कठिनाई आने लगे। गाँधी जी ऐसी वर्ण व्यवस्था का विरोध कर समान रूप से पैदा होने के कारण सबको समान अवसर मिलने के पक्षपाती थे। गाँधी जी के अनुसार—‘वर्ण का अर्थ है। मनुष्य के पेशे के चुनाव का पूर्ण निर्धारण जिसमें एक व्यक्ति अपनी रोटी कमाने के लिए अपने पूर्वजों के पेशे को अपनाएगा यह वंशानुक्रमण पर आधारित एक अटल नियम है। जो न्यूटन के मध्याकर्षण शक्ति के नियम (law of gravitation) की भाँति सदैव क्रियाशील व विद्यमान है।’

गाँधी जी का मानना था कि वर्तमान वर्ण व्यवस्था ने जात-पात, खान-पान, छुआछूत, ऊँच-नीच जैसी संकीर्णताओं में जकड़ दिया है। जो समाज सुधार व विकास में बाधक है। गाँधी ने वर्ण व्यवस्था को निम्न रूप में देखकर एक सुसंगठित समाज की स्थापना पर बल दिया—

- वर्ण व्यवस्था कार्यों के आधार पर विभाजित एक सामाजिक संगठन है।
- प्रत्येक व्यक्ति को जीवन निर्वाह के लिए अपने पैतृक व्यवसाय को अपनाना चाहिए, क्योंकि यह वंशानुगत नियम से संबंधित है।
- वर्ण व्यवस्था एक स्वभाविक व क्रियाशील व्यवस्था है। जिसका उद्देश्य उचित व्यक्ति को उचित पेशे में लगाए रखना है, क्योंकि सभी व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समान नहीं होते। उन्हें काम सौंपा जाए। यही उचित है।
- सामाजिक कार्य समान हैं और इसलिए कार्य, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो के आधार पर ऊँच-नीच की भावना अनुचित व अवैज्ञानिक है। मनुष्य का कार्य तभी बुरा है जब वह समाज विरोधी व समाज के लिए हानिकारक है। जब व्यक्ति अपने कार्य को मेहनत

से, ईमानदारी से व समाज सेवा की भावना को मन में रखकर करता है, तब वह कभी छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं हो सकता। सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के कार्य की अपनी महत्ता होते हैं चाहे वे ऑफिसर हो, या कर्मचारी और गाँधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था का यही आधार वैज्ञानिक व वास्तविक है।

- वर्ण व्यवस्था के कुछ निश्चित नियम होते हैं जिसमें प्रतिस्पर्द्धा का कोई स्थान नहीं होता। सीमाओं को मानते हुए भी वर्ण का नियम छोटे-बड़े का भेदभाव नहीं करता। एक ओर तो यह नियम प्रत्येक को उसके फल का श्रम देने का आश्वासन देता है, दूसरी ओर वह अपने पड़ोसी को दबाने या उसके कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करने से रोकता है। यह नियम अब पतित व बदनाम किया गया है। गाँधी जी कहते हैं—“मेरा दृढ़ विश्वास है कि एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का विकास तभी होगा जब कि इस नियम के अन्तर्निहित तत्त्वों को पूर्णतया समझ लिया जाए और उन्हें क्रियात्मक रूप दिया जाए।”
- गाँधी जी मानते हैं कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने पैतृक पेशे को अपनाना चाहिए। परन्तु ऐसा करते हुए उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह किसी मौलिक, नैतिक नियम को तो नहीं तोड़ रहा है। पैतृक व्यवसाय हमेशा समाजयोगी होना चाहिए।
- गाँधी जी के अनुसार वर्ण व्यवस्था का जाति प्रथा से कोई संबंध न ही है। जहाँ जाति प्रधान एक सामाजिक कलंक है, वहीं वर्ण व्यवस्था हमारे कर्तव्यों को हमें बतलाता है। जो उन पेशों से संबंधित है जिसमें अच्छे-बुरे की भावना के स्थान पर समाज कल्याण की भावना निहित होती है।
- गाँधी जी के अनुसार—वर्ण जनम द्वारा निर्धारित है उसे कायम रखने के लिए संबंधित कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है।

उपरोक्त वर्ण व्यवस्था संबंधी विचारधारा में गाँधी जी के विचार सूत्र से समानता रखते हैं जो पेशों या उद्यमों में समानता, ऊँच-नीच का स्थान अनुपयोगी, सभी के व्यवसायों को सम्मान, प्रतिस्पर्द्धा की समाप्ति जैसे गुणों का समावेश है।

2- अस्पृश्यता (untouchability)-जाति व्यवस्था में पायी जाने वाली असमानता अपनी चरम सीमा को पूर्णरूपेण पृथक जातियों के विकास में प्रदर्शित करती है, जिन्हें अस्पृश्य जातियाँ कहा जाता है। अस्पृश्य का तात्पर्य स्पर्श न करने योग्य अर्थात् अपवित्र जातियों से माना जाता था जो वर्ण व्यवस्था में सामाजिक व सांस्कृतिक अशुद्धि से परिपूर्ण तथा उनके व्यवसाय या धन्धे

नियामक श्रेणी (Normative Hierarchy) निम्नतम माने जाते थे। गाँधी जी ने हमेशा इसका विरोध किया। उनका मानना था— 'हम सब समान पैदा हुए हैं और इसलिए हम सबको समान अवसर पाने का अधिकार है।' वर्तमान वर्ण व्यवस्था के विकृत स्वरूप ने समाज में छूआछूत का काला रंग पोतकर उसे कुरूप कर दिया है। यह एक समाज विरोधी अवधारणा है। गाँधी जी हमेशा इस बात के विरोधी रहे कि जन्म के आधार पर किसी को अस्पृश्य, अछूत या दलित कहा जाए। यह व्यवस्था केवल उच्चता के छोटे अहंकार द्वारा उत्पन्न हुई है, जो सामाजिक अन्याय, शोषण व राष्ट्रीय प्रगति का अवरोधक प्रतीत है।

गाँधी जी द्वारा समाज में समान व्यवस्था लागू करने के लिए वर्ण व्यवस्था के चौथे वर्ण के लिए जो कार्य व विचार प्रस्तुत किये गये उनकी चर्चा निम्नलिखित बिन्दुओं से की जा रही है, जिसे समझने में विद्यार्थियों को सुविधा होगी—

- गाँधी जी ने अस्पृश्यों को आदर सूचक 'हरिजन' नाम दिया और स्वयं को भी हरिजन घोषित किया। स्वयं उन्हीं के समान जीवन जीते हुए उन्होंने आश्रमवासियों को भी इस प्रकार की जीवन शैली को अपनाने के लिए प्रेरित किया। अर्थात् वे उन सभी कार्यों को करते थे, जो हरिजनों द्वारा किये जाते थे।
- अस्पृश्यता को वे समाज के लिए खतरा व धर्म परिवर्तन का मुख्य कारण मानते थे। इसीलिए उन्होंने हिन्दुओं की रक्षा के लिए इस अमानवीय व्यवस्था को असंवैधानिक घोषित कर दिया। फलस्वरूप आज अस्पृश्यता को उसके समापन की ओर देखा जा सकता है। उन्होंने लिखा है—“अस्पृश्यता तो कागज के नकली फूलों की तरह है जो मनुष्य की बनायी एक कृत्रिम चीज है.....अस्पृश्यता को देवता ने नहीं शैतान ने बनाया है जो न पूर्व कर्मों का फल है और न ईश्वर कृत बल्कि यह अछूतापन मनुष्यकृत व सवर्ण हिन्दूकृत है।”
- गाँधी जी अस्पृश्यता को पाप मानते थे। उनका मानना था कि हिन्दू धर्म में ईश्वर को समस्त पाप नाशक, 'दीन बंधु', पतित पावन नाम से पुकारा जाता है। अतः हिन्दू धर्म में किसी को पतित, अछूत या अस्पृश्य कहना ही स्वयं में पाप है। इसलिए गाँधी जी ने बार—बार अस्पृश्यता की भावना को पाप कहा व माना।
- गाँधी जी मानते थे कि इस प्रकार की भावना समाज, देश व प्रजातंत्र विरोधी हैं। इसने मानव समाज के उत्तने अंश को नीचे दबा दिया जो बुद्धि, बल, विद्या में हमारे समान हो सकता है। और जीवन के अनेक विषयों में देश की उत्तम सेवा कर सकता है।

- 'हम उच्च हैं, तुम नीच' इस प्रकार की भावना या विचार ही सबसे नीच है। गाँधी जी मानते थे कि हरिजनों का ऋण सवर्णों को स्वीकार कर लेना चाहिए।
- गाँधी जी समाज में सभी के पेशे को समान व महत्वपूर्ण मानते थे तथा पेशे के आधार पर अस्पृश्य या अछूत का विचार दोषपूर्ण है।
- गाँधी जी का कहना था कि आज का विद्यार्थी जो आधुनिक शिक्षा ले रहा है और उसके मन में अस्पृश्यता का विचार हो तो उसके लिए अशिक्षित रहना ही उचित होगा, क्योंकि वह शिक्षित कहलाने योग्य ही नहीं होगा। जब तक हिन्दू जानबूझकर अपने धर्म को अंग मानेंगे, अपने ही भाईयों में से कुछ को छूना पाप समझेंगे, तब तक स्वराज्य की प्राप्ति असंभव है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट होता है कि गाँधी जी अस्पृश्यता के विरोधी व समानताप के समर्थक थे। वे मानते थे कि यदि इस भावना को सदा के लिए व्यक्ति अपने हृदय से निकाल देगा तो सामाजिक-राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान स्वयं हो जायेगा। ऐसा करने से सामाजिक संगठन, आर्थिक समृद्धि, राष्ट्रीय एकता, अति सरल हो जायेगी। राष्ट्र को नवीन शक्तियाँ प्राप्त होंगी और वास्तविक अर्थ में स्वराज्य की स्थापना संभव होगी। अतः अस्पृश्यता के कलंक से भारत को मुक्ति दिलाने में महात्मा गाँधी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

17.24 साम्प्रदायिक एकता (Communal Unity)

भारत विभिन्न धर्मावलम्बियों का देश है। इसमें अलग-अलग सम्प्रदाय व जातियों के लोग निवास करते हैं, जिसमें हिन्दू बाहुलता के साथ अन्य अहिन्दू भी शामिल हैं ऐसे विविधतापूर्ण देश में राष्ट्रीय एकता एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। जिसकी निर्भरता काफी हद तक साम्प्रदायिक एकता पर निर्भर है। साम्प्रदायिक एकता से संबंधित गाँधी जी के विचारों की चर्चा निम्नवत् करेंगे-

1. गाँधी जी ने आजीवन देश में साम्प्रदायिक एकता मुख्य रूप से हिन्दू मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया।
2. वे हिन्दू-मुस्लिम दोनों को राष्ट्रीयता का अंग मानते थे, यही कारण था कि उन्होंने मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा प्रतिपादित 'हिराष्ट्र सिद्धान्त' को अस्वीकार कर दिया था। यद्यपि हिन्दुस्तान पाकिस्तान के विभाजन को वे रोक नहीं पाये, लेकिन साम्प्रदायिक एकता को सुदृढ़ करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।
3. गाँधी जी धर्मनिरपेक्ष चरित्र धारण कर सर्वधर्म समभाव की नीति का अनुसरण करते थे।

4. गाँधी जी की साम्प्रदायिक एकता प्रेम, अहिंसा, स्नेह, सहयोग, समानता, धर्मनिरपेक्षीकरण की पक्षधर है, जो समाज व देश के विकास व प्रगति में सहायक है।

17.25 नारी का स्थान (position of women)

गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था में स्त्रियों का सम्मानित व महत्वपूर्ण स्थान है। सर्वोदय का मौलिक आधार अहिंसा और स्त्री अहिंसा के आदर्श का साकार रूप है। गाँजी लिखते हैं—“यदि अहिंसा मानव जीवन का नियम है तो हमारा भविष्य स्त्रियों पर निर्भर है। “गाँधी जी स्त्री-पुरुष के समान मानते थे। स्त्री को दुर्बल व पुरुष को सशक्तशाली कहने वाले वे घोर विरोधी थे। नैतिक दृष्टि से वे महिलाओं को पुरुषों से अधिक शक्तिशाली मानते हैं। विद्यार्थियों की सुविधा हेतु गाँधी जी की समाज व्यवस्था में नारी के महत्वपूर्ण स्थान की चर्चा निम्न बिन्दुओं के आधार पर की जा रही है—

1. गाँधी जी ने भारतीय समाज की महिलाओं की मुक्ति के लिए संघर्ष किया है। भारतीय नारी आन्दोलन के पक्षपाती गाँधी जी स्त्री-पुरुष को समान महत्व व सम्मान देने के पक्षपाती थे। यही कारण था कि उनकी आश्रम व्यवस्था में स्त्रियों की भी पुरुषों के समान अधिकार दिए गए थे।
2. समानता के पक्षपाती होने के पश्चात भी गाँधी जी ने स्त्री-पुरुष को कर्तव्यों के आधार पर पृथक बतलाया है। उनका मानना था, माता के कर्तव्यों को निभाने में महिलाओं में ऐसे नैतिक गुण विद्यमान होने आवश्यक हैं जो पुरुष के लिए आवश्यक नहीं हैं उसे घर की स्वामिनी के रूप में घर के सदस्यों की देखभाल उचित रूप से करनी आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना मानव जाति का अस्तित्व खतरे में है।
3. गांधी जी मानते थे कि अपनी सहन शक्ति, प्रेम, ममता के कारण महिलाएँ अहिंसा का स्रोत बन जाती हैं। विभिन्न कष्टों को सहन करना अपनी नियति में इसके द्वारा शामिल किया जाता है। अप्रत्यक्ष रूप से यह मानव की निर्माता और उसका नेतृत्व करने अभूतपूर्व शक्ति है। उसके प्रति किसी प्रकार की हिंसा गलत व दुर्भाग्यपूर्ण है।
4. महिलाओं की स्थिति को सुदृढ़ व उसे समानता का अधिकार दिलाने के लिए ही गाँधी जी ने अनय समाज सुधारकों के साथ सहशिक्षा में वृद्धि, पर्दा प्रथा, बाल विवाह का अन्त किया तथा छोटी उम्र में विधवा स्त्रियों का पुनर्विवाह कर उन्हें समाज में जीवन जीने का अधिकार दिलाया व समाज की मुख्य धारा से जोड़ने का अथक व सराहनीय प्रयास किया।

उक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि गाँधी जी स्त्रियों को समानता का अधिकार दिलाने, उनके साथ किसी भी प्रकार की हिंसा न होने के समर्थक रहे तथा इसे धरातल में लाने के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न किये। जिनमें सहशिक्षा को बढ़ावा देना, बाल विवाह, पर्दा प्रथा पर रोक एवं विधवाओं का पुनर्विवाह करने के लिए आन्दोलित रहे, क्योंकि उनकी दृष्टि में ये कुप्रथाएं समाज के लिए एक कलंक हैं। गाँधी जी के इस प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण ही स्वतंत्र भारत के संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष समझकर वे सारे अधिकार प्रदान किये गये हैं, जो पुरुषों को प्राप्त हैं इसलिए आज सम्पूर्ण समाज विशेषकर स्त्री समाज उनका ऋणी है। इस प्रकार गाँधी जी ने महिलाओं को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के लिए एक उन्नायक के रूप में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

17.26 शिक्षा सुधार (Reform of Education)

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक सबल साधन है। गाँधी जी की सामाजिक व्यवस्था शिक्षा योजना से घनिष्ठ रूप से संबंधित थी। अतः उन्होंने अंग्रेजों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा पद्धति के स्थान पर 'बुनियादी शिक्षा पद्धति' के नाम से एक नयी शिक्षा प्रणाली को स्थापित किया। केवल अक्षर ज्ञान व अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना वास्तविक शिक्षा नहीं हो सकती है। उनके अनुसार समाज की स्थापना के लिए बेसिक अथवा वर्धा शिक्षा व्यवस्था (Basic or wardha system of Education) आवश्यक है। क्या विचार थे गाँधी जी के शिक्षा सुधार के संबंध में निम्न बिन्दुओं के आधार पर चर्चा करेंगे—

- समाज अथवा किताबी शिक्षा की अपेक्षा वे बेसिक व वर्धा शिक्षा पद्धति को प्रमुखता देते थे। जिसमें 7 वर्ष से 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों को अहिंसक, प्रजातांत्रिक तथा सामाजिक व्यवस्था की अनुकूलता के अनुरूप शिक्षा देने की रूपरेखा तैयार की गयी थी।
- अंग्रेजी शिक्षा से अध्ययनरत् लोगों ने देश को गुलाम बनाया है। अतः गाँधी जी ने दस्तकारी व धार्मिक शिक्षा को महत्वपूर्ण माना है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को स्वावलम्बी व आत्मनिर्भर बनाना है। इसके लिए दस्तकारी व व्यवसाय संबंधी शिक्षा देकर इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है।

- गाँधी जी मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्षधर थे, साथ ही चरित्र निर्माण, मानवीयता, समाज कल्याण संबंधी शिक्षा को विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य मानते हुए उन्होंने लिखा है—‘सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए स्वयं को सक्षम अनुभव करने के लिए बच्चों को बुनियादी शिक्षा देना आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता की बुनियाद को सुदृढ़ करना इस शिक्षा पद्धति का प्रमुख उद्देश्य था।’

अतः स्पष्ट है कि गाँधी जी ने दस्तकारी शिक्षा को समस्त शिक्षा का केन्द्र बतलाया है। उनकी शिक्षा व्यवस्था बेसिक मूल पर आधारित है तो जो जीवन की कला व शरीर श्रम के सिद्धान्त से संबंधित है और धनोपार्जन के साथ व्यवहारिक जीवन के लिए उपयोगी व व्यक्ति के चरित्र निर्माण के लिए भी आवश्यक है।

17.27 मद्यनिषेध (Prohibition of Alcoholism)

गाँधी जी के समाज सुधार कार्यक्रमों में मद्यनिषेध भी प्रमुख है। मद्यपान गाँधी जी बुरी आदत, आत्मा, मन व शरीर के प्रतिकूल, समस्या, हिंसा का द्योतक मानते थे। स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु उन्होंने मद्यनिषेध पर बहुत जोर दिया उनका कहना था कि यदि वे एक दिन के लिए भी शासक बनते तो सबसे पहला काम मद्यपान पर पूर्णरूप से निषेध लगाने का कार्य करते। गाँधी जी मद्यपान से उत्पन्न कुप्रभावों से भली भाँति परिचित थे, अतः वे भारतीय समाज को इससे दूर रखने के पक्षधर थे। उनके विचार में समाज की अर्थव्यवस्था, विघटन पतन की जड़ में मद्यपान केन्द्रित है, जिसे जड़ से उखाड़ फेंकने से ही समाज प्रगति व विकास कर पायेगा।

गाँधी जी की सामाजिक व्यवस्था का सार संक्षेप यही है कि वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता निवारण साम्प्रदायिकता एकता, स्त्री दशा में सुधार, शिक्षा सुधार, मद्यनिषेध की एक कल्पना निहित थी, जिसे व्यवहारिक रूप देने के लिए गाँधी जी ने बहुत कार्य किये और एक व्यवस्थित समाज को स्थापना के लिए कुप्रथाओं व सामाजिक समस्याओं का अन्त कर मातृभाषा को बढ़ावा, सहशिक्षा, बुनियादी व स्वावलम्बी बनकर जीवन जीने व समाज कल्याण में सहयोग देने के लिए प्रेरित किया।

17.28 महात्मा गाँधी के विचारों की वर्तमान में प्रासंगिकता (Relevancy of thoughts of mahatma Gandhi in the Present)

महापुरुष युग प्रवर्तक हुआ करते हैं जो कि समाज में व्याप्त सभी संकटों, कुप्रथाओं व बुराईयों का अन्त करने के लिए अवतरित होते हैं। महात्मा गाँधी भी उनमें से एक थे, जिन्होंने स्वतंत्रता

आन्दोलन में एक महानायक की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सैकड़ों वर्षों से गुलामी की जंजीर में जकड़े हुए राष्ट्र को आजादी दिलाकर समाज, राष्ट्र व विश्व को भी एक नयी दिशा प्रदान की जिसकी उपादेयता उनके विचार एवं नैतिक शाश्वत मूल्यों के कारण चिरकालीन बनी रहेगी।

गाँधी जी के विचारों की आधारशीला सत्य, अहिंसा पर केन्द्रित है। यदि मूल्यांकन करें तो पायेंगे कि सत्य और अहिंसा व्यक्तित्व, समाज, देश, राष्ट्र को एक व्यवस्थित व संगठित रूप देने के लिए आज भी आवश्यक है, क्योंकि झूठ व हिंसा व केन्द्रित विचारों ने हमेशा व्यक्ति व समाज को विघटित किया है। अतः पाठ्यक्रम की परिधि को ध्यान में रखते हुए गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित निम्नांकित सिद्धान्तों की समसामयिक प्रासंगिकता पर विचार किया जायेगा—

1. संरक्षकता का सिद्धान्त (Theory of Trusteeship)
2. अहिंसा का सिद्धान्त (Theory of Non-violence)
3. सत्याग्रह का सिद्धान्त (Theory of satyagrah)

उपरोक्त सिद्धान्तों को गाँधी जी ने स्वयं के जीवन की प्रयोगशाला में परीक्षण करने के उपरान्त ही मानव व समाज के लिए ग्राह्य बतलाया है। एक आध्यात्मिक पुरुष होने के कारण गाँधी जी को सम्पूर्ण सृष्टि में ईश्वर की ही अभिव्यक्ति के दर्शन होते थे। यही कारण था कि उनका चिन्तन मानवतावादी था। समरसता, सबके कल्याण की भावना, अस्पृश्यों, गरीबों का उद्धार, महिलाओं का सम्मान जैसी भावना उनके रोम-रोम में समायी हुई थीं, जिसके आधार पर वह रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे, जहाँ राजा मर्यादा में रहकर राज्य सत्ता का प्रयोग कल्याण हेतु करता है। आत्मा की पवित्रता, कर्म में सत्य अहिंसा का समावेश, दृढ़ आत्मबल हेतु करता है। आत्मा की पवित्रता, कर्म में सत्य अहिंसा का समावेश, दृढ़ आत्मबल पर उनका अटल विश्वास था, जिनके माध्यम से पाश्चात्य शक्तियों का परास्त किया जा सकता था, वे सत्य व अहिंसा को शूरवीरों का अस्त्र मानते थे।

गाँधी जी के विचार एवं सिद्धान्तों की आज भी उतनी ही प्रासंगिकता जितनी उनके समय में थी। आज आजादी के इतने वर्षों बाद भी समाज में विषमता, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक स्तर पर बड़ा अन्तराल व दूरियाँ हैं सिद्धान्तों व व्यवहारों में समुचित समन्वय का अभाव, अशिक्षा, गरीबी, सामाजिक, पिछड़ापन, वर्गवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, आतंकवाद, माओवाद, नक्सलवाद, भ्रष्टाचार, नशाखोरी आदि का चारों ओर साम्राज्य फैला हुआ है। मानसिक प्रदूषण ने पक्षपात, भौतिक संसाधनों की होड़ अधर्म, नैतिकता, गैर मूल्य

जैसे कृत्यों में ईजाफा किया है। ऐसी स्थिति में महात्मा गाँधी के सिद्धान्त मानव समाज के लिए प्रकाश पुंज का कार्य करते हैं। संक्षेप में इनकी चर्चा की जायेगी—

1) संरक्षकता के सिद्धान्त की समसायिक प्रासंगिकता (Present Relevancy of the theory of Trusteeship)—हम गाँधी जी के संरक्षकता के सिद्धान्त की पूर्व में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। जिसमें हमने पाया कि गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित संरक्षकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन मूल रूप से समाज में असन्तुलित अर्थव्यवस्था को संतुलित करने के उद्देश्य से किया गया था। प्रायः धनी व पूंजीपति लोग लगातार धन संचय कर और अधिक धनवान बनते जाते हैं और निर्धन वर्ग अथाह परिश्रम के पश्चात् भी अधिक निर्धनता के बोझ के तले दबता जाता है। इस प्रकार समाज में धन का असमान, वितरण समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने में गतिरोध उत्पन्न करता है। गाँधी जी का मानना था कि पूंजीपति इच्छानुसार धनोपार्जन तो करे, लेकिन उसमें से वह उतना ही उपभोग करें, जितना कि उनके लिए नितान्त आवश्यक है। शेष धन का उपयोग व निर्धन, गरीब व असहाय वर्ग के उत्थान में लगाये। इससे सभी का अभ्युदय होगा, पूंजीपति को श्रेय के साथ ही आत्मिक शान्ति भी प्राप्त होगी। वर्तमान में भी यदि देखा जाए तो अमीर निरन्तर अमीर तो गरीब और गरीब होता जा रहा है। अतः गाँधी जी का यह सिद्धान्त आज के समाज की आवश्यकता है। यदि पूंजीपतियों का गाँधी जी के सिद्धान्तानुसार दिया गया सहयोग समाज को प्राप्त होता है, तो देश व राष्ट्र की तस्वीर ही बदल जायेगी और अशिक्षा, गरीबी, भुखमरी, कुपोषण, बीमार जैसे कलंक से भी देश को बचाया जा सकेगा। अतः इस सिद्धान्त की वर्तमान प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता।

2. अहिंसा के सिद्धान्त की समसामयिक प्रासंगिकता (present relevancy of the theory of non violence)—वर्तमान समाज में जो कि हिंसा से घिरा हुआ है। गाँधी जी के अहिंसात्मक सिद्धान्त की व्यवहारिक उपयोगिता स्वयं ही बढ़ जाती है जिसका व्यापक अर्थ है—मन, वचन और कर्म से किसी भी रूप में किसी भी प्राणि का अहित न करना, घृणा को प्रेम से, बुराई को भलाई से, दुष्टता को सज्जनता से, कटुता को विनम्रता से एवं अपकार को उपकार से जीतना। आज के आतंकवादी, साम्प्रदायिकतावादी गतिविधियों से मानवता त्रस्त है। सर्वत्र मार—काट, आत्महत्या, बलात्कार, भ्रष्टाचार व रक्तरंजीत घटनाएँ समाचार पत्र—पत्रिकाओं व टेलीविजन की सुर्खियों बनी हुई है। शासन तंत्र की संकीर्ण मानसिकता एवं निहित स्वार्थ परता के कारण समाज असहाय व विघटित दिखायी पड़ता है। ऐसी स्थिति में गाँधी जी के अहिंसात्मक सिद्धान्त की सार्थकता उपयोगी है। जिसके लिए उन्होंने सत्य, प्रेम, आन्तरिक,

पवित्रता, आत्मबल, लगन, भयहीनता, लालच से दूर, व्रत जैसे—आवश्यक तत्वों को सम्मिलित कर शारीरिक, मानसिक व आत्मिक पवित्रता के विकास पर बल दिया। यदि आज लोग उनके बतलाये गये सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं, तो समाज में व्याप्त प्रतिकूल व विघटनकारी प्रवृत्तियों को समाप्त किया जा सकता है।

4. सत्याग्रह के सिद्धान्त की समसामयिक प्रासंगिकता (Present Relevancy of the theory of satyagrah)— वर्तमान समय में समाज में भ्रष्टाचार, अन्याय, अधर्म, पक्षपात, स्वार्थपरता जैसी अवांछनीय प्रवृत्तियाँ सुरसा की तरह मुँह बायें खड़ी हैं, जिनसे लोहा लेना आसान कार्य नहीं है। इसके लिए गाँधी जी का सत्य का संबल आवश्यक है। सत्य एवं न्याय के लिए किया गया दृढतापूर्वक आग्रह ही सत्याग्रह कहलाता है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक शक्ति है जो कि अन्यायियों एवं आन्यायी को आत्ममंथन हेतु मजबूर कर देती है। सत्याग्रह का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। इसे व्यक्ति, परिवार, समाज या संस्था किसी के भी विरुद्ध प्रयोग में लाया जा सकता है। यह अन्तिम अचूक अस्त्र है। न्याय, नीति, नैतिक मूल्यों को पुर्नजीवित कतरने तथा पुर्नप्रतिष्ठित करने के लिए सत्याग्रह सिद्धान्त का पालन अत्यंत आवश्यक है। इससे देश पतन पराभव से बच सकता है। समाज को नयी दिशा मिल सकती है। अतः गाँधी के उपरोक्त सिद्धान्त को वर्तमान समाज के लिए अत्यधिक सामयिक एवं प्रासंगिक माना जा सकता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वर्तमान समाज जिस प्रदूषित वातावरण से घरा हुआ है। वहाँ सत्य, प्रेम, समानता, बुनयादी शिक्षा, नारी सम्मान जैसी प्रक्रियाओं से एक नयी सामाजिक क्रान्ति लायी जा सकती है, क्योंकि झूठ, छल, कपट, घृणा, द्वेष, हिंसा आदि उपायों से लायी गयी। क्रान्ति का प्रभाव अल्पकालीन होता है। बस आवश्यकता है। गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को व्यवहारिक जीवन में प्रयोग, अनुसरण व आत्मसात् करने की।

17.29 गाँधी और मार्क्स (Gandhi and Marks)

गाँधी के समान ही आधुनिक एवं वैज्ञानिक साम्यवाद तथा अधिकांश समाजवादी विचारधाराओं के सर्वमान्य जनक कार्लमार्क्स भी राज्य विहीन एवं वर्ग विहीन समाज के समर्थक थे, लेकिन दोनों की विचारधारा में कहीं—कहीं समानता परिलक्षित होती है जो

भिन्नता की तुलना में आंशिक है। अतः दोनों विचारकों की समानता व भिन्नता की चर्चा की जा रही है—

7.30 गाँधी और मार्क्स में समानताएँ (similarities In Gandhi and Marks)

सुप्रसिद्ध गाँधीवादी अर्थशास्त्री कुमारप्पा का कथन है, “जहाँ तक हम भौतिक हित के लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। साम्यवाद, समाजवाद और गाँधीवादी में कोई अन्तर नहीं हो सकता।” अतः गाँधीवाद और मार्क्सवाद के कुछ सामान्य नैतिक आधारों की व्याख्या निम्नवत् है—

1. दोनों का नैतिक दृष्टिकोण सुबह से शाम तक मेहनत मजदूरी करने वाले श्रमिकों को उनके वास्तविक अधिकार देने तथा इतनी सुविधाएँ उपलब्ध कराने के पक्ष में हैं, जिससे वे स्वयं के साथ-साथ आश्रितों की भी देखभाल अर्थात् पालन पोषण कर पाएं, अर्थात् दोनों ही श्रमिकों के लिए आर्थिक-सामाजिक न्याय के पक्षपाती हैं।
2. दोनों मानते हैं कि समाज के निम्नवर्गों का आधुनिक समाज में होने वाला शोषण अन्यायपूर्ण है। जिसके लिए क्रियात्मक कदम उठाने की आवश्यकता है। जहाँ गाँधी जी ने लिखा है— “गरीबों को उनका हक मिलना ही चाहिए।” वहीं मार्क्स ने घोषणा की है कि ‘मेहनतकश जनता को अन्ततः उसका अधिकार मिलकर ही रहेगा। अतः दोनों गरीबों व श्रमिकों को उसने अधिकार दिलवाने के पक्ष में हैं।
3. जन्म की समानता के कारण सबको समान अधिकार मिलना चाहिए। इस प्रकार की सोच दोनों में पायी जाती है। व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकता रोटी, कपड़ा, मकान सबको प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि इसके अभाव में स्वस्थ मनुष्य व स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती।
4. दोनों ही वर्ग विहीन व राज्य विहीन समाज की स्थापना चाहते थे, जहाँ जात-पात, ऊँच-नीच का भेदभाव न हो।
5. दोनों का विश्वास इस बात पर आधारित है कि राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता के बिना आधारहीन व अर्थहीन है। गाँधी जी लिखते हैं—“मेरे स्वराज्य का सपना गरीबों के स्वराज्य का है” तो मार्क्स ने ‘सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के पक्ष में राय दी। अर्थात् दोनों ही जनता के राज्य स्थापना को एक नैतिक आधार मानते थे।”
6. दोनों श्रम के गौरव पर बल देते हैं, अर्थात् दोनों प्रत्येक स्वस्थ व समर्थ व्यक्ति को आजीविका प्राप्ति के लिए परिश्रम करना आवश्यक मानते हैं। “प्रत्येक से उसकी

योग्यतानुसार परिश्रम व प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हुए दोनों विचारकों ने काम नहीं तो रोटी नहीं का समर्थन किया है।”

7. दोनों राष्ट्रीय धन का समान वितरण सामाजिक असमानता को दूर करने के लिए आवश्यक मानते हैं।

उपरोक्त समानता के आधार पर दोनों का नैतिक आधार गरीबों व असहायों के लिए आर्थिक तथा सामाजिक न्याय को प्राप्त करना है। पीड़ित, शोषित, अत्याचार का शिकार, वर्ग का उद्धार, समान अवसरों की उपलब्धता, शोषण विहीन, वर्ग विहीन राज्य की स्थापना करना है।

17.31 भिन्नताएँ (Differences)

गाँधी व मार्क्स साम्यवाद में निहित भिन्नताएँ मुख्यतः निम्न हैं—

1. मार्क्स की विचारधारा आत्मा, परमात्मा, निरपेक्ष एवं किसी शास्वत सत्य पर विश्वास नहीं करता। वह सभी धर्मों का विरोध करता है। अतः उसका दृष्टिकोण पूर्णतया भौतिकवादी है। यह धर्म को निर्बल वर्ग का शोषक व प्रबल वर्ग का पोषक तथा जनता के लिए अफीम मानता है।
2. गाँधी जी धार्मिक चेतना व उद्देश्य के समर्थक थे। उन्होंने लिखा है कि ‘अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ से अब तक मैंने जो कुछ कहा है या किया है उसके पीछे एक धार्मिक चेतना व उद्देश्य रहा है। “यही कारण था कि उन्होंने अपनी कल्पना के ‘आदर्श राम राज्य’ को धार्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर का राज्य कहकर परिभाषित किया है।
3. मार्क्स प्रत्येक श्रमिक को पूंजी के मूल्य का उत्पादक के रूप में समान समझते हैं और सम्मान करते हैं। अतः उनकी विचारधारा भौतिकवादी होने के साथ अनात्मावादी है।
4. गाँधी जी मानव समूह को भगवान का ही विराट रूप मानते थे और मानते थे कि प्रत्येक राजा हो या रंक, पूंजीपति हो या श्रमिक, ईश्वर की सन्तान होने के कारण समान हैं।
5. मार्क्स तत्कालिक व शीघ्र ही पनपने वाले परिणामों पर विश्वास करते हैं, जबकि गाँधी जी दूरदर्शिता व विकास की प्रक्रिया पर अधिक ध्यान देते हैं।

6. जहाँ मार्क्स अप्रत्यक्ष/प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक व राजनैतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को मान्यता देते हैं। गाँधी जी इस प्रकार के केन्द्रीयकरण को समाज रचना का मौलिक आधार मानते हैं।

यद्यपि दोनों विचारधाराएँ क्रान्तिकारी हैं जो एक नयी समाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं, तथापि मार्क्स पूंजीपतियों को नष्ट कर देने के समर्थन हैं तो गाँधी जी मानते हैं हृदय में क्रान्ति लाकर परिवर्तन के पक्षधर हैं। अर्थात् मार्क्स हिंसक तथा गाँधी जी अहिंसक क्रान्ति से सामाजिक नवीन व्यवस्था की स्थापना पर विश्वास करते हैं।

मार्क्स के अनुसार—अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। समाज में दो शासक व शोषित वर्ग हमेशा एक—दूसरे के विरोधी होकर प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप में युद्ध करते रहे। वर्ग युद्ध की इस अनिवार्यता को गाँधी जी स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार—“यदि पूंजी शक्ति है तो श्रम भी शक्ति है।” इसलिए मेहनत करने वाले बुद्धिपूर्वक एक हो जाए तो वे एक ऐसी ताकत बन जायेंगे, जिसका मुकाबला कोई नहीं कर सकता। अहिंसात्मक ढंग से हृदय परिवर्तन आवश्यक है।

गाँधी जी के मत को समझाते हुए महादेव प्रसाद शर्मा लिखते हैं—“जब अहिंसात्मक मार्ग से समता स्थापित की जा सकती है तो वर्ग युद्ध आवश्यक है। इतना ही नहीं, वह हिंसापूर्ण होने के कारण अमानुषिक, निषिद्ध, त्याज्य है। गाँधी जी का लक्ष्य वर्ग युद्ध या किसी वर्ग विशेष का अधिपत्य न होकर वर्ग समन्वय द्वारा सर्वोदय था। इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि गाँधी जी समाज में वर्तमान संघर्ष की उपस्थिति को अस्वीकार करते थे।”

17.32 मूल्यांकन (Evaluion)

उपरोक्त समानता—भिन्नता से विद्यार्थी यह समझ पाएँगे कि मार्क्स और गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में समानता कम व भिन्नता अधिक परिलक्षित होती है जो अहिंसा—हिंसा, प्रेम—घृणा, तत्काल एवं दूरदर्शिता जैसे अनेक आधारों पर एक—दूसरे से पृथक हैं। भारत जैसे देश में यदि गाँधी जी जैसा कोई नेता मार्गदर्शन न करेगा और शोषण, दमन जारी रहेगा तो इस बात की संभावना की जा सकती है कि लोग साम्यवाद की ओर झुक जायें। विनोबा भावे जी ने कहा है कि—“गाँधीवाद मार्क्सवाद व पूंजीवाद का सर्वोत्तम विकल्प है।”

17.33 सारांश (conclusion)

संक्षेप में गाँधी आध्यात्मवादी थे। उनके सिद्धान्तों में सत्य, अहिंसा का प्रमुख स्थान है। वह साध्य व साधनों की पवित्रता, वर्ग सहयोग, सामाजिक समानता, शोषक, साम्राज्य का विरोध करते थे। साम्प्रदायिक एकता, सद्भाव, प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रेरणा स्रोत व मूल रूप से वे मानवतावादी थे। उनका आदर्श रामराज्य तथा उद्देश्य सर्वोदय था। शोषक पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए जहाँ उन्होंने संरक्षकता के सिद्धान्त को प्रतिपादन किया वहीं उसके असफल होने पर वह सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण होने की बात कहते थे। एक राज्य विहीन एवं वर्ग विहीन समाज की कल्पना उनका स्वप्न था। इन सभी कार्यों के लिए गाँधी जी ने प्रेम, अहिंसा, सत्य के आधार पर मानव हृदय में सर्वप्रथम क्रान्ति लाकर एक नवीन समाज की स्थापना पर बल दिया था। वे मानते थे कि व्यक्ति में आत्मबल, निर्भीकता, पवित्रता व नैतिकता से समाज, देश राष्ट्र सभी के प्रगति व विकास संभव हैं। नारी सम्मान, उनकी सुरक्षा, शिक्षा के पक्षधर गाँधी जी ने हमेशा उनकी प्रतिष्ठा व सम्मान के लिए कुप्रथाओं व सामाजिक समस्याओं का अन्त कर संविधानों का निर्माण करवाकर उन्हें भी पुरुषों के समान अधिकार दिलाने के लिए विशेष प्रयत्न व आन्दोलन किये। जिसके फलस्वरूप वर्तमान में पर्दाप्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा जैसी सामाजिक बुराईयों का अन्त हुआ और प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों का आगे बढ़ने के अवसर प्राप्त हुए। दस्तकारी शिक्षा के माध्यम से वे व्यक्ति में परिश्रम की भावना एवं उनकी बुद्धि-कौशल को विकसित करना चाहते थे। वर्तमान समाज में उनके विचारों की प्रासंगिकता को नकारा नहीं जा सकता।

विद्यार्थियों द्वारा या तो पूर्व में या पश्चात् कार्ल मार्क्स जैसे आधुनिक एवं वैज्ञानिक साम्यवाद के जनक को पढ़ा गया होगा, या जायेगा। माना जाता है कि दोनों ही विचारक समाज में समानता के लिए सभी को समान अवसर प्राप्त होने के पक्ष में थे, लेकिन दोनों की विचारधाराएँ कहीं समानता तो कहीं पृथकता को बनाये हुए हैं। मूल्यांकन से स्पष्ट होता है कि दोनों वर्गविहीन, राज्यविहीन समाज की स्थापना के पक्षधर होने के पश्चात् भी दोनों के रास्ते अलग-अलग हैं। गाँधी जी का दृष्टिकोण मानवतावादी मार्क्स का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। गाँधी जी वर्ग समन्वय तो मार्क्स वर्ग संघर्ष के समर्थक हैं। उपरोक्त में इसकी चर्चा विस्तार में की जा चुकी है।

17.34 शब्दावली

अस्वाद (control of the palate)- जीभ के स्वाद को छोड़कर, सादा भोजन ग्रहण करना ।

अस्तेय (Non Stealing)- बिना किसी की अनुमति के दूसरों की वस्तुओं को न लेना अथवा चोरी न करना ।

अपरिग्रह (Non possession)- आवश्यकता से अधिक संचय करना ।

निर्भयता (Fearlessness)- सत्य ईमानदारी का अनुसरण करते हुए किसी से भयभीत न होना ।

शारीरिक श्रम (Manual labour)- अपने स्वयं के परिश्रम द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ।

सर्वधर्म समानता- (Religious Equality)- सभी धर्मों की समानता पर विश्वास रखना ।

राज्यविहीन समाज (stateless Society)- एक राज्य में रहने वाले सभी व्यक्ति स्वयं शासक होंगे अर्थात् राज्य के अस्तित्व वर्गीकरण के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना ।

विकेन्द्रीकरण (Decentralization)- समस्त अधिकार व शक्तियां पंचायतों में सीमित हो जाए ।

धर्मनिरपेक्ष राज्य (secular state)- सभी धर्मों में सम्भाव रखा जाए ।

मानवतावाद (Humanism)- एक मानव के नाते मनुष्य के विकास से संबद्ध मूल्य ।

राष्ट्रीय चेतना (National Consciousness)- किसी राष्ट्र के होने की भावना जिसे शक्तियों एवं विकास माध्यम तथा शिक्षा तथा राष्ट्रीय नेताओं द्वारा किये जाने पर जैसे दो आधारों पर देखा जा सकता है ।

अंधविश्वास (superstition)- अतार्किक विवेकशून्य विश्वास या सोचने का ढंग ।

सुधारवादी (self to torture)-स्वयं को कष्ट देना अर्थात् तपस्या के आधार पर बलिदान की भावना ।

नैतिक सांस्कृतिक विकास (**Enthoic cultural development**)- समस्त समाज में समस्त नागरिकों का समान नैतिक सांस्कृतिक विकास।

आत्मसंयम (**self restraint**)- स्वयं में अनुशासन अर्थात् कर्मनिष्ठता त्याग के आधार पर अनुशासित होना।

समानताएँ (**similarities**)- विचारधारा या अन्य में समानता का होना।

विभिन्नताएँ (**differences**)- विचारों में समानता का न होना या पृथकता का पाया जाना।

17.35 अभ्यास प्रश्न

निम्नलिखित कथनों को पढ़कर सही का चिह्न लगाइए—

1— महात्मा गाँधी का जन्म हुआ था—

अ— 2 अक्टूबर 1849

ब— 2 अक्टूबर 1859

स— 2 अक्टूबर 1869

द— 2 अक्टूबर 1879

2— गाँधी जी की माता का नाम था—

अ— पुतलीबाई

ब—सविताबाई

स—कस्तूरबाबाई

द—सुधाबाई

3— गाँधी जी ने सर्वोदय आन्दोलन के कितने अंग बतलाए हैं?

अ—दो

ब-तीन

स-चार

द-पांच

4-गाँधी जी का जन्म हुआ था?-

अ-मुम्बई

ब- दिल्ली में

स- गुजरात में

द- दक्षिण अफ्रिका में

5- गाँधी जी के दर्शन का मुख्य स्रोत है-

अ-रामायण

ब-महाभारत

स-कुरान

द-गीता

6-'अन टू द लास्ट' पुस्तक के लेखक हैं-

अ-टालस्टॉय

ब- जवाहर लाल नेहरू

स-महात्मा गाँधी

द-जॉन रस्कन

7- गाँधी जी ने सत्याग्रह का पाठ पढ़ा था-

अ-अपनी माता जी से

ब- अपनी धर्मपत्नी से।

स-अपने पिताजी से।

द- अपने गुरुजनों से

8-अस्तेय का तात्पर्य है-

अ-धन का संचय

ब- धन को गरीबों में बाँटना।

स-मारपीट करना

द-चोरी न करना

9-सत्याग्रह की अन्तिम विधि है-

अ-असहयोग

ब-उपवास

स-आमरण अनशन

द-हड़ताल

10-गाँधी जी ने बैरिस्टरी अर्थात् वकालत की शिक्षा प्राप्त की थी-

अ-कोलकाता

ब-इंग्लैंड

स-दक्षिण अफ्रिका

द-मुंबई से

निम्नलिखित प्रश्नों के आगे सत्य व असत्य लिखिये-

11-गाँधी जी के अनुसार सत्य का अर्थ है यथार्थ सत्ता-

- 12-गाँधी जी के सर्वोदय का अर्थ है- हरिजनों का उदय-
- 13-'अहिंसा कायरोँ का कवच नहीं है यह बहादुरों का उच्चतम गुण है'-पं०नेहरु द्वारा कहा गया है-
- 14-गाँधी जी के अनुसार पूंजी के अधिक से अधिक संचय से समाज विकसित होगा-
- 15-गाँधी जी सत्याग्रह को अहिंसा का व्यवहारिक रूप मानते थे-
- 16-गाँधी जी ने स्वदेशी व मातृभाषा का विरोध किया था-
- 17-गाँधी जी के सत्याग्रह का सिद्धान्त सामाजिक अनुशासन और नैतिकता में वृद्धि के लिए आवश्यक है-
- 18-गाँधी जी ने अहिंसा का पाठ अपनी पत्नी से पढ़ा-
- 19-गाँधी जी पूंजी का नहीं उसके दुरुप्रयोग के विरोधी थे-
- 20-स्त्री शिक्षा का गाँधी ने हमेशा विरोध किया-

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

- 21-गाँधी जी के अनुसार-शुद्ध अन्तरात्मका की वाणी का दूसरा नाम ही.....
.....है।
- 22-गाँधी जी के अनुसार हिंसा.....अस्त्र नहीं है।
- 23-सर्वोदय के दो आधारभूत तत्वों मेंवहैं।
- 24-गाँधी जी.....के द्वारा सबके उदय में विश्वास रखते थे।
- 25-सत्याग्रह सत्य का.....है।

17.36 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1-स

2-अ

3-ब

4-स

5-अ

6-द

7-अ

8-द

9-स

10-ब

11-सत्य

12-असत्य

13-असत्य

14-असत्य

15-सत्य

16-असत्य

17-सत्य

18-सत्य

19-सत्य

20-असत्य

21-सत्य

22-कायों

23-सत्य-अहिंसा

24-सर्वोदय द्वारा

25-आग्रह

17.37 संदर्भ

1. गाँधी एम0 के0, सर्वोदय, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन, 1954, पृ0स 5-8
2. गांधी, एम0 के0, हरिजन, 12 अक्टूबर, 1947, पृ0 368
3. गांधी, एम0के0, 'हिन्दी स्वराज', उत्तरप्रदेश स्मारक निधि वाराणसी, 1979, पृ0सं0 15-16
4. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा नवजीवन ट्रस्ट, 1927, मूल गुजराती आत्मकथा का हिंदी रूपांतरण, जितेन्द्र ठाकोरभाई देसाई।
5. विश्व के महान सामाजिक विचारक और उनके विचार, मोहनदास कर्मचन्द्र गांधी, दत्त बन्धु अल्मोड़ा, पृ0सं 327-360
6. आर0 के0 मुकर्जी, सामाजिक विचारों का इतिहास, करेंट पब्लिकेशन, लखनऊ, 1988, पृ0सं0 175-178
7. पुखराज जैन एवं मेहता जीवन, राजनीतिशास्त्र, एबीपीडी0 पब्लिकेशन, आगरा, सन 2010 पृ0सं0 470-508
8. दोषी एवं जैन, सामाजिक विचारक, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली, 1997, पृ0सं0 121
9. बघेल डी0एस0, महान समाजशास्त्रीय विचारक, ममता प्रिंटेर्स, भोपाल, 2002, पृ0स 121-160, 80
10. आहूजा राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशन्स, 2001, पृ0सं 70-73
11. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, जे0पी0राठौर, प्रेंटिस, हाल ऑफ इण्डिया, प्राइवेट लिमिटेड, 2005, पृ0सं0 163
12. young India, Gandhi ji
13. Harijan

17.38 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

ए० आर० देसाई—भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, दिल्ली

Radhakrishnan, Mahatma Gandhi, 10 years

J.B.Kriplni, Gandhis his life anan thoughts, Gandhi ji, Young india 1931

महात्मा गाँधी, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा—अनुवादक, काशीनाथ त्रिवेदी, अहमदाबाद 1957

स्वतंत्र भारत का उदय—इन्दिरा गांधी मुक्त वि०वि०दिल्ली

17.39 निबन्धात्मक प्रश्न

1—महात्मा गाँधी जी के जीवन वृत्तान्त पर निबन्ध लिखिए।

2—गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित संरक्षकता के सिद्धान्त का मूल्यांकन कीजिए।

3—गाँधी जी के सर्वोदय की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसके आधारभूत उद्देश्यों की चर्चा कीजिए।

4—गांधी के सामाजिक विचारों को संक्षेप में लिखिए

5—सत्याग्रह से आप क्या समझते हैं, इसके विभिन्न साधन क्या हैं?

6—गाँधी जी ने सत्य अहिंसा के सिद्धान्त में समाज, देश, राष्ट्र का हित निहित है को स्पष्ट कीजिए।

7—गाँधी जी व कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों में परिलक्षित समानता व भिन्नता का विश्लेषण कीजिए।

निम्नलिखित की संक्षिप्त चर्चा कीजिए—

अ—गाँधी जी के अस्पृश्यता संबंधी विचार

ब—गाँधी जी की बेसिक शिक्षा

स—गाँधी जी का महिलाओं की प्रतिष्ठित स्थिति संबंधी विचार

द—वर्गविहीन व राज्य विहीन समाज का अर्थ

9-गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की वर्तमान प्रासंगिकता को समझाईए?

इकाई नं०-18
प्रो० अवध किशोर सरन
(Prof. Avadh Kishor Saran)

इकाई की रूपरेखा—

- 18.1 उद्देश्य
- 18.2 प्रस्तावना
- 18.3 प्रो० अवध किशोर सरन का संक्षिप्त जीवन परिचय
 - 18.3.1 अवध किशोर सरन के समसामयिक भारत में हिन्दुत्व पर विचार
 - 18.3.2 अवध किशोर सरन के साम्प्रदायिकता का सिद्धांत
 - 18.3.3 अवध किशोर सरन का आधुनिकता का सिद्धांत
 - 18.3.4 अवध किशोर सरन के मानव की परम्परागत दृष्टि
- 18.4 अवध किशोर सरन का मानव का परम्परागत चिंतन एवं ज्ञान
- 18.5 सारांश
- 18.6 शब्दावली
- 18.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 18.8 सन्दर्भ ग्रंथों की सूची
- 18.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 18.10 निबंधात्मक प्रश्न

18.1 उद्देश्य: (Objective)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्न बिन्दुओं के बारे में विस्तार से समझ पायेंगे—

- आप समझ पायेंगे कि प्रो० अवध किशोर सरन का भारतीय समाजशास्त्र में क्या योगदान है।
- इस इकाई के अध्यापन से आप समझ पायेंगे कि प्रो० अवध किशोर सरन का संक्षिप्त जीवन परिचय को।
- इस इकाई के अध्ययन से आप समझ पायेंगे कि समसामयिक भारत में हिन्दुत्व पर प्रो० अवध किशोर सरन के क्या विचार थे।

- इस इकाई के अध्ययन से आप समझ पायेंगे कि प्रो० अवध किशोर सरन का साम्प्रदायिकता का सिद्धांत क्या है?
- इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकते हैं कि प्रो० अवध किशोर सरन का आधुनिकता का सिद्धांत क्या है?
- इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि प्रो० अवध किशोर सरन का परम्परागत दृष्टिकोण क्या था?
- इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि समाजशास्त्र की किन-किन अवधारणाओं पर काम किया है?

18.2 प्रस्तावना: (Introduction)

प्रो० अवध किशोर सरन का विश्व हिन्दू परम्परागत चिंतन में महत्वपूर्ण स्थान है। अवध किशोर सरन ने भारत में समसामयिक हिन्दुत्व पर अपनी प्रमुख पुस्तक लिखी है एवं ए०के० सरन ने साम्प्रदायिकता का सिद्धांत एवं आधुनिकता का सिद्धांत का भी प्रतिपादन किया है। अवध किशोर सरन ने दस पुस्तकों का लेखक कार्य किया है। इनका सम्बन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में है। अन्य पुस्तकों में मानव का परम्परागत दृष्टि, परम्परागत चिंतन, समाजशास्त्र का ज्ञान और परम्परागत चिंतन का कार्य किया है। प्रो० अवध किशोर सरन का कार्य समाजशास्त्र के क्षेत्र में अति महत्वपूर्ण रहा है। प्रो० ए०के० सरन के द्वारा दो अध्याय धर्म का तुलनात्मक अध्ययन एवं क्रासिस ऑफ हिन्दुज्म और समाज का सिद्धांत अपने समय में बड़े ही महत्वपूर्ण अध्याय रहे हैं। इस इकाई में प्रो० अवध किशोर सरन के समाजशास्त्र के क्षेत्र में किये गये योगदान को पढ़ेंगे इन्होंने एक नई विधा को जन्म दिया है। वैसे उनका कोई ज्यादा कार्य समाजशास्त्र के क्षेत्र में नहीं है। प्रो० अवध किशोर सरन भारतीय समाजशास्त्री थे। प्रो० सरन संपादक, लेखक के रूप में इनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्ययन कार्य किया है और जौधपुर विश्वविद्यालय में भी अध्यापन कार्य किया है।

18.3 अवध किशोर सरन का संक्षिप्त जीवन परिचय: (Biography of Avadh Kishor Saran)

प्रो० अवध किशोर सरन का जन्म सन् 1922 को हुआ। इनकी मृत्यु 2003 में हुई। प्रो० अवध किशोर सरन लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे। ये समाजशास्त्र में लेखक एवं सम्पादक में महत्वपूर्ण योगदान है। इन्होंने भारतीय हिन्दू समाज में प्राचीन एवं आधुनिक स्वरूप का अध्ययन किया है। प्रो० सरन का विचार था कि भारतीय समाज को हिन्दू समाज की संरचना को समझें बगैर समझ नहीं सकते हैं। इस समाज को हम तभी समझ सकते हैं, जब हिन्दू समाज को समझ लें। इन्होंने क्रांसिस ऑफ हिन्दूज्म अपनी अध्ययन पुस्तक में सभी बातें कही हैं। इनका एक और प्रसिद्ध लेख जो हमारे समय में समाज में गाँधी जी का सिद्धांत विषय पर लिखा है। प्रो० अवध किशोर सरन का समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है।

18.3.1 अवध किशोर सरन का समसामयिक भारत में हिन्दुत्व पर विचार: (Crisis of Hinduism in India by Avadh Kishor Saran)

प्रो० अवध किशोर सरन ने अपने विचारों में कहा है कि भारत में समसामयिक समय में कोई जीवित हिन्दू समाज नहीं है। इन्होंने कहा कि हिन्दू समाज के पतन की प्रक्रिया व धर्म के पतन की प्रक्रिया बहुत पहले शुरू हो चुकी है। हिन्दू धर्म के पतन का चरण इस्लाम के साथ भारत के मुठभेड़ के दौरान निर्णायक चरण तक पहुंच गया था। इसको अंग्रेजी शासन के अपेक्षाकृत संक्षेप रूप में जारी किया गया। इसने स्वतंत्र भारत में एक रूप और ले लिया था। प्रो० सरन ने कहा कि मैंने हिन्दुत्व में वास्तविक नवीनीकरण का कोई स्वरूप/संकेत नहीं देखने को मिला है। प्रो० अवध किशोर सरन ने कहा कि भविष्य में अधिकार के सिवाय कुछ नहीं है, क्योंकि हमारी आँखे झूठी रोशनी से अस्पष्ट है।

प्रो० सरन कहते हैं कि अंग्रेजी काल के प्रारम्भ में हिन्दू धर्म का पुर्नजागरण नहीं हुआ था। क्या हम भारत में हिन्दू धर्म को पुनः जीवित करने का हिंसक प्रयास नहीं देखते हैं। इन्होंने कहा कि भारत हिन्दू राष्ट्रवाद की एक नई धारा से गुजर रहा है, जो भारतीय राजनीति में प्रति धर्म निरपेक्ष ताकतों के सुदृढीकरण को दिखाता है। क्या हाल के कुछ पिछले वर्षों में आधुनिकीकरण प्रक्रियाओं में एक उल्लेखनीय सेट बैक नहीं हुआ है और क्या यह अपराध रूप से हिन्दू धर्म को मजबूत नहीं करता है और इनमें सबसे ऊपर हिन्दू धर्म नहीं दिखाई देता है। प्रो० अवध किशोर सरन ने कहा कि तथ्यों के स्तर पर इन सभी सवालों/प्रश्नों का जवाब/उत्तर बड़े स्तर पर सकारात्मक में है और इस स्तर पर, इसके बारे में एक निश्चित स्पष्ट प्रेरणा है, लेकिन यह किसी भी तरह से इस बयान/बात की वास्तविकता से समझौता नहीं करती है कि समकालीन भारत में कोई जीवित हिन्दू समाज नहीं है।

जानवरों के आदेश के लिए क्या वृत्ति है (जो निष्क्रिय और गैर-आत्म-जागरुक) है, परंपरा मानव (जो सक्रिय और आत्म-जागरुक) है। मनुष्य में भी प्रवृत्त होते हैं, लेकिन जानवरों के विपरीत, वह

अकेले उनके द्वारा नहीं रह सकता है। यह मनुष्य की परिभाषा को पूर्ववत् करता है। मनुष्य विरोधाभास में गिरने के बिना मनुष्य को परिभाषित नहीं कर सकता है। तो मनुष्य वह व्यक्ति है जो खुद को परिभाषित नहीं कर सकता है और फिर भी, जो अपनी आत्म-चेतना के आधार पर आत्म-परिभाषा मांगे बिना जीवित नहीं रह सकता है; दूसरे शब्दों में, आत्म-ज्ञान के लिए उत्सुकता के बिना। इस उत्सुकता, इस खोज, उसका परिमाण का तात्पर्य है; इसकी पूर्ति का विरोधाभास, उसकी अनंतता। परिमाण और अनंतता के बीच तनाव मनुष्य का अस्तित्व है।

मनुष्य, मनुष्य के रूप में परंपरा के बना नहीं जी सकता है, परंपरा का अस्तित्व और निरंतरता केवल मानव अस्तित्व की वास्तविकता है। हालांकि, चूंकि परंपरा मनुष्य के उत्थान भाग्य से चिंतित है, यह मनुष्य से पहले और उससे पहले है, लेकिन अंततः मनुष्य को पार करना होगा, इसलिए वह परंपरा से अधिक है। मनुष्य स्वयं अस्थायी वास्तविकताओं और एक अस्थायी अर्थ के बीच रहता है। उसे किसी भी के साथ पहचाना नहीं जा सकता है। परंपरा, समय और अनंत काल के बीच मध्यस्थ के रूप में, इस जनस की तरह मनुष्य की गुणवत्ता को डुप्लिकेट करता है। इस प्रकार मनुष्य और परंपरा का संबंध **synonymy** में से एक है, लेकिन पारस्परिक कमी के बिना। एक तैयार परंपरा, हालांकि हमेशा अपने आप को इंगित करती है, समय और स्थान में मौजूद है और इसका इतिहास है। हिंदू परंपरा प्रायोगिक परंपरा के शुरुआती फॉर्मूलेशन में से एक है। अन्य सूत्र हैं: यहूदी धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, पारस्परिकता, ईसाई धर्म, इस्लाम और सुदूर पूर्वी और पूर्वी प्राचीन परंपराओं के पास हो सकती है।

हिंदू परंपरा, हालांकि प्रायोगिक परंपरा की एक औपचारिकता पूर्ण और सार्वभौमिक होने का इरादा है। यह सार्वभौमिक परंपराओं और कहानियों, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म या इस्लाम के अन्य तीरकों को सार्वभौमिक और अपने तरीके से पूरा करने से बाहर नहीं करता है। इस बिंदु को यहां स्पष्ट नहीं किया जा सकता है, लेकिन इसका उल्लेख करना महत्वपूर्ण एवं सार्वभौमिक है।

इसकी सार्वभौमिकता और पूर्णता के आधार पर हिंदू परंपरा मनुष्य को ब्रह्मांड इतिहास के सिद्धांत में आधारित जीवन का एक संपूर्ण तरीका प्रदान करती है, जो सभी आवश्यक विवरणों में काम करती है। समाज और इतिहास का एक "पवित्र" विज्ञान हिंदू परंपरा का एक आवश्यक पहलू बन जाता है। उदाहरण के लिए, यह बौद्ध परंपरा का सत्य नहीं है, जिसमें अपने पहले सिद्धांतों से प्राप्त सामाजिक आदेश का अनुमान लगाया गया है। इस प्रकार एक हिंदू होने के लिए, "पवित्र" समाजशास्त्र के आधार पर, सामाजिक आदेश में, निर्धारित तरीके से और निर्धारित स्तर पर, दिल से भाग लेना है। अपने अंतिम लक्ष्य की दिशा में हिंदू की प्रगति करना है। इस प्रकार एक हिंदू होने के लिए, "पवित्र" समाजशास्त्र के आधार पर, सामाजिक आदेश में, निर्धारित तरीके से और निर्धारित स्तर पर, दिल से भाग लेना है। अपने

अंतिम लक्ष्य की दिशा में हिंदू की प्रगति, मुक्ति, अपने जीवन की प्रामाणिकता इस प्रकार प्रतिभागी की ईमानदारी और पारंपरिक सिद्धांतों (पवित्र समाजशास्त्र) के सामाजिक आदेश की संयुक्त रूप से संयुक्त रूप से और एकीकृत रूप से एक कार्य है। दोनों के किसी भी एंटीथेसिस, हालांकि अनुभवी रूप से बाहर नहीं रखा गया है, सैद्धांतिक रूप से मना कर दिया गया है। यह इस प्रकार है कि एक हिंदू होने का कोई तरीका नहीं है, वास्तव में, एक प्रामाणिक मानव जीवन का नेतृत्व करने के लिए यदि कोई पारंपरिक (पवित्र, सामान्य) समाज नहीं है, जिसमें कोई भाग ले सकता है।

इसके लिए एक महत्वपूर्ण अपवाद है। हिंदू परंपरा के धर्म-सामाजिक तरीके के अलावा, एक और बौद्धिक-आध्यात्मिक है। हिंदू परंपरा का बौद्धिक-आध्यात्मिक तरीका मूल रूप से साधना (आध्यात्मिक अभ्यास) है। यह सीधे अंतिम उत्थान, व्यक्ति की सर्वोच्च पहचान और पूर्ण का एहसास करने का प्रयास है। यह अंतिम विश्लेषण में, पारंपरिक सामाजिक आदेश में कुछ भी सर्वोच्च आत्म-ज्ञान का एहसास कर सकता है जो भी किसी की स्थिति है। पूरा सवाल मन की शुद्धता पैदा करने में से एक है। यह अपवाद एक बेहद प्रतिबंधित है। जाहिर है, केवल उन लोगों को जो पहले से ही बेहतर बौद्धिक-आध्यात्मिक गुणों के साथ संपन्न है, आत्म-प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष रहस्यमय-बौद्धिक तरीके का पालन कर सकते हैं। दरअसल, इस स्तर पर यह अब हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म का इस्लाम आदि का सवाल नहीं है, यह आध्यात्मिक विकास की तकनीक का पालन करने का एक सवाल है जो किसी की प्रकृति के लिए उपयुक्त है। हिंदू धर्म की ऐतिहासिक दुनिया में कई अलग-अलग सदन हमेशा उपलब्ध रहे हैं, लेकिन एक हिंदू, पारंपरिक रूप से परंपरा के साथ, बौद्ध, ईसाई या आंतरिक आध्यात्मिक बौद्धिक विकास की इस्लामी तकनीक का पालन कर सकती है। इस प्रकार हिंदू धर्म के सामाजिक, व्यक्तिगत आध्यात्मिक-बौद्धिक मोड केवल कुछ लोगों के लिए उपलब्ध है, यह कहना सच है कि हिंदुओं के विशाल बहुमत के लिए धर्म-सामाजिक मोड का विघटन एक प्रामाणिक के लिए सभी अवसरों की अनुपस्थिति है।

हिंदू परंपरा के दो तरीकों (धर्म-सामाजिक और रहस्यमय-आध्यात्मिक-बौद्धिक-या, अधिक सरल, हिंदू धर्म और हिंदू आध्यात्मिकता) के बीच भेद नया नहीं है; लेकिन इसे अक्सर गलत समझा जाता है। पहली जगह, यह एक विकासवादी या विकासात्मक भेद नहीं है, दो तरीके हिंदू धर्म के ऐतिहासिक विकास में विभिन्न चरणों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते हैं और नहीं कर सकते हैं। दूसरा, वे बराबर मोड़ नहीं; कोई दूसरे को प्रतिस्थापित नहीं कर सकता है।

दोनों के असली संबंधों को समझना बेहद महत्वपूर्ण है। धर्म-सामाजिक और आध्यात्मिक-बौद्धिक तरीके से असमान रूप से संबंधित है; दूसरा तर्कसंगत रूप से स्वतंत्र है जो इस पर निर्भर है

(आध्यात्मिक-बौद्धिक) तर्कसंगत और अस्तित्व में दोनों। इसका तात्पर्य है कि दो मोड दो स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो तार्किक रूप से असंतुलित हैं, लेकिन अस्तित्व में निरंतर हैं। इसमें शामिल विरोधाभास हिंदू परंपरा के लिए आंतरिक है और एक रहस्य का प्रतिनिधित्व करता है। हालांकि, दो तरीकों का विषम संबंध, न्यूनता और श्रेष्ठता के किसी भी रिश्ते को इंगित नहीं करता है, क्योंकि मोड असंतुलित स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तित्व के स्तर पर वे पदानुक्रमित रूप से संबंधित हैं; पहली बार दूसरे की ओर अग्रसर। इस तरह से हिंदू परंपरा अपने आध्यात्मिक-बौद्धिक मोड में बार-बार जीवित है, जबकि इसके धर्म-सामाजिक तरीके में आज यह पूरी तरह से क्षय हो रहा है। हिंदू समाज की मृत्यु या मृत्यु-मृत्यु एक संत, योगी, सिद्ध होने से नहीं रोकती है; लेकिन यह वास्तव में एक संत होने से कम जीवन के सार्थक स्तर तक पहुंचने से रोकता है। हिंदू धर्म की समकालीन स्थिति को समझने के लिए वर्तमान चुनौतियों के लिए हिंदू प्रतिक्रिया की अनौपचारिक प्रकृति को देखने और झूठी चेतना को समझने के लिए, जिसमें समकालीन हिंदू एक दुखद शिकार है, चरम पर एक पिछली नजर-संक्षेप आवश्यक है।

18.3.2 अवध किशोर सरन का साम्प्रदायिकता का सिद्धांत: (Theories of Sacularism by Avadh Kishor Saran)

अंग्रेजी शासन से पहले और मुस्लिम राष्ट्रवाद के आधुनिक राजनीतिक विचारों से बहुत पहले, भारत में मुस्लिम समुदाय की सर्वसम्मति ने सरहिंद और शाह वाली-उल्लाह के शेख अहमद की शुद्ध शिक्षाओं के पक्ष में अकबर और दादा शिकोह के उत्थान को खारिज कर दिया था। सांस्कृतिक नस्लवादी सांस्कृतिक जीत के डिफॉल्ट रूप से मध्यकालीन मुस्लिम भारत में प्रमुख आदर्श था।

यह इस सिद्धांत को साबित करने के लिए स्पष्ट रूप से प्रश्न से बाहर है। कुछ टिप्पणियां हालांकि क्रम में हो सकती हैं। सबसे पहले कबीर और गुरु नानक के बारे में। कबीर स्वयं हिंदू धर्म और इस्लाम दोनों के अपने धर्म-सामाजिक रूप में एक कट्टरपंथी आलोचक थे, जैसे कि वह किसी भी धर्म या संप्रदाय को प्रायोजित करने में दिलचस्पी नहीं रखते थे। वह हिंदू बौद्धिक मार्ग का स्वामी था, जिसमें गूढ़ योगिक साधना की अपनी प्रणाली थी। उसके बाद नामित एक संप्रदाय (कबीर पंथ) उत्पन्न हुआ, लेकिन यह एक अलग कहानी है।

सिख धर्म, जो गुरु नानक की शिक्षाओं से विकसित हुआ, इस्लाम और हिंदू धर्म के संश्लेषण का प्रतिनिधित्व करने के लिए कहा जा सकता है; लेकिन यह उल्लेखनीय है कि एक धर्म बनने के लिए साधना के रूप में इसकी उत्पत्ति से अंततः यह एक हिंसक विरोधी मुस्लिम आंदोलन में विकसित हुआ। दूसरे शब्दों में केवल गूढ़ व्यक्तिगत अहसास के स्तर पर संतों के स्तर और उम्मीदवारों के लिए

उम्मीदवारों का स्तर, कोई वास्तविक संश्लेषण या बातचीत हो सकती है। दूसरी बात यह है कि यह सांस्कृतिक लेकिन धार्मिक नस्लवाद नहीं था, जो मुस्लिम शासन के तहत भारत में प्रमुख आदर्श था। धार्मिक नस्लवाद राहत थी।

18.3.3 अवध किशोर सरन का आधुनिकता का सिद्धांत: (Theories of Modernism by Avadh Kishor Saran)

गाँधी जी ने एक धार्मिक या दार्शनिक प्रणाली तैयार करने से इंकार कर दिया, लेकिन उन्होंने अपने पूरे जीवन में कुछ विचारों के लिए खड़ा किया, जो सार्वभौमिक महत्व के नहीं हैं। इसे स्पष्ट रूप से देखने के लिए, हम चुनौती के प्रकृति और संदर्भ को संक्षेप में, संक्षेप में समीक्षा करें, जिस पर उनके जीवन और विचार एक समर्पित प्रतिक्रिया थे। सीमित दायरे में, दक्षिण अफ्रीका में गाँधी के राजनीतिक करियर की शुरुआत में शुरुआत करना संभव नहीं है; हम भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में किसी भी व्यवस्थित तरीके से अपनी भूमिका की समीक्षा भी नहीं कर सकते हैं। गाँधी जी ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में दृश्य में प्रवेश करते समय भारत के स्वतंत्रता संग्राम की कुछ प्रमुख विशेषताओं को इंगित करना है।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन एक ही समय में कई अलग-अलग चीजें थीं। यह एक सुधार, पुनर्जागरण और राष्ट्रवादी आंदोलन था। साथ ही यह हिंदू राष्ट्रवाद के नाम पर धार्मिक पुनरुत्थान के लिए एक आंदोलन भी था। जब गाँधी भारतीय राजनीतिक दृश्य पर आए, तो गोखले और तिलक का प्रभुत्व था। ईसाई धर्म और आधुनिकता और धर्मनिरपेक्षता की चुनौतियों के हिंदू प्रतिक्रिया का मूल सिद्धांत नीलकंथा सिंड्रोम कहा जा सकता है। यह आंकलन, संश्लेषण, सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व है। यह आंकलन, संश्लेषण, सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व है; इस्लाम के साथ अपने मुठभेड़ में पहले हिंदुओं ने असफल तरीके से इस्तेमाल किया था, यह रणनीति थी। इस अवधि (1800-1947) को आमतौर पर एक महत्वपूर्ण और रचनात्मक अवधि के रूप में माना जाता है। इसे आम तौर पर हिंदू धर्म के पुनर्जागरण कहा जाता है। हालांकि, तथ्य यह है कि आकस्मिकता और संश्लेषण के अस्थिर विचार से परे कोई अग्रिम नहीं किया गया था, यह दिखाता है कि हिंदू चेतना को कितना गहराई से गलत साबित किया गया था।

तिलक राष्ट्रवादी आंदोलन की धर्म-सामाजिक पुनरुत्थानवादी व्याख्या का नेतृत्व करते थे। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं के रूप में गोखले और तिलक के बीच विकसित तनाव, व्यक्तित्वों के संघर्ष से कहीं ज्यादा गहराई से दर्शाता है। इसने राष्ट्रवाद और हिंदू धर्म के विचार और उस मामले के लिए इस्लाम के विचार के बीच आवश्यक असंगतता को दर्शाया। जबकि हिंदू राष्ट्रवाद या इस्लामी राष्ट्रवाद एक विरोधाभास है, जबकि राष्ट्रवाद और हिंदू धर्म दोनों को भारतीय राजनीतिक और सामाजिक

आंदोलन में विरोधी साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा जोर देना जरूरी था। एक स्तर पर, हिंदू धर्म और हिंदू समाज अविभाज्य है और इसलिए किसी को मजबूत या कमजोर करने के लिए दूसरे के लिए गहरा महत्व है। अब हिंदू समाज एक जाति समाज है, एक बहिष्कार है, हालांकि एक हिंदू वास्तव में बाहरी व्यक्ति है और इसलिए उसे अन्य धर्मों में आसानी से लुभाया जा सकता है। इस कारण से कुछ सुधार आवश्यक और जरूरी हो गए, क्योंकि इस समय हिंदू धर्म को न केवल ईसाई धर्म और इस्लाम द्वारा, बल्कि पश्चिमी तर्कवाद से भी धमकी दी जा रही थी। लेकिन हिंदू धर्म के इस सुधार में एक ही समय में पुनरुत्थान होना था, क्योंकि यह एकमात्र तरीका था, सामूहिक पहचान पाने और समाज को गर्व करने और समाज को विदेशी शासन के खिलाफ कार्य करने के गियर करना था। दूसरे शब्दों में, आधुनिक पश्चिमी शाही शासन के तहत भारत के विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में सुधारवादी और आधुनिकतावादी ताकतों को केवल बहुत संकीर्ण सीमाओं के भीतर ही काम कर सकता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद की गोखले की सही गैर-धार्मिक व्याख्या भारतीय स्थिति में गंभीर आंतरिक तनाव विकसित करने के लिए बाध्य थी। हिंदू-मुस्लिम संबंधों के इतिहास के लिए, एक आम ऐतिहासिक अतीत के संदर्भ में वास्तव में राष्ट्रीय पहचान बनाना असंभव था। इसलिए केवल अपील ही नहीं थी, बल्कि शिवाजी के कार्य को पूरा करने के रूप में तिलक के राष्ट्रवाद के विचार में एक प्रकार की अपरिहार्यता – एक व्याख्या थी। जिसका अर्थ केवल हिंदू धर्म के भीतर हो सकता है और मुसलमानों द्वारा खारिज कर दिया जाना चाहिए। भारत के स्वतंत्रता-सह-राष्ट्रवादी आंदोलन में यह आंतरिक विवाद हमारे समय तक सभी तरह से जारी रहा है। गोखले और तिलक के बाद, राष्ट्रवादी आंदोलन के दो असंगत पहलुओं का प्रतिनिधित्व नेहरू और पटेल ने किया था और भले ही पटेल की मृत्यु 1950 में हुई थी, लेकिन आदर्शवादी ताकतों का प्रतिनिधित्व उन्होंने बहुत जिंदा और मजबूत है।

गोखले और तिलक दोनों के तत्काल उत्तराधिकारी, निश्चित रूप से गांधी थे। उन्होंने इस आंतरिक विवाद से निपटने के लिए, या किसी भी दर पर कैसे ठीक किया। इस महत्वपूर्ण चुनौती के लिए गांधी की प्रतिक्रिया तीन गुना थी। उन्होंने मूल रूप से भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के आधार, दायरे और प्रकृति को बदल दिया। गाँधी के साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक पार्टी की पार्टी बन गई। किसी भी दर पर, यह ऊपरी और मध्यम शिक्षित वर्गों तक ही सीमित हो गया।

उन्होंने भारतीय राजनीति के दायरे को सार्वभौमिक बना दिया, जो भारतीय संघर्ष के विश्व-ऐतिहासिक चरित्र पर जोर दे रहा था, जो सभी उत्पीड़कों और शोषण करने वालों के खिलाफ उत्पीड़ित और शोषण के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता था। उन्होंने खुद को एक बेहतर विश्व व्यवस्था के लिए लड़ने के रूप में सोचा और न केवल एक मुक्त भारत के लिए। दरअसल, अपने राजनीतिक कैरियर में तुलनात्मक रूप से देर तक उन्होंने भारत की स्वतंत्रता पर जोर नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने एक सुधारित ब्रिटिश राष्ट्रमंडल

साथी बन सकता था। अपने विचार में, भारतीय आंदोलन राष्ट्रीय लेकिन सार्वभौतिक-मानव-वैश्विक नहीं था और मार्क्सवादी आंदोलन के समानांतर था।

18.3.4 अवध किशोर शरण का मानव की परम्परागत दृष्टि: (Traditional Vision of Man by Avadh Kishor Saran)

पहली संभावना हिंदू परंपरा की ऐतिहासिक, प्रकृति से उत्पन्न होती है। इस्लाम भी प्राथमिकता परंपरा की एक औपचारिकता है। हिंदू से इस्लामी मोड़ में स्थानांतरित करने में एक व्यक्ति अभी भी परंपरा के भीतर रहेगा। इस्लाम के सामूहिक रूपांतरण को हिंदू नवीकरण के समकालीन तरीके के रूप में माना जा सकता है। पुराने और पराजित धर्म के रूप में मरकर इसे प्रायोगिक परंपरा की सबसे छोटी पद्धति के रूप में पुनर्जन्म दिया जा सकता है। इसके लिए भी कारण हिंदू आध्यात्मिकता की बोलीभाषा में खोजा जाना है। यदि सभी धार्मिक परंपराएं उच्चतम स्तर पर आध्यात्मिक रूप से समकक्ष हैं, तो किसी के जन्म के अलावा किसी अन्य परंपरा को स्थानांतरित करने का सवाल उठता नहीं है। इस तरह के कदम के लिए कोई तार्किक आधार नहीं हो सकता है। केवल असाधारण रूप से धार्मिक रूपांतरण के लिए एक वास्तविक मामला हो सकता है, अर्थात् जब कोई यह पता चलता है कि किसी अन्य परंपरा के परिप्रेक्ष्य और आध्यात्मिक संसाधन किसी के जन्म की परंपरा की तुलना में किसी की प्रकृति के लिए कहीं बेहतर अनुकूल है।

मुद्दा यह है कि, मामले की प्रकृति में, रूपांतरण के आधार केवल व्यक्तियों पर लागू होते हैं। इस्लाम में परिवर्तित करने के लिए सामूहिक निर्णय किसी दूसरे पर एक परंपरा की अंतिम श्रेष्ठता को लागू किए बिना नहीं लिया जा सकता है और यह हिंदू स्थिति के साथ असंगत है। ऐतिहासिक संदर्भ में, सामूहिक धर्मांतरण के प्रस्ताव में हिंदू धर्म-सामाजिक परंपरा की मौत और हिंदुओं के लिए परंपरा की एक नई पद्धति के वंशज के साथ इस्लाम की राजनीतिक जीत को समान बनाने की आवश्यकता होगी। यह स्पष्ट है कि इस तरह के फैसले के लिए आध्यात्मिक अधिकार प्रदान करने के लिए ऐतिहासिक स्थिति में कुछ भी नहीं था जो राजनीतिक हार के तर्कसंगतता की तरह नहीं दिख सकता था। इस तरह के एक प्राधिकारी की अनुपस्थिति में ऐसा कोई निर्णय असहनीय होगा।

इसलिए हिंदुओं के लिए वास्तविक विकल्प केवल दूसरे और तीसरे थे। मुस्लिम प्रभुत्व के लंबे इतिहास के दौरान हिंदू इन दोनों के बीच आ गए, तीसरे विकल्प पर स्वाभाविक रूप से काफी हद तक झुकाव, हालांकि वे अंततः सफल नहीं हुए। कुछ संशोधनों के साथ मैं बाद में उल्लेख करूंगा, निम्नलिखित अनुच्छेद अच्छी तरह से स्थिति को बताता है। यहां उठाया गया दृष्टिकोण हिंदुओं द्वारा

मुसलमानों का इलाज केवल एक और जाति के रूप में है। गांवों में मुस्लिमों के बीच हिंदू परंपरागत कानून का अंतःक्रिया, मुगल सम्राटों द्वारा शाही सेवा में रैंक की व्यवस्था के साथ मुगल सम्राटों द्वारा एक हिंदू-मुस्लिम शासक वर्ग और पोलो, हाथी लड़ाई और पोशाक के सामान्य तरीके में आम रुचि, एक लिंगुआ फ्रैंका, उर्दू का विकास, अरबी और फारसी शब्दावली के पास हिंदी व्याकरण का संयोजन, अल-बिरुनी या अबूल फजल जैसे मुस्लिमों द्वारा हिंदू विचारों का अध्ययन। हिंदुओं द्वारा फारसी में इतिहास की रचना।

18.4 अवध किशोर सरन का मानव का परम्परागत चिंतन: (Tradition Thought of Human by Avadh Kishor Saran)

गाँधी भारत में उदार, सभ्य ब्रिटिश शासन द्वारा उत्पादित जीवित थे, यदि उनके मुख्य आध्यात्मिक खोज और मिशन अंतिम विश्लेषण में थे, तो उनके राजनीतिक संघर्ष की एक चतुर हिंदू की सजावट और इसलिए सामाजिक वैज्ञानिक के लिए एक व्याकुलता, अगर गाँधी सिर्फ औपनिवेशिक शासन के तहत हिंदू चरित्र के लिए कुछ अच्छा करने की कोशिश करने वाला एक संभोग करने वाला व्यक्ति, एक शब्द में, यदि गाँधी की विफलता और गाँधीवादी विचार की विफलता समानार्थी हैं, तो गाँधी के जीवन और विचार हमारे समय के लिए अप्रासंगिक है और यदि मैं, एक के लिए इस पर विश्वास किया, तो मुझे गाँधी या गाँधीवाद के बारे में बात करने में दिलचस्पी लेने का कोई कारण नहीं दिखता, जो सत्य है।

हालांकि, तीन गुना गाँधीवादी क्रांति जिसके बारे में हम बात कर रहे हैं, वह विश्व ऐतिहासिक महत्व के साथ एक वास्तविक क्रांति का गठन करता है। अगर गाँधी सिर्फ औपनिवेशिक नेता नहीं थे जो किसी तरह की विश्व प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए हुआ, लेकिन इसके विपरीत एक मनुष्य की नियति के साथ निरंतर और दृढ़ चिंता के साथ सार्वभौमिक चित्र, फिर गाँधी, उनके विचार, जीवन और कार्य द्वारा उठाए गए केंद्रीय प्रश्न, हमारे समय की प्रासंगिकता का सवाल है और यह कुछ भी नहीं है या इससे कम नहीं है। क्या स्वच्छता की आवाज अंधेरे, हमारे समय की राक्षसी शक्तियों के खिलाफ किसी भी मौके पर य कुछ अभी भी है।

यह एक भयानक सवाल है। इस तथ्य के अलावा कि हर किसी की तरह मैं इस सवाल में गहराई से शामिल हूँ। मेरे पास इसका जवाब देने की कोई क्षमता नहीं है। मेरे लिए उपलब्ध शेष जगह में मुझे क्या कहना है, सवाल के विश्लेषण से कहीं ज्यादा कुछ नहीं है। मुझे दोहराने दो, जिन अवलोकनों का पालन किया गया है, वे अभी भी दिए गए प्रश्न का उत्तर देने का कोई दावा नहीं करते हैं। मैं जो कुछ करने का प्रयास करता हूँ वह गाँधीवादी दृष्टिकोण से इस प्रश्न के कुछ प्रभावों का पता लगाने के लिए है। मैंने कहा कि गाँधीवाद की समकालीन प्रासंगिकता के सवाल पूछने के लिए वास्तव

में समाज और अस्तित्व के बारे में सवाल पूछना है। इसे देखने के लिए और अपने उचित परिप्रेक्ष्य में गाँधीवाद की समकालीन प्रासंगिकता के प्रश्न को समझने के लिए, सामान्य समाज के गाँधीवादी दृष्टिकोण के बारे में संक्षेप में बात करना जरूरी एवं महत्वपूर्ण है। गाँधी नैतिक व्यक्ति और अनैतिक समाज के सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। असल में, राजनीतिक विचारों और कार्यों में उनके सबसे महत्वपूर्ण योगदानों में से एक यह विचार है कि नैतिक कार्यवाही और प्रतिरोध के तरीकों को व्यक्ति से सामूहिक विमान में स्थानांतरित किया जा सकता है और राजनीतिक कार्यवाही के शक्तिशाली रूपों के रूप में उपयोग किया जा सकता है। दरअसल, सत्याग्रह की तकनीक इस मूल विचार को मानते हैं। गाँधी का मानना था कि समाज हो सकता है और नैतिक होना चाहिए। क्या उसने यह भी कहा कि उस व्यक्ति को एक व्यक्ति के रूप में नैतिक समाज की आवश्यकता होती है ताकि वह खुद नैतिक हो सके? मुझे लगता है कि यह गाँधी के सामाजिक विचार को समझने में एक मौलिक मुद्दा है। इसलिए हम इसे एक पल सोचे।

समझौते के गुणों में गाँधी न केवल राजनीतिक बल्कि लगभग सभी क्षेत्रों में एक महान आस्तिक थे, यह ईमानदारी और हर राजनीतिक अभिनेता के व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता पर सबसे बड़ा तनाव डालने के लिए उनके राजनीतिक सिद्धांत और अभ्यास का हिस्सा था। इस दृष्टिकोण से अपने विचार और अभ्यास को देखते हुए, ऐसा लगता है कि गाँधी ने एक गैर-नैतिक समाज में नैतिक पुरुषों की संभावना से इंकार नहीं किया था। गाँधी के विचार की इस तरह की व्याख्या के आगे समर्थन में, यह इंगित किया जा सकता है कि गाँधी की राजनीतिक कार्यवाही का अंतिम अभिविन्यास अन्य पार्टी के दिल में बदलाव को प्रभावित करने के लिए था। उनकी सोच और राजनीतिक कार्यवाही के रूपों को उन्होंने विकसित किया, यह तर्क दिया जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन की संचयी प्रक्रिया जा होनी चाहिए। नहीं सोचा था कि व्यक्तिगत रूप से मनुष्य एक गैर-नैतिक, अनैतिक या अन्यायपूर्ण समाज में नैतिक हो सकता है, यानी वह नैतिक व्यक्ति के विरोधी प्रतिद्वंद्विता में विश्वास नहीं करता था और अनैतिक समाज में यह दिखाना चाहता हूँ कि उनके विचार और काम के किसी भी विश्लेषण में सह-अस्तित्व (नैतिक व्यक्ति और अनैतिक समाज) सिद्धांत गंभीरता से भ्रामक होगा।

गाँधी ने व्यक्ति को सबसे आगे व्यक्ति के रूप में रखा था। लेकिन यह सामान्यता के सिद्धांत कहलाए जाने पर ध्यान केंद्रित करने का केवल एक शक्तिशाली और यथार्थवादी तरीका था।

एक सामान्य समाज बस एक समाज है। इसके विरोध में सामूहिक समाज और जन-पुरुष और द्रव्यमान कहा जाता है, या जिसे वर्तमान में "पॉप" संस्कृति कहा जाता है। द्रव्यमान और समाज एक-दूसरे के विपरीत थे। वे आज अतिसंवेदनशील रहे हैं। एक समाज के पास एक समझदार आदेश

और एक समग्र उद्देश्य है। एक द्रव्यमान दोनों की कमी है। यह इस प्रकार है कि समाज के सदस्यों के पास अपनी जगह और कार्य है। एक द्रव्यमान में ऐसा नहीं है।

18.5 सारांश: (Summary)

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि प्रो० ए०के० सरन ने समाजशास्त्र के क्षेत्र में क्या योगदान दिया है। प्रो० अवध किशोर सरन के जीवन परिचय से लेकर उनके एकेडमिक योगदान को समझा गया है। प्रो० सरन ने अपने शोधों से सर्वप्रथम भारत में हिन्दूज्म पर बात की है, जिसको आप समझा जाये कि हिन्दूज्म के बारे में प्रो० सरन की क्या राय है। इस इकाई में उनके साम्प्रदायिकता के सिद्धांत को भी समझा जाये कि इस्लाम/हिन्दू किस तरह से आपस में साम्प्रदायिकता की बात करते हैं। इस इकाई को पढ़ने पर आप प्रो० सरन के आधुनिकता के सिद्धांत को समझा जाये कि प्रो० अवध किशोर सरन के मानव का परम्परावादी दृष्टि क्या है एवं उसके चिंतन का आधार क्या है को समझा जाये कि समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रो० अवध किशोर सरन का महत्वपूर्ण योगदान है।

18.6 शब्दावली: (Glossary)

1. सांस्कृतिक बातचीत : सांस्कृतिक बातचीत से तात्पर्य वह प्रक्रिया है जिसमें किसी संस्कृति के संदर्भ में ही बात की जाये तभी हम उस संस्कृति को समझ सकते हैं।
2. सार्वभौमिक परम्परा : एक ऐसी परम्परा से तात्पर्य है कि जो सब जगह पायी जाती है, वह सार्वभौमिक परम्परा कहलाती है।
3. राष्ट्रवादी आंदोलन : राष्ट्रवादी आंदोलन से तात्पर्य है वह आंदोलन जो सम्पूर्ण राष्ट्र में हो या सम्पूर्ण राष्ट्र की सहभागिता हो राष्ट्रवादी वह आंदोलन कहलाता है।
4. सत्याग्रह : सत्याग्रह से तात्पर्य है कि सत्य के साथ आग्रह से है।
5. दृष्टिकोण : दृष्टिकोण से तात्पर्य सीन थ्रो से है। अगर आप ऊपर से नीचे तक देखने का तरीका/जब व्यक्ति किसी घटना को अपने परिप्रेक्ष्य/दृष्टि कोण से दिखा है तो उसे दृष्टिकोण कहते हैं।

18.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर: (Answer questions of Practice)

प्र०1 प्रो० अवध किशोर सरन का जन्म कब हुआ?

- | | |
|----------|----------|
| (क) 1921 | (ख) 1929 |
| (ग) 1922 | (घ) 1925 |

उत्तर— (ख)

प्र०2 प्रो० अवध किशोर सरन किस विश्वविद्यालय से जुड़े थे?

- | | |
|--------------------------------|----------------------------|
| (क) बम्बई विश्वविद्यालय | (ख) लखनऊ विश्वविद्यालय |
| (ग) चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय | (घ) इलाहाबाद विश्वविद्यालय |

उत्तर— (ख)

प्र०3 प्रो० अवध किशोर सरन की मृत्यु कब हुई?

- | | |
|----------|----------|
| (क) 2005 | (ख) 2004 |
| (ग) 2006 | (घ) 2003 |

उत्तर— (घ)

प्र०4 धर्म निरपेक्षता एवं आधुनिकरण की चुनौतियों को पूरा करने की ताकत है?

- | | |
|-----------------|----------------|
| (क) इस्लाम धर्म | (ख) ईसाई धर्म |
| (ग) हिन्दू धर्म | (घ) सिक्ख धर्म |

उत्तर— (ग)

प्र०5 कौन—सी परम्परा आंतरिक और बाहरी जीवन के बीच किसी भी डिकोटॉमी की अनुमति नहीं देती है?

- | | |
|--------------------|------------------|
| (क) हिन्दू परम्परा | (ख) ईसाई परम्परा |
|--------------------|------------------|

- (ग) मुस्लिम परम्परा (घ) ब्रिटिश परम्परा

उत्तर— (क)

प्र०6 भक्ति आंदोलन को बनाये रखने वाली प्रक्रिया में दूसरे पक्ष थे?

- (क) कट्टरवाद (ख) खाकी और कठोर अनुष्ठान
(ग) संस्कृतिवाद (घ) उपरोक्त सभी

उत्तर— (घ)

प्र०7 ब्रह्म समाज की स्थापना हुई थी?

- (क) 1827 (ख) 1829
(ग) 1828 (घ) 1830

उत्तर— (ग)

प्र०8 निम्न में से कौन-सा धर्म हिन्दू धर्म को अवशोषित या प्रतिस्थापित ना कर सका?

- (क) मुस्लिम धर्म (ख) सिक्ख धर्म
(ग) ईसाई धर्म (घ) पारसी धर्म

उत्तर— (ग)

प्र०9 देव समाज के संस्थापक कौन थे?

- (क) केशव सेन (ख) एस०एन० अग्निहोत्री
(ग) पुष्प सेन (घ) शिव सेन

उत्तर— (ख)

प्र०10 "क्रांसिस ऑफ हिन्दुज्म" पुस्तक किसने लिखी?

- (क) प्रो० सरन (ख) प्रो० डी०पी० मुखर्जी
(ग) प्रो० एल०पी० विद्यार्थी (घ) प्रो० डी०एन० मजूमदार

उत्तर— (क)

प्र०11 कौन-सी पुस्तक/सिद्धांत प्र० अवध किशोर सरन का नहीं है?

- (क) क्रॉसिस ऑफ हिन्दुज्म (ख) गाँधीज्म थ्योरी ऑफ सोसायटी
(ग) कन्टमपरेरी इण्डियाज हिन्दुज्म (घ) होली फैमली

उत्तर- (घ)

प्र०12 **Studies of Comparative Religion** से कौन-जुड़ा है?

- (क) प्र० मजूमदार (ख) प्र० मुखर्जी
(ग) प्र० जे०पी० (घ) प्र० सरन

उत्तर- (घ)

18.8 संदर्भ ग्रंथ की सूची: (References)

1. प्र० अवध किशोर सरन (1971)- "क्रॉसिस ऑफ हिन्दुज्म", वॉल्यूम-5, नं० 2, स्टडीज इन कम्पेरेटिव रिलीजन, स्प्रिंग पब्लिकेशन।
2. प्र० अवध किशोर सरन (1969)- "हमारे समय में समाज के गाँधी के सिद्धांत", वॉल्यूम-3, नं० 4, स्टडीज इन कम्पेरेटिव रिलीजन, ऑलट्रम पब्लिकेशन।

18.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री: (Useful Contain)

1. इंटरनेट से संग्रहित सामग्री।

1.11 निबंधात्मक प्रश्न: (Essay Type Questions)

- प्र०1 प्र० अवध किशोर सरन के जीवन परिचय का संक्षेप वर्णन क्या है?
- प्र०2 प्र० अवध किशोर सरन के क्रॉसिस ऑफ हिन्दुज्म पर क्या विचार है?
- प्र०3 प्र० अवध किशोर सरन के समसामयिक में हिन्दुत्व पर विचार क्या हैं?
- प्र०4 साम्प्रदायिकता पर प्र० अवध किशोर सरन के क्या विचार हैं?
- प्र०5 प्र० अवध किशोर सरन का महात्मा गाँधी के सिद्धांत पर क्या विचार हैं?

प्र०6 मानवता का परम्परागत दृष्टिकोण क्या है?

प्र०7 प्रो० अवध किशोर सरन का मानव का परम्परागत ज्ञान का चिंतन क्या है?